।। श्रीः ।।

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला
433

दानवराजमयप्रणीतं

मयमतम्

भारतीय स्थापत्य एवं शिल्पकला का
प्रामाणिक ग्रन्थ

'शिवार्पिता' हिन्दीव्याख्योपेतम्

भाग-2

व्याख्याकर्त्री
डॉ० (श्रीमती) शैलजा पाण्डेय

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
वाराणसी

मयमतम्—डॉ शैलजा पाण्डेय (1-2 भाग)

ISBN : 978-93-80326-60-3

प्रकाशक :

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
के 37/117 गोपाल मन्दिर लेन, पोस्ट बॉक्स न. 1129
वाराणसी 221001
दूरभाष : (0542) 2335263, 2335264
e-mail : csp_naveen@yahoo.co.in
website : www.chaukhamba.co.in

संस्करण : 2020
₹ 1000 (1-2 भाग सम्पूर्ण)

वितरक :

चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस

4697/2 ग्राउण्ड फ्लोर, गली न. 21-ए
अंसारी रोड़, दरियागंज
नई दिल्ली 110002
दूरभाष : (011) 23286537, (मो.) 09811104365
e-mail : chaukhambapublishinghouse@gmail.com

*

अन्य प्राप्तिस्थान :

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

38 यू. ए. बंगलो रोड़, जवाहर नगर
पोस्ट बॉक्स न. 2113
दिल्ली 110007

*

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बैंक ऑफ बड़ोदा भवन के पीछे)
पोस्ट बॉक्स न. 1069
वाराणसी 221001

मुद्रक :

ए.के. लिथोग्राफर, दिल्ली,

THE
CHAUKHAMBA SURBHARATI GRANTHMALA
433

MAYAMATAM

Indian Treatise on

HOUSING ARCHITECTURE & ICONOGRAPHY

Translated in Hindi by

Dr (Mrs) Shailja Pandey

Chaukhamba Surbharati Prakashan
Varanasi 01 (India)

Publishers :

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
(Oriental Publishers & Distributors)
K. 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
Varanasi 221001
Tel. : 2335263
e-mail : csp_naveen@yahoo.co.in

Also can be had from :

CHAUKHAMBA PUBLISHING HOUSE
4697/2, Ground Floor
Gali No. 21-A, Ansari Road
Daryaganj, New Delhi 110002
Tel. : 32996391
e-mail : chaukhamba_neeraj@yahoo.com

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U.A. Bungalow Road, Jawahar Nagar
Post Box No. 2113
Delhi 110007

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
Chowk (Behind to Bank of Baroda Building)
Post Box No. 1069
Varanasi 221001

षड्विंशोऽध्यायः

(शालाविधानम्)

अथ षड्विंशोऽध्यायः

(शालाविधानम्)

तैतलानां द्विजादीनां वर्णानां वासयोग्यकाः ।
एकद्वित्रिचतुस्सप्तदशशालाश्च षड्विधाः ॥१॥

शाला का विधान—देवों एवं ब्राह्मण आदि वर्णों के निवास के अनुकूल एक, दो, तीन, चार, सात एवं दस शाला वाले छः गृह होते हैं।।१।।

त्यक्ताजांशाः पुरोऽलिन्द्रसंयुक्ताः पिण्डभिन्नकाः ।
तासां हस्तैरयुग्मैश्च युग्मैर्विस्तारमायतम् ॥२॥
उत्सेधं चाप्यलङ्कारं संक्षेपाद् वक्ष्यतेऽधुना ।

ये भवन ब्रह्मा के भाग को छोड़कर निर्मित, सम्मुख अलिन्द से युक्त एवं भिन्न पिण्ड वाले (आपस में अलग) होते हैं। इनकी चौड़ाई, लम्बाई एवं ऊँचाई सम अथवा विषम हस्त माप में होती है। इनका वर्णन तथा इनके अलंकरणों का वर्णन संक्षेप में अब किया जाता है।।२।।

❋ शालाविस्तारः ❋

त्रिचतुर्हस्तमारभ्य द्विद्विहस्तविवर्धनात् ॥३॥
त्रयोविंशच्चतुर्विंशद्धस्तान्ता रुद्रसंख्यया ।
एकशाला विशालाश्च ते सर्वे परिकीर्तिताः ॥४॥

शाला की चौड़ाई—यदि भवन एक शाला से निर्मित हो तो उसके विस्तार के ग्यारह माप बनते हैं। ये माप तीन हाथ से प्रारम्भ होकर तेईस हाथ तक तथा चार हाथ से लेकर चौबीस हाथ तक दो-दो हाथ बढ़ाते हुये लिये जाते हैं।।३-४।।

सप्ताष्टहस्तादारभ्य द्वौ द्वौ हस्तौ प्रवर्धयेत् ।
एकोनविंशद्धस्तान्तं विंशद्धस्तं तु सप्तधाः ॥५॥
द्विशालायास्त्रिशालाया वैपुल्याः परिकीर्तिताः ।

यदि भवन द्विशाल या त्रिशाल हो तो उसका सात प्रकार का विस्तार सम्भव है। यह माप सात या आठ हाथ से प्रारम्भ होकर उन्नीस (सात से उन्नीस) या बीस हाथ

(आठ से बीस) तक क्रमशः दो-दो हाथ बढ़ाते हुये जाता है।।५।।

❋ शालायामः ❋

विस्तारात् पादमाधिक्यमर्धाधिकमथापि वा ॥६॥
त्रिपादं द्विगुणायामं तस्मात् पादार्धकं त्रिपात् ।
त्रिगुणान्तप्रमाणं चैवायामाश्चाष्टधा स्मृताः ॥७॥

शाला की लम्बाई—शाला की लम्बाई उसकी चौड़ाई से सवा भाग, डेढ़ भाग पौने दो या चौड़ाई की दुगुनी होनी चाहिये। इसमें चतुर्थांश, आधा, तीन चौथाई या चौड़ाई का तीन गुना माप अधिकतम बढ़ाया जा सकता है। इस प्रकार लम्बाई का माप आठ प्रकार से लिया जाता है।।६-७।।

सर्वे दैर्घ्या सुराणां तु द्विगुणं तु नृणां मतम् ।
द्विगुणाद्यायताः सर्वे विहाराश्रमवासिनाम् ॥८॥
सर्वेषां सङ्गमोपेते द्विगुणाद्यायतं मतम् ।

ये सभी लम्बाई के माप देवालय के लिये अनुकूल होते हैं। सामान्य जन के लिये दुगुनी लम्बाई अनुकूल होती है। सभी विहार एवं आश्रम-वासियों (साधु-संन्यासियों) के निवास के लिये दुगुनी या उससे अधिक लम्बाई उपयुक्त होती है। जिस आवास में सभी प्रकार के व्यक्ति एक साथ निवास करते हों, वहाँ भवन की लम्बाई (बराबर या) चौड़ाई की दुगुनी होनी चाहिये।।८।।

❋ शालोत्सेधः ❋

विस्तारसममुत्सेधं सपादं सार्धमेव वा ॥९॥
त्रिपादं द्विगुणं चैव उत्सेधं पञ्चधा मतम् ।
शान्तिकं पौष्टिकं नैव जयदं धनमद्भुतम् ॥१०॥

शाला की ऊँचाई—शाला की ऊँचाई पाँच प्रकार की होती है—विस्तार के बराबर ऊँचाई, सवा भाग अधिक ऊँचाई, डेढ़ भाग अधिक ऊँचाई, तीन चौथाई अधिक या चौड़ाई की दुगुनी ऊँचाई। इनके नाम क्रमशः शान्तिक, पौष्टिक, जयद, धन एवं अद्भुत होते हैं।।९-१०।।

❋ एकशालासामान्यलक्षणम् ❋

तैतलानां द्विजादीनां पाषण्ड्याश्रमिणामपि ।
हस्त्यश्वरथयौधानां यागहोमादिशिल्पिनाम् ॥११॥

एकशाल गृह के सामान्य लक्षण—एकशाल भवन देवों, ब्राह्मण आदि

वर्णों, पाखण्डियों (नास्तिकों), आश्रमवासियों, गज, अश्व एवं रथ के योद्धाओं, याग-होम आदि करने वालों तथा रूप के द्वारा आजीविका चलाने वाली स्त्रियों (नर्तकी, अभिनेत्री आदि) के लिये प्रशस्त होता है।।११।।

एकशाला प्रशस्ता स्यात् स्त्रीणां रूपोपजीविनाम् ।
दण्डकं मौलिकं चैव स्वस्तिकं च चतुर्मुखम् ।।१२।।

सामान्यं तैतलादीनां पूर्वोक्तानां चतुष्टयम् ।
एकादिबहुभूम्यन्तं खण्डहर्म्यादिमण्डितम् ।।१३।।

दण्डक, मौलिक, स्वस्तिक एवं चतुर्मुख संज्ञक चार प्रकार के एकशाल भवन देवों एवं पूर्व-वर्णित जनों के लिये अनुकूल होते हैं। ये भवन एक तल से प्रारम्भ होकर अनेक तलपर्यन्त तथा खण्ड-हर्म्य आदि अवयवों से सुसज्जित होते हैं।

अर्पितानर्पितं चैव प्रासादवदलंकृतम् ।
पुरतः पार्श्वयोः पृष्ठेऽलिन्द्रं कुर्यात् समन्ततः ।।१४।।

नराणां च सुराणां च पाषण्ड्याश्रमिणां तथा ।
पुरतो मण्डपोपेतं पृष्ठे पार्श्वे तु भद्रकम् ।।१५।।

मध्ये वासं तु देवानां पार्श्वे वासो भवेन्नृणाम् ।

ये अर्पित एवं अनर्पित दो प्रकार के होते हैं तथा इनकी सज्जा देवालय के समान होती है। इनके सामने दोनों पार्श्वों एवं पृष्ठभाग में चारो ओर अलिन्द्र (गलियारा, मार्ग) का निर्माण करना चाहिये। मनुष्यों, देवों, पाखण्डियों एवं आश्रमवासियों के भवन के सामने मण्डप तथा पीछे एवं दोनों पार्श्वों में भद्र (पोर्च) का निर्माण करना चाहिये। मध्य भाग में देवों का तथा पार्श्व भाग में मनुष्यों का आवास होना चाहिये।

प्रागवागपरोदीच्यां पृथक्शाला प्रधानिका ।।१६।।

सर्वेषामपि जातीनां सामान्यमिति विद्यते ।
दक्षिणे पश्चिमे चैव शाला वैशेषिका नृणाम् ।।१७।।

प्रागुदक्प्रागवाक्प्रत्यगुदग्गेहे तु लाङ्गले ।
स्वामिनो मरणं स्याद्धि श्रियै याम्ये प्रतीच्यपि ।।१८।।

प्रधान रूप से एकशाल भवन पूर्व, दक्षिण, पश्चिम या उत्तर में स्थित होता है। यह सभी जातियों के लिये अनुकूल होता है। विशेष रूप से मनुष्यों के लिये दक्षिण या पश्चिम में शाला निर्मित होनी चाहिये। यदि शाला लाङ्गल हो (दो कोणों को मिलाकर लाङ्गल या हल के आकार में निर्मित शाला) तो यह पूर्व और उत्तर-पूर्व

एवं दक्षिण या पश्चिम एवं उत्तर में निर्मित हो सकती है। इनका परिणाम गृहस्वामी की मृत्यु है। समृद्धि की कामना करने वाले को अपनी शाला दक्षिण-पश्चिम में निर्मित करनी चाहिये।।१६-१८।।

अवाक्प्रत्यगुदक् सम्पत् प्रागवागपरो जयः ।
दक्षिणे पश्चिमे हीनास्त्रिशालाः सर्वदोषकाः ।।१९।।

दक्षिण, पश्चिम एवं उत्तर की शाला सम्पत्ति तथा पूर्व, दक्षिण एवं पश्चिम की शाला जय प्रदान करती है। दक्षिण एवं पश्चिम से रहित त्रिशाल-गृह सर्वदोषकारक होता है।।१९।।

लाङ्गलं गणिकादीनां शूर्पमुग्रोपजीविनाम् ।
लाङ्गले चैव शूर्पे च पृथक्शालासु सर्वथा ।।२०।।
शालाविरहितस्थाने कुड्यद्वारं प्रयोजयेत् ।
एकसन्धि द्विशालायां त्रिशालायां द्विसन्धिकम् ।।२१।।
उक्तानां दण्डकादीनां विन्यासं च वदाम्यहम् ।

लाङ्गल शालगृह गणिका आदि के लिये एवं शूर्पशाल-गृह (श्लोक १९) उग्र कर्म द्वारा आजीविका चलाने वालों के लिये अनुकूल होता है। लाङ्गल एवं शूर्प गृहों में तथा सभी पृथक् शाला-गृहों में शालाविहीन स्थानों पर द्वार से युक्त भित्ति निर्मित करनी चाहिये। द्विशाल गृह में एक सन्धि तथा त्रिशाल गृह में दो सन्धियाँ होती हैं। अब पूर्ववर्णित दण्डक आदि गृहों के विन्यास का वर्णन करता हूँ।।२०-२१।।

प्रथमदण्डकम्

विस्तारं तु त्रिधा कृत्वा चतुर्भागं तदायतम् ।।२२।।
द्विभागं गृहविस्तारं वारमेकांशमग्रतः ।
आस्यं तत्खण्डदण्डाभं वासं सर्वजनार्हकम् ।।२३।।
एतद् दण्डकमित्युक्तं शालानां क्षुद्ररूपकम् ।

प्रथम दण्डक—प्रथम दण्डक में विस्तार के तीन भाग एवं लम्बाई के चार भाग करने चाहिये। इनमें गृह की चौड़ाई दो भाग से तथा एक भाग से सामने वार (मार्ग, बरामदा) निर्मित करना चाहिये। इसका मुखभाग खण्डित दण्ड के समान होना चाहिये। यह आवास सभी लोगों के लिये अनुकूल होता है। शालभवन के सबसे छोटे रूप वाले इस भवन की संज्ञा दण्डक होती है।।२२-२३।।

❋ द्वितीयदण्डकम् ❋

विस्तारे चतुरंशे तु षडंशाधिकमायतम् ॥२४॥
द्विभागं गृहविस्तारं द्व्यंशं चङ्क्रमणं भवेत् ।
शेषं पूर्ववदुद्दिष्टं दण्डकं तदुदीरितम् ॥२५॥

द्वितीय दण्डक—इस भवन में चौड़ाई के चार भाग तथा लम्बाई के छः भाग करने चाहिये। गृह का विस्तार दो भाग से एवं चंक्रमण (चलने का मार्ग, बरामदा) दो भाग से करना चाहिये। इसके अन्य भाग पूर्वोक्त रीति से निर्मित करने चाहिये। इस भवन को दण्डक कहते हैं।।२४-२५।।

गृहायते नन्दविभागभाजिते शरांशकैर्दक्षिणभागमाधिकम् ।
अदक्षिणे बन्धपदं तदन्तरे विधीयतां द्वारमथैकशालके ॥२६॥

भवन की द्वार-व्यवस्था—गृह की लम्बाई के नौ भाग करने चाहिये। इसमें पाँच भाग दाहिने हाथ एवं तीन भाग बाँयें हाथ में छोड़ देना चाहिये। इन दोनों छोड़े गये भाग के मध्य में (अर्थात् एक भाग में) द्वार की स्थापना करनी चाहिये।।२६।।

केचिद् द्वारं मध्यसूत्रस्य वामे
चाहुः शिष्टं मानुषाणां निवासे ।
सर्वास्वेतास्वत्र शालासु शाला-
भागे कुर्यादायते द्वारमेकम् ॥२७॥

कुछ विद्वानों के मतानुसार मध्य सूत्र (अर्थात् लम्बाई के मध्य बिन्दु) से वाम भाग में मनुष्यों के आवास में द्वार की स्थापना होनी चाहिये। सभी भवनों में शाला की लम्बाई के एक भाग में द्वार की स्थापना करनी चाहिये।।२७।।

❋ तृतीयदण्डकम् ❋

त्रिभागं गृहविस्तारं द्विगुणं तस्य दीर्घकम् ।
भागं चङ्क्रमणोपेतं मध्यमे सकभित्तिकम् ॥२८॥
कुल्याभद्वारसंयुक्तं शेषं पूर्ववदाचरेत् ।
वंशमूले तु वासं स्याद्वंशाग्रे रङ्गमीरितम् ॥२९॥

तृतीय दण्डक—गृह की चौड़ाई के तीन भाग तथा लम्बाई के उसके दुगुने भाग (छः भाग) करने चाहिये। एक भाग से चंक्रमण तथा मध्य भाग को भित्ति से युक्त करना चाहिये। यह कुल्या के समान (मुड़ा हुआ) द्वार से युक्त होता है तथा शेष भाग पहले के समान निर्मित होता है। वंश (मध्य-काष्ठ) के नीचे गृह होना चाहिये

एवं इसके अग्र भाग में रङ्गस्थल निर्मित होना चाहिये।।२८-२९।।

सर्वतः परितः कुड्यं रङ्गं पादसमन्वितम्।
भागेन पुरतोऽलिन्द्रं पार्श्वयोः पृष्ठतस्तु वा ॥३०॥
प्रासादवदलङ्कुर्याद् दण्डकं तदुदीरितम्।

इसके चारो ओर भित्ति होनी चाहिये एवं रङ्गस्थल स्तम्भों से युक्त होना चाहिये। एक भाग से सामने, दोनों पार्श्वों में या पिछले भाग में अलिन्द्र निर्मित होना चाहिये। इसका अलंकरण मन्दिर के सदृश करना चाहिये तथा इसकी संज्ञा दण्डक होती है।

चतुर्थदण्डकम्

तदेव मध्यमे रङ्गं वासौ वंशाग्रमूलयोः ॥३१॥
युक्त्यान्तःस्तम्भसंयुक्तं वंशद्वारं न योजयेत्।
शेषं पूर्ववदुद्दिष्टं दण्डकं तदुदीरितम् ॥३२॥

चतुर्थ दण्डक—इस भवन के मध्य भाग में रङ्गस्थल होता है तथा वंश (मध्य में लगे वंशसंज्ञक काष्ठ) के नीचे एवं ऊपर कक्ष होता है। भीतरी भाग में स्तम्भों का संयोजन आवश्यकतानुसार होता है। वंश के सामने द्वार नहीं होना चाहिये। इस भवन के अन्य भाग पूर्ववर्णित रीति से निर्मित होते हैं। इस शाल गृह की संज्ञा दण्डक होती है।।३१-३२।।

पञ्चमदण्डकम्

षडंशं विस्तृतं चैव द्वादशांशं तदायतम्।
भागेन परितोऽलिन्द्रं शालाभागं द्विभागतः ॥३३॥
तत्समं पुरतोऽलिन्द्रं युक्त्यान्तःस्तम्भसंयुतम्।
पार्श्वयोर्द्वित्रिभागेन शालायामे द्विवासकौ ॥३४॥

पाँचवाँ दण्डक—इस भवन के विस्तार के छः भाग एवं लम्बाई के बारह भाग होते हैं। एक भाग से चारो ओर अलिन्द्र निर्मित होता है तथा दो भाग से शाला-निर्माण होता है। इसके सामने इसी के बराबर भाग से अलिन्द्र का निर्माण होता है। भीतरी स्तम्भों का संयोजन आवश्यकतानुसार करना चाहिये। शाला की लम्बाई के अनुसार दोनों पार्श्वों में दो कक्ष निर्मित होते हैं, जो दो भाग चौड़े एवं तीन भाग लम्बे होते हैं।।३३-३४।।

द्विचतुर्भागविस्तारायामं मध्ये तु रङ्गकम्।
दण्डकं तदपि प्रोक्तं शेषं पूर्ववदाचरेत् ॥३५॥

मध्य भाग में दो भाग चौड़ा एवं चार भाग लम्बा रङ्गस्थल होता है। शेष अवयव पहले के अनुसार निर्मित होते हैं। इस भवन को दण्डक कहते हैं।।३५।।

व्यासेऽग्निभूतपातालनन्दांशेंऽशद्विकत्रिभिः ।
चतुर्भिः पुरतोऽलिन्द्रं स्यादेकद्वित्रिशालके ।।३६।।

अलिन्द का प्रमाण—द्विशाल एवं त्रिशाल भवन में सामने के अलिन्द्र के विस्तार का माप भवन के तीन भाग में एक भाग, पाँच भाग में दो भाग, सात भाग में तीन भाग और नौ भाग में चार भाग होता है।।३६।।

एतत् सर्वं दण्डकं जातिरूपं
देवानां भूतैतलानां नृपाणाम् ।
पाषण्डादीनां विशां शूद्रकाणां
योधानां रूपाङ्गनानां प्रशस्तम् ।।३७।।

ये सभी दण्डकगृह जातिशैली के होते हैं। ये देवों, ब्राह्मणों, राजाओं, नास्तिकों, वैश्यों, शूद्रों, युद्ध करने वालों तथा रूप के माध्यम से आजीविका चलाने वाली स्त्रियों के लिये प्रशस्त कहे गये हैं।।३७।।

❋ मौलिकम् ❋

एतदेव सभाकारशिरोयुक्तं तु मौलिकम् ।
तदेव काननोपेतं मौलिकं तदुदीरितम् ।।३८।।
छन्दं पूर्वोदितानां तु सम्मतं नैव योषिताम् ।

मौलिक—मौलिक भवन का शीर्षभाग सभा के आकार का (बीच में उठा हुआ) होता है। अथवा यह कानन (विशिष्ट शीर्ष रचना) से युक्त होता है। इसे मौलिक भवन कहते हैं। यह पूर्व-वर्णित लोगों के लिये प्रशस्त होता है; किन्तु स्त्रियों (सम्भवतः रूप के द्वारा आजीविका वाली स्त्रियों) के लिये उपयुक्त नहीं होता है।।३८।।

❋ स्वस्तिकम् ❋

तदेव पुरतोभद्रं चतुर्द्व्यंशेन निर्गमम् ।।३९।।
वासं नेत्रत्रयोपेतं स्वस्तिकं तद् विकल्पकम् ।
देवभूसुरभूपेषु योग्यं नैवान्त्यजन्मनाम् ।।४०।।

स्वस्तिक—भवन के अग्र भाग में चार भाग से भद्र निर्मित करना चाहिये तथा निर्गम (आगे निकला भाग) दो भाग माप का होना चाहिये। आवास तीन नेत्रों (विशिष्ट निर्मिति) से युक्त होता है। इस भवन को स्वस्तिक कहते हैं एवं यह विकल्प जाति

का भवन है। यह देवों, ब्राह्मणों एवं राजाओं के लिये प्रशस्त है; किन्तु अन्त्यजों (शूद्रों) के लिये उपयुक्त नहीं होता है।।३९-४०।।

✵ चतुर्मुखम् ✵

तदेव मुखभद्रं तु यथा तत् पृष्ठतो भवेत्।
क्रकरीवंशमूलाग्रं चतुर्नेत्रसमन्वितम् ॥४१॥

अधिष्ठानादिवर्गाढ्यं प्रासादवदलङ्कृतम्।
नासिकातोरणाद्यङ्गैर्युक्तं वातायनादिभिः ॥४२॥

चतुर्मुखमिदं नाम्ना आभासमिति कल्पितम्।
देवद्विजनृपाणां च सम्मतं सम्पदां पदम् ॥४३॥

चतुर्मुख—भवन के सम्मुख जिस प्रकार का भद्र होता है, उसी प्रकार पीछे भी (भद्र) होता है। क्रकरी तथा वंश के मूल भाग एवं अग्र भाग में चार नेत्र होते हैं। यह अधिष्ठान आदि अंगों से युक्त होता है। यह देवालय के समान अलंकृत और नासिका, तोरण, वातायन आदि अंगों से युक्त होता है। यह भवन चतुर्मुखसंज्ञक होता है तथा आभास शैली में निर्मित होता है। यह देवों, ब्राह्मणों और राजाओं के अनुकूल एवं सम्पत्ति प्रदान करने वाला होता है।।४१-४३।।

✵ दण्डकादिसामान्यलक्षणम् ✵

एकादिपञ्चभूम्यन्तं दण्डकादिचतुष्टयम्।
स्वामिचित्तवशान्न्यस्तस्थानविन्याससंयुतम् ॥४४॥

दण्डक आदि भवनों के सामान्य लक्षण—दण्डक आदि चारो भवनों को एक तल से लेकर पाँच तल तक रक्खा जा सकता है। इसका स्थान एवं अंगों का विन्यास गृहस्वामी की इच्छा के अनुसार करना चाहिये।।४४।।

हस्त्यश्ववृषभादीनां प्रत्येकं वासपङ्क्तिकम्।
सद्विचूलित्रिचूल्यङ्गं सप्रग्रीवं सतल्पकम् ॥४५॥

सपादं सार्धमुत्सेधं तत्समं वाऽभिधीयते।
दण्डकं मौलिकं चैव यथेष्टदिशि वारणम् ॥४६॥

गज, अश्व एवं वृषभ आदि प्रत्येक पशु का आवास पृथक् पंक्ति में होना चाहिये। यह दो या तीन चूलियों (सम्भवतः खिड़की) से युक्त, प्रग्रीव (मुखशाला) से युक्त एवं तल्प (द्वार) से युक्त होता है। इसकी ऊँचाई (विस्तार के) बराबर, सवा भाग या डेढ़ भाग अधिक होनी चाहिये। दण्डक एवं मौलिक भवन के वारण (द्वार) इच्छित दिशा में निर्मित होने चाहिये।।४५-४६।।

❁ द्विशालाविधानम् ❁

❁ चतुर्मुखम् ❁

चतुरस्रे द्विशाले तु धर्मभागविभाजिते ।
भागेन बाह्यतो वारं द्व्यंशं गेहविशालकम् ॥४७॥

प्रमुखे वारमेकांशं मण्डपं नवभागिकम् ।
तदावृत्त्यैकतोऽलिन्द्रं शेषं चङ्क्रमणं भवेत् ॥४८॥

चतुर्मुख द्विशाल भवन—चौकोर द्विशाल गृह के दस भाग कर एक भाग से बाहर का मार्ग एवं दो भाग से गृह का विस्तार रखना चाहिये। सामने एक भाग से वार (मार्ग) एवं नौ भाग से मण्डप होना चाहिये। उसको घेरते हुये एक भाग से अलिन्द एवं शेष भाग से चंक्रमण का निर्माण करना चाहिये।।४७-४८।।

मुखगेहं बहिर्वारं लाङ्गलाभं यथा तथा ।
मुखचङ्क्रमणाद्यन्तर्विन्यासं चतुरस्रकम् ॥४९॥

गृह का मुखभाग एवं बाहरी मार्ग लांगल के आकार का होना चाहिये, किन्तु मुखभाग पर स्थित चंक्रमण (गलियारा) तथा भीतरी विन्यास चौकोर होना चाहिये।।४९।।

मध्यरङ्गसमायुक्तं मुख्यगेहं द्विवासकम् ।
बाह्यचङ्क्रमणाद् बाह्ये मुखभद्रं द्विभागतः ॥५०॥

चतुर्मुखसमायुक्तं द्विशालं तच्चतुर्मुखम् ।

दो कक्षों से निर्मित मुख्य भवन मध्य भाग में रङ्गस्थल से युक्त होना चाहिये। बाह्य चंक्रमण के बाहर दो भाग से मुखभद्र (सामने का पोर्च) निर्मित होना चाहिये। चार मुख (द्वार) से युक्त इस द्विशाल भवन की संज्ञा चतुर्मुख है।।५०।।

❁ स्वस्तिकम् ❁

तदेव पञ्चभागान्तमेकशालामुखायतम् ॥५१॥

द्वारं पूर्ववदुद्दिष्टं सर्वालङ्कारशोभितम् ।
मण्डपं बाह्यतोऽलिन्द्रं सायतं प्रविधीयते ॥५२॥

नेत्रत्रयसमायुक्तं दीर्घ्या सायतभद्रकम् ।
एतत् स्वस्तिकमित्युक्तं शेषं पूर्ववदाचरेत् ॥५३॥

स्वस्तिक—इस द्विशाल भवन के एक शाला की लम्बाई के पाँच भाग करने चाहिये। द्वार का निर्माण पूर्ववर्णित नियमों के अनुसार होना चाहिये एवं यह भवन सभी अलंकरणों से युक्त होना चाहिये। मण्डप एवं बाहरी अलिन्द्र आयताकार होना चाहिये।

इसमें तीन नेत्र होते हैं और लम्बाई में इसमें आयताकार भद्र होता है। इस भवन को स्वस्तिक कहते हैं। शेष अवयवों का निर्माण पहले के समान करना चाहिये।

दण्डवक्त्रम्

तदेव द्विमुखोपेतं दण्डवक्त्रमिति स्मृतम्।
सावकाशाङ्गणोपेतं मण्डपेन विना यदि ॥५४॥

शालाविरहितस्थाने कुड्यद्वारं प्रयोजयेत्।
एकानेकतलोपेतं कुर्याद् रूपोपजीविनाम् ॥५५॥

दण्डवक्त्र—दण्डवक्त्र भवन दो मुखों से युक्त कहा गया है। यदि मण्डप न निर्मित हो, तो वहाँ खुला आँगन होता है। जिस स्थान पर कक्ष न निर्मित हो वहाँ भित्ति एवं द्वार निर्मित होता है। रूप से आजीविका चलाने वाली स्त्रियों के भवन एक तल से लेकर अनेक तल से युक्त निर्मित करना चाहिये।।५४-५५।।

त्रिशालाविधानम्

मेरुकान्तम्

व्यासायामेऽष्टधर्मांशे त्रिशाले द्व्यंशमङ्गणम्।
त्रिपार्श्वेऽलिन्द्रमेकांशं द्व्यंशं शालाविशालकम् ॥५६॥

तीन शाला वाले मेरुकान्त भवन—इस त्रिशाल भवन की चौड़ाई के आठ भाग एवं लम्बाई के १० भाग करने चाहिये। इसमें दो भाग से आँगन, तीन ओर एक भाग से अलिन्द्र तथा दो भाग से शाला का विस्तार रखना चाहिये।।५६।।

त्यक्तमध्यमपादं तु द्व्यंशं तन्मुखभद्रकम्।
षडाननतलोपेतं सप्रच्छन्नमजाङ्कणम् ॥५७॥

एकानेकतलोपेतं प्रासादवदलङ्कृतम्।
द्वारादि पूर्ववन्मेरुकान्तं नामोग्रजीविनाम् ॥५८॥

इस भवन का मुखभद्र दो भाग से निर्मित होता है, जिसके मध्य भाग में स्तम्भ नहीं होता है। इसके मुख (द्वार) की संख्या छः होती है तथा मध्य भाग में निर्मित आँगन छत से ढँका होता है। एक या अनेक तल से युक्त यह भवन अलंकरणों से सुसज्जित होता है। द्वार आदि की व्यवस्था पहले के समान होती है। मेरुकान्त संज्ञक यह भवन उग्रजीवियों (कठोर कार्य करने वालों) के लिये उपयुक्त होता है।

मौलिभद्रम्

व्यासे पङ्क्त्यर्कभागे तु पार्श्वयोः पृष्ठतस्तु वा।
वारमेकांशतः कुर्याद् द्व्यंशं गेहविशालकम् ॥५९॥

प्रमुखे वारमेकांशं द्व्यंशं तन्मध्यमाङ्गणम्।
परितो वारमेकांशं सप्रच्छन्नमथापि वा ॥६०॥
तारद्व्यंशाधिकायामं चतुराननमण्डितम्।
प्रमुखे तु चतुर्द्व्यंशं निर्गतद्वारभद्रकम् ॥६१॥
पार्श्वयोर्वापरे मुख्यवासं स्याद् द्विललाटकम्।
मौलिभद्रमिदं नाम्ना शेषं पूर्ववदाचरेत् ॥६२॥

मौलिभद्र—इस भवन की चौड़ाई के दस भाग एवं लम्बाई के बारह भाग करने चाहिये। दोनों पार्श्वों एवं पिछले भाग में एक भाग से वार (मार्ग) एवं दो भाग से गृह का विस्तार रखना चाहिये। मुखभाग पर एक भाग से (मार्ग, भद्र) होता है, जिसके मध्य भाग में दो भाग से आँगन होता है। चारो ओर एक भाग से वार निर्मित होता है, जो ढका हो सकता है। इसकी लम्बाई चौड़ाई से दो भाग अधिक होती है एवं इसके चार मुख होते हैं। मुखभाग पर (द्वार के सामने) द्वारभद्रक (द्वार पर बना पोर्च) होता है, जिसका माप चार भाग होता है एवं दो भाग बाहर निकला होता है। इस भवन के दोनों पार्श्वों में या पृष्ठभाग में दो ललाट (मुख, निकलने का मार्ग) निर्मित होते हैं। इसके शेष अंग पूर्ववर्णित विधि से निर्मित होते हैं। इस भवन की संज्ञा मौलिभद्र होती है।।५९-६२।।

❋ त्रिशालकप्रमाणम् ❋

त्रिपञ्चषोडशारत्नितारा द्वौ द्वौ प्रवर्धयेत्।
आचतुर्विंशतेर्व्यासः पञ्चधोक्तस्त्रिशालके ॥६३॥

त्रिशाल भवन का प्रमाण—इस भवन के पाँच विस्तारमाप होते हैं। यह पन्द्रह हाथ से प्रारम्भ होकर (तेईस हाथ पर्यन्त) या सोंलह हाथ से प्रारम्भ होकर चौबीस हाथ पर्यन्त जाता है। इनके मध्य क्रमशः दो-दो हाथ माप की वृद्धि की जाती है।।६३।।

❋ चतुःशालाविधानम् ❋

❋ चतुःशालाप्रमाणभेदानि ❋

नवपङ्क्तिकरादेवं द्विद्विहस्तविवर्धनात्।
आपञ्चोत्तरषष्ट्यन्तं षट्षष्ट्यन्तं तु विस्तृतम् ॥६४॥
चतुःशालाविशालाः स्युर्नवविंशतिसंख्यया।
आद्यद्विसप्तमानं तु संवृताङ्गणकान्वितम् ॥६५॥
विवृताङ्गणकं शेषं कुर्याद् यत्र यथोचितम्।

चार शालाओं वाले भवन की योजना—चतु:शाल भवन का विस्तार उन्तीस प्रकार के मान से युक्त होता है। इसका विस्तार नौ हाथ से प्रारम्भ होकर पौंसठ हाथ तक तथा दस हाथ से छाछठ हाथ तक जाता है। इसके मध्य के मापों में क्रमशः दो-दो हाथ की वृद्धि की जाती है। प्रथम चौदह माप के भवनों में आँगन ढका होता है। शेष में आँगन को आवश्यकतानुसार खुला रक्खा जाता है।।६४-६५।।

आद्यं तु सर्वतोभद्रं द्वितीयं वर्धमानकम् ।।६६।।
तृतीयं स्वस्तिकं चैव नन्द्यावर्तं चतुर्थकम् ।
पञ्चमं रुचकं विद्याच्छालानामभिधानकम् ।।६७।।

इनमें प्रथम भवन की संज्ञा सर्वतोभद्र, द्वितीय की वर्धमान, तृतीय की स्वस्तिक, चतुर्थ की नन्द्यावर्त एवं पाँचवें की रुचक होती है।।६६-६७।।

✵ चतुःशालादैर्घ्यगणनम् ✵

तत्तदात्तविशालेन बीजं स्याच्चतुरस्रकम् ।
आत्तव्यासाद् द्विहस्तेनाधिक्यजात्यायतं मतम् ।।६८।।
चतुर्हस्ताधिकं छन्दं विकल्पं षट्कराधिकम् ।
आभासमष्टहस्तेनाधिक्यं दैर्घ्यमिति स्मृतम् ।।६९।।

चतुश्शाल भवन के लम्बाई की गणना—चौकोर चतुश्शाल भवन का माप चौड़ाई के लिये दिये गये माप के अनुसार होता है। चौड़ाई के माप से जब लम्बाई दो हाथ अधिक होती है तब वह भवन जाति शैली का होता है। चार हाथ अधिक होने पर छन्द शैली का एवं छः हाथ अधिक होने पर विकल्प शैली का होता है। चौड़ाई से आठ हाथ अधिक लम्बाई होने पर भवन आभास शैली का होता है।

अथ वैशेषिकायाममात्तांशेन विधीयते ।
आत्तव्यासांशके जातिर्द्विभागेनाधिकायतम् ।।७०।।
चतुरंशाधिकं बीजाद् दीर्घं छन्दमिति स्मृतम् ।
षडंशदीर्घं विपुलाद् विकल्पमिति कथ्यते ।।७१।।
अष्टभागाधिकं व्यासादाभासं स्यात्तदायतम् ।
षडंशेन विशाले तु नेष्टमाभासदैर्घ्यकम् ।।७२।।

जब चौड़ाई के माप से लम्बाई का माप निश्चित करना हो तो लम्बाई की गणना विशिष्ट रीति से करनी चाहिये। चौड़ाई के माप से दो भाग अधिक रखने पर जाति शैली होती है। यदि चौड़ाई के मानक माप से लम्बाई चार भाग अधिक हो तो वह

छन्द जाति की होती है। चौड़ाई से छ: भाग अधिक लम्बा होने पर विकल्प शैली होती है। चौड़ाई से लम्बाई जब आठ भाग अधिक होती है, तब वहाँ आभास शैली होती है। जब लम्बाई छ: भाग अधिक हो तो वहाँ आभास शैली प्रशस्त नहीं होती है।

✵ प्रथमसर्वतोभद्रम् ✵

सर्वतोभद्रविन्यासं संक्षेपाद् वक्ष्यतेऽधुना।
वासव्यासेऽष्टभागे तु द्विभागं मध्यमाङ्गणम् ॥७३॥

तदर्धं परितो मार्गं द्विभागं गेहविस्तृतम्।
चतुष्कर्णे सभास्थानं सभामध्ये तु वारकम् ॥७४॥

प्रथम सर्वतोभद्र—अब सर्वतोभद्र भवन का विन्यास संक्षेप में वर्णित किया जा रहा है। भवन की चौड़ाई के आठ भाग करने पर मध्य भाग में दो भाग से आँगन होना चाहिये। इसके चारो ओर उसके आधे माप से मार्ग होना चाहिये तथा दो भाग से गृह का विस्तार रखना चाहिये। चारो कोणों पर सभास्थल (बाहरी कक्ष) एवं मध्य भाग में वार (मार्ग) होना चाहिये।।७३-७४।।

पूर्वापरगृहे वाऽपि स्वाम्यावासं प्रशस्यते।
सर्वतः कुड्यसंयुक्तं कुल्याभद्वारसंयुतम् ॥७५॥

बहिर्जालककुड्यं स्यादन्तर्निर्वृत्तपादकम्।
पक्षशालांशके द्वारं मुखं पूर्वेऽपरत्र वा ॥७६॥

गृहस्वामी का आवास भवन के पूर्व या पश्चिम में होना चाहिये। यह चारो ओर भित्ति से युक्त हो तथा कुल्या के सदृश (थोड़ा मुड़े हुये) द्वार से युक्त हो। भित्ति में बाहर की ओर जालक (झरोखा) निर्मित हो तथा भीतर की ओर स्तम्भ निर्मित होने चाहिये। प्रधान द्वार पक्ष (लम्बाई की ओर) के एक भाग से निर्मित होना चाहिये। मुखभाग पूर्व या पश्चिम में होना चाहिये।।७५-७६।।

जालकं च कवाटं च बाह्येऽबाह्ये तथैव च।
क्रकरीवंशशालाग्रमष्टास्यं भद्रसंयुतम् ॥७७॥

चतुर्दिग्भद्रसंयुक्तमेकैकार्धसभामुखम्।
अन्तर्भद्रसभा कर्णे शङ्खसङ्ख़लुपान्वितम् ॥७८॥

इस भवन में जालक एवं कपाट बाहर एवं भीतर होना चाहिये। इसमें क्रकरी वंश (आपस में क्रास बनाते हुये बीम) हों एवं आठ मुखभाग भद्र से युक्त हों। भवन के चार मुखों के मध्य भाग में अर्ध सभा के आकार के कक्ष होने चाहिये। कोणों में भीतर की ओर अन्तभद्रसभा (कक्ष) हों, जिसके छत शंख के आकार की लुपा से युक्त हों।

मुखपट्टिकयोपेतमर्धकोटिसमन्वितम् ।
परितो दण्डिकावारं शिखरे नीव्रपट्टिका ॥७९॥

प्रस्तरं नासिकायुक्तमन्तरप्रस्तरान्वितम् ।
समकायं समद्वारं समवंशं तु कारयेत् ॥८०॥

(शिखरभाग पर) मुखपट्टिका अर्धकोटि (लुपा) से युक्त होती है। चारो ओर दण्डिकावार (निर्माण-विशेष) होना चाहिये तथा शिखरभाग पर नीव्रपट्टिका (जिस पट्टी पर लुपाओं का निचला सिरा दृढ़ किया जाता है) होती है। प्रस्तर नासिकाओं से युक्त तथा अन्तर प्रस्तर से युक्त होते हैं। लुपायें, द्वार एवं वंश (बीम) (चारो भवनों के) समान होने चाहिये।।७९-८०।।

विपरीतमनर्थाय भवेदेव न संशयः ।
मुक्तमुक्ततलं तत्र मण्डपक्रिययान्वितम् ॥८१॥

एकानेकतलोपेतं प्रासादवदलंकृतम् ।
देवद्विजनृपाणां च वासयोग्यं सनातनम् ॥८२॥

इसके विपरीत अनर्थकारक ही होता है, इसमें सन्देह नहीं है। सभी खुले स्थल मण्डप के समान होते हैं। ये एक तल या अनेक तलों से युक्त होते हैं एवं देवालय के समान सुसज्जित होते हैं। ये भवन सदा देवों, ब्राह्मणों एवं राजाओं के निवास के अनुकूल होते हैं।।८१-८२।।

सर्वासामपि शालानामेतत् सामान्यमीरितम् ।
हस्तच्छेदप्रवृद्ध्या वा हान्या पूर्णं यथा कुरु ॥८३॥

हस्त-माप की वृद्धि करते हुये या घटाते हुये जिस प्रकार माप पूर्ण हो, उस प्रकार माप करना चाहिये। यह नियम सभी भवनों पर समान रूप से सम्मत है।।८३।।

क्रकरीकर्णवक्त्रान्ता शालावासचतुष्टया ।
अष्टास्योर्ध्वतलग्रीवा सस्थूपिसमवंशका ॥८४॥

भद्रोर्ध्वमुखकूटं स्यादन्तर्द्वारं बहिर्मुखम् ।
एतत्तु सर्वतोभद्रं राज्ञामावासयोग्यकम् ॥८५॥

चारो भवनों के अन्त में निर्मित मुख दक्षिण भाग में होने चाहिये। इन आठ मुखों के ऊपरी तल पर ग्रीवा स्तूपिका एवं वंश से युक्त होनी चाहिये। वंश के ऊपर स्तूपिका समान होनी चाहिये। भद्र के ऊपर मुखभाग पर कूट होना चाहिये तथा भीतरी द्वार बाहर की ओर मुख किये हुये होना चाहिये। यह सर्वतोभद्र संज्ञक भवन राजाओं के निवास के योग्य होता है।।८४-८५।।

✵ द्वितीयसर्वतोभद्रम् ✵

वासव्यासेऽर्कभागे तु द्विभागं मध्यमाङ्गणम् ।
परितो मार्गमेकांशमन्तर्वारमथांशकम् ॥८६॥
शालाव्यासं द्विभागेन बाह्यवारं तदर्धकम् ।
एतत्तु सर्वतोभद्रमलङ्कारादि पूर्ववत् ॥८७॥

सर्वतोभद्र का दूसरा भेद—भवन की चौड़ाई के बारह भाग करने चाहिये। मध्य भाग में दो भाग में आँगन होना चाहिये। उसके चारो ओर एक भाग से मार्ग निर्मित होना चाहिये। एक भाग से भीतर का वार (बरामदा) निर्मित होता है। शाला का विस्तार दो भाग से एवं बाहरी मार्ग उसके आधे माप से निर्मित होना चाहिये। इस भवन की संज्ञा सर्वतोभद्र है तथा इसकी सजावट पूर्व-वर्णित रीति से करनी चाहिये।

✵ तृतीयसर्वतोभद्रम् ✵

व्यासे द्विसप्तभागे तु द्विभागं मध्यमाङ्गणम् ।
परितो मार्गमेकांशं द्व्यंशं शालाविशालकम् ॥८८॥
तदर्धं बाह्यवारं तु पृथुवारं द्विभागतः ।
चतुष्टयानां शालानां शिखरं तु सभाकृति ॥८९॥

सर्वतोभद्र का तीसरा भेद—भवन की चौड़ाई के चौदह भाग करने चाहिये। दो भाग से मध्य आँगन तथा उसके चारो ओर एक भाग से मार्ग निर्मित होना चाहिये। दो भाग से शाला का विस्तार तथा उसके आधे माप से बाहरी मार्ग निर्मित करना चाहिये। बड़ा मार्ग दो भाग से होना चाहिये। चारो शालाओं का शीर्ष भाग सभा के आकार का (बीच में उठा हुआ) होना चाहिये।।८८-८९।।

मध्ये नासिसमायुक्तं भद्रप्रभृति पूर्ववत् ।
सर्वासामपि शालानां त्यजेन्मध्यस्थपादकम् ॥९०॥
त्रितलादितलोपेतं खण्डहर्म्यादिमण्डितम् ।
एतत्तु सर्वतोभद्रं देवद्विजमहीभृताम् ॥९१॥

मध्य भाग में नासिकायें होनी चाहिये। भद्र आदि का निर्माण पहले के समान होना चाहिये। सभी कक्षों के मध्य भाग में स्तम्भ नहीं स्थापित करना चाहिये। इस भवन में (कम से कम) तीन तल होते हैं एवं यह खण्डहर्म्य आदि भागों से सुसज्जित होता है। इस भवन को सर्वतोभद्र कहते हैं एवं यह देवों, ब्राह्मणों तथा राजाओं के लिये प्रशस्त होता है।।९०-९१।।

✺ चतुर्थसर्वतोभद्रम् ✺

व्यासे द्विरष्टभागे तु चतुरंशमथाङ्गणम् ।
पूर्ववद् योजयेच्छेषं प्रहीणशिखराकृति ॥९२॥

सर्वतोभद्र का चतुर्थ प्रकार—भवन की चौड़ाई के सोलह भाग करने चाहिये। मध्य आँगन चार भाग से होना चाहिये। शेष अंगों को पहले के समान रखना चाहिये। शिखर की आकृति (पूर्ववर्णित आकृतियों से) हीन होती है।।९२।।

नासिकातोरणाद्यङ्गैर्जालकैश्च समन्वितम् ।
त्रितलादितलोपेतं प्रासादवदलङ्कृतम् ॥९३॥

तले तले तु सोपानं मध्ये मध्ये तु मण्डपम् ।
विवृतं वाङ्गणं सर्वं युक्त्यानुक्तं प्रयोजयेत् ॥९४॥

एतत्तु सर्वतोभद्रं नृपाणामधिवासकम् ।

यह नासिका, तोरण आदि अंगों एवं जालकों (झरोखों) से युक्त होता है। तीन तल आदि तलों से युक्त तथा देवालय के सदृश सुसज्जित होता है। इसमें प्रत्येक तल पर सीढ़ी एवं बीच-बीच में मण्डप होता है अथवा खुला आँगन होता है। जिनकी चर्चा नहीं की गई है, उनका भी आवश्यकतानुसार निर्माण करना चाहिये। इस भवन की संज्ञा सर्वतोभद्र है। यह राजाओं के निवास के लिये प्रशस्त होता है।।९३-९४।।

✺ पञ्चमसर्वतोभद्रम् ✺

अष्टादशांशके व्यासे द्विभागं मध्यमाङ्गणम् ॥९५॥

परितो मार्गमेकांशमन्तर्वारमथांशकम् ।
शालाव्यासं द्विभागेन बाह्यवारं तदर्धकम् ॥९६॥

द्विभागं पृथुवारं स्याद् बाह्यवारमथांशकम् ।
शालाकारं सभाकारं यथा वा शिखरं तु तत् ॥९७॥

सर्वतोभद्र का पञ्चम प्रकार—भवन की चौड़ाई के अट्ठारह भाग करने चाहिये। दो भाग से मध्य-आँगन, चारो ओर एक भाग से मार्ग, एक भाग से भीतरी मार्ग, दो भाग से शाला का विस्तार, उसके आधे भाग से बाहर का मार्ग या गलियारा, दो भाग से विस्तृत मार्ग तथा उसके बाहर एक भाग से मार्ग निर्मित होना चाहिये। भवन का शीर्ष शाला के आकार का (सीधा) या सभा के आकार का (उभरा हुआ) होना चाहिये।।९५-९७।।

त्रितलादितलोपेतं खण्डहर्म्यादिमण्डितम् ।
पूर्ववद् योजयेच्छेषं यथायुक्ति यथारुचि ॥९८॥

स्वामिचित्तवशान्न्यस्तस्थानविन्याससंयुतम् ।
अन्यत् प्रासादवत् सर्वमलङ्कुर्याद् विचक्षणः ।
एतत्तु सर्वतोभद्रं नृपेशभवनं स्मृतम् ॥९९॥

यह तीन तल आदि (अनेक तलों) से युक्त, खण्ड-हर्म्य आदि से सुशोभित होता है। शेष अवयवों का संयोजन आवश्यकतानुसार एवं इच्छानुसार करना चाहिये। भवन के स्थानों की निर्माण-योजना गृहस्वामी के मन के अनुसार करनी चाहिये। इसके अलङ्करण बुद्धिमान व्यक्ति को देवालय के समान करना चाहिये। यह सर्वतोभद्र भवन होता है एवं इसे राजभवन कहा गया है।।९८-९९।।

❋ विमानादिलक्षणम् ❋

शालाजातिस्तच्छिरोयुग्विमानं
मुण्डाकारं शीर्षकं हर्म्यमेतत् ।
नानाकाराङ्गान्वितानेकभूमा
मालाबद्धा स्यात्तु सा मालिकाख्या ॥१००॥

व्यासे षड्वस्वंशकेऽष्टाभिरंशा-
कैर्मन्वंशैर्दैर्घ्यकं तद्वदंशे ।
एकद्व्यंशं मुख्यवासस्य वारं
दैर्घ्याष्टांशैर्वारमेकञ्च सार्धम् ॥१०१॥

विमान आदि के लक्षण—जिस भवन का शीर्ष-भाग शाला के आकार का होता है, उसे **विमान** कहते हैं। जिस भवन का शीर्ष-भाग मुण्ड के आकार का होता है, उसे **हर्म्य** कहते हैं। विभिन्न आकार के अवयवों से युक्त, अनेक तल से युक्त तथा माला के समान एक-दूसरे से संयुक्त भवन की संज्ञा **मालिका** होती है।

जब भवन की चौड़ाई के छ: या आठ भाग किये जाते हैं तब लम्बाई आठ भाग, बारह भाग या चौदह भाग रक्खी जानी चाहिये। प्रधान भवन का मार्ग एक भाग या दो भाग विस्तृत होना चाहिये। लम्बाई यदि आठ भाग से हो तो वार (मार्ग, बरामदा) एक भाग या डेढ़ भाग से होना चाहिये।।१००-१०१।।

❋ प्रथमवर्धमानम् ❋

वर्धमानस्य विन्यासं वक्ष्ये संक्षेपतः क्रमात् ॥१०२॥

व्यासे षडंशके तत्र द्व्यंशं शालाविशालकम् ।
द्विभागमङ्गणं बाह्ये सर्वतः कुड्यसंयुतम् ॥१०३॥

वर्धमान भवन का प्रथम प्रकार—अब मैं संक्षेप में क्रमशः वर्धमान शालगृह

के विन्यास के बारे में कहता हूँ। गृह की चौड़ाई के छः भाग करने चाहिये। उसमें दो भाग से भवन का विस्तार रखना चाहिये। दो भाग से आँगन रखना चाहिये। बाहर चारो ओर भित्ति होनी चाहिये।।१०२-१०३।।

प्रमुखे मुख्यवासस्य भागं चङ्क्रमणं भवेत्।
मध्यभित्तिसमायुक्तं कुल्याभद्वारसंयुतम्॥१०४॥

प्रधान आवास के मुखभाग (पूर्व में) पर एक भाग से मार्ग बनाना चाहिये। यह भवन मध्य भाग में भित्ति तथा कुल्या के सदृश (मोड़ वाले) द्वार से युक्त होता है।।१०४।।

अपरे दीर्घशाला स्याद् द्विनेत्रोत्तुङ्गसंयुता।
ईषन्निम्नोन्नता प्राचीशाला दीर्घाननान्विता॥१०५॥
पक्षके द्वे तु शाले तु वंशनिम्ने विवक्त्रके।
एकैकदिशि निष्क्रान्तं द्विभागं मध्यवारणम्॥१०६॥

पश्चिम भाग में एक लम्बी शाला हो, जो दो नेत्रों से युक्त हो एवं ऊँची हो। पूर्व दिशा की शाला (पश्चिम की शाला की अपेक्षा) कुछ नीची एवं लम्बी तथा सामने मुख (द्वार) से युक्त होती है। बगल के दो कक्ष मुखविहीन एवं नीचे (अन्य वंशों की अपेक्षा कम ऊँचे) वंश (लट्ट) से युक्त होते हैं। मध्य भाग में दो अंशों से वारण (पोर्च) होता है, जिसके एक-एक दिशा में निष्क्रान्त (निर्गम, बाहर निकला भाग) निर्मित होता है।।१०५-१०६।।

ह्रस्वपादसमायुक्तं यथालङ्कारकं तु यत्।
शङ्खावर्तं तु सोपानं कर्णे द्व्यंशेन योजयेत्॥१०७॥

इसमें छोटे स्तम्भ इस प्रकार निर्मित होते हैं, जिससे यह सुन्दर लगे। कोने पर दो भाग से शंखावर्त आकृति का सोपान निर्मित होता है।।१०७।।

नासिकातोरणस्तम्भजालकादिविराजितम्।
प्रासादवदलङ्कुर्यादनुक्तं चात्र पूर्ववत्॥१०८॥
एकद्वित्रितलोपेतं नोदग्द्वारं महीभृताम्।

इस भवन को नासिका, तोरण, स्तम्भ तथा जालकों आदि से सुसज्जित करना चाहिये। इसकी सजावट मन्दिर के समान उन अवयवों से भी करनी चाहिये, जिनका यहाँ वर्णन नहीं है; किन्तु पहले (देवालय के प्रसंग में) किया गया है। यह भवन एक, दो या तीन तल से युक्त होता है। यदि इसका निर्माण राजा के लिये किया जाय तो उत्तर दिशा में द्वार नहीं होना चाहिये।।१०८।।

❋ द्वितीयवर्धमानम् ❋

तदेवांशेन वारं तु विवृतस्तम्भभित्तिकम् ॥१०९॥
मुख्यगेहार्धदाक्षिण्ये मूलवंशान्ततोन्नतम् ।
यथेष्टदिशि भद्राङ्गं यथेष्टदिशि वासकम् ॥११०॥

वर्धमान शालगृह का दूसरा भेद—उसी प्रकार एक भाग से स्तम्भ एवं भित्ति से युक्त खुला मार्ग बनाना चाहिये। मुख्य भवन दक्षिण भाग में होता है एवं इसका मूल वंश ऊँचा होता है। इसका भद्र (पोर्च) इच्छानुसार किसी भी दिशा में एवं गृह इच्छित दिशा में निर्मित करना चाहिये।।१०९-११०।।

दण्डिकावारसंयुक्तं प्रासादवदलङ्कृतम् ।
द्वारतोरणनासीभिस्तथा वेदिकजालकैः ॥१११॥
यथारुचि यथाशोभं तथा कुर्याद् विचक्षणः ।
एतत्तु वर्धमानं स्याच्चतुर्णामपि शंसितम् ॥११२॥

यह भवन दण्डिका-मार्ग से युक्त एवं देवालय के समान द्वार, तोरण, नासियों, वेदिकाओं एवं जालकों से सुसज्जित होता है। बुद्धिमान (स्थपति को) इच्छानुसार, जिस प्रकार सुन्दर लगे, उस प्रकार भवन का निर्माण करना चाहिये। इस भवन को वर्धमान कहते हैं। यह शालगृह चारो वर्णों के लिये प्रशस्त होता है।।१११-११२।।

❋ तृतीयवर्धमानम् ❋

व्यासे दशांशके तत्र द्विभागमङ्गणं भवेत् ।
तद्बहिर्वारमेकांशं शालाव्यासं द्विभागिकम् ॥११३॥
तदर्धं तु बहिर्वारं द्वारं भद्रसमन्वितम् ।
कूटकोष्ठादिसर्वाङ्गं यथायुक्ति यथारुचि ॥११४॥
एतत्तु वर्धमानं स्याच्चतुर्णामपि शंसितम् ।

वर्धमान भवन का तीसरा प्रकार—गृह के विस्तार के दस भाग करने चाहिये। उसमें दो भाग से आँगन होना चाहिये तथा उसके बाहर एक भाग से वार (मार्ग) एवं दो भाग से शाल-भवन की चौड़ाई रखनी चाहिये। उसके आधे माप से बाहरी मार्ग निर्मित करना चाहिये। द्वार को भद्र से युक्त निर्मित करना चाहिये। कूट एवं कोष्ठ आदि सभी अवयवों का निर्माण आवश्यकतानुसार एवं इच्छानुसार करना चाहिये। यह शाल-भवन वर्धमान संज्ञक होता है। यह चारो वर्णों के लिये उपयुक्त बताया गया है।।११३-११४।।

❋ चतुर्थवर्धमानम् ❋

अथवा तद्बहिर्वारं द्व्यंशं व्यासे दशांशके ॥११५॥

मुक्तमुक्ततलं तत्र मण्डपक्रिययान्वितम्।
यथोचितमलङ्कारमुपर्युपरि तत्क्रमात् ॥११६॥

वर्धमान का चतुर्थ प्रकार—अथवा पूरे भवन की चौड़ाई के दस भाग करने पर दो भाग से बाहरी वार (मार्ग, बरामदा) निर्मित करना चाहिये। प्रत्येक तल के खुले स्थान को मण्डप के समान बनाना चाहिये। ऊपरी तलों पर क्रमानुसार उचित सजावट करनी चाहिये।।११५-११६।।

मुखभद्रं विना तत्र शेषं प्रागुक्तवन्नये।
समं त्रिपादमर्धं वा मुखमण्डपमिष्यते ॥११७॥

मुख-भाग पर भद्र को छोड़कर शेष अवयवों को जैसा पहले कहा गया है, वैसा ही निर्मित करना चाहिये। मुख-मण्डप को भवन के समान, तीन चौथाई या भवन के आधे माप से रखना चाहिये।।११७।।

शेषं प्रागुक्तवन्नेयं विप्रादीनां प्रशंसितम्।
त्रिचतुष्पञ्चभौमं स्याद् वर्धमानं मनोहरम् ॥११८॥

शेष भागों को पूर्ववर्णित रीति में निर्मित करना चाहिये। यह शालभवन ब्राह्मण आदि सभी वर्णों के लिये प्रशस्त होता है। सुन्दर वर्धमान भवन तीन, चार या पाँच तल का होता है।।११८।।

❋ पञ्चमवर्धमानम् ❋

द्वादशांशे विशाले तु द्विभागं मध्यमाङ्गणम्।
शालाव्यासं द्विभागं तद्बाह्यालिन्द्रं द्विभागतः ॥११९॥

तद्बहिर्वारमेकांशं स्तम्भं कुड्यं यथोचितम्।
पार्श्वयोस्तद्बहिर्द्व्यंशैकांशविस्तारनिर्गमा ॥१२०॥

वर्धमान भवन का पाँचवाँ प्रकार—भवन के विस्तार के बारह भाग करने पर दो भाग से मध्य आँगन दो भाग से शाला का विस्तार तथा उसके बाहर दो भाग से अलिन्द्र होता है। उसके बाहर एक भाग से वार तथा आवश्यकतानुसार स्तम्भ एवं भित्ति निर्मित करना चाहिये। दोनों पार्श्वों में उसके बाहर दो भाग विस्तृत एक भाग से निर्गम (से युक्त भद्र) होना चाहिये।।११९-१२०।।

सवारमुखपङ्क्त्यङ्गनेत्रशालाविनिर्गता।
पुरतः पार्श्वयोर्नेत्रशालेऽलिन्द्रात्तु पूर्ववत् ॥१२१॥

तयोर्मध्ये चतुर्द्व्यंशे द्वितले वाःस्थलान्वितम् ।
वारं स्यात् त्रितले तत्र तत्र शाला चतुःस्थले ॥१२२॥

उसके साथ वार (बरामदा), मुख-पट्टी आदि अवयव, नेत्रशाला निर्मित होते हैं। सामने एवं दोनों पार्श्वों में नेत्रशाला एवं अलिन्द पहले के समान होने चाहिये। इन दोनों के मध्य दूसरे तल पर आठ भाग लम्बा जल-स्थल होना चाहिये। तीसरे तल पर वार (मार्ग, बरामदा) निर्मित हो तथा चौथे तल में उन-उन स्थलों पर कक्ष होना चाहिये।

अपरे कर्णकूटे द्वे कर्तव्ये पञ्चभूमिके ।
तयोर्मध्ये चतुर्द्व्यंशे षट्तलेऽर्धसभामुखम् ॥१२३॥

पार्श्वयोर्नेत्रकूटे द्वे मुख्यधाम्नस्तु षट्तले ।
पुरतः कर्णकूटे द्वे सोपानं स्यात्तदन्तरे ॥१२४॥

तत्पुरः कर्णकूटे द्वे कर्तव्ये तु चतुःस्थले ।
शाला पञ्चतले कार्या दैर्घ्ये तत्रैव पञ्जरे ॥१२५॥

द्विभागविपुलायामे कर्तव्ये पार्श्र्वयोस्तुते ।

पाँचवें तल में दोनों कोनों पर कर्णकूट (कक्ष) निर्मित करना चाहिये। छठवें तल पर उन दोनों कर्ण-कूटों के मध्य में उसके आधे माप का सभा-मुख बनाना चाहिये। छठवें तल पर ही प्रधान भवन के दोनों पार्श्वों में दो नेत्रकूट होने चाहिये। उन दोनों के मध्य में सामने सोपान निर्मित करना चाहिये। चौथे तल पर सामने की ओर दो कर्णकूट निर्मित करना चाहिये। पाँचवें तल पर एक भाग से लम्बाई में शाला एवं वहीं पर दोनों पार्श्वों में पञ्जर निर्मित होना चाहिये, जिसकी लम्बाई एवं चौड़ाई दो भाग हो।।१२३-१२५।।

अङ्गणं मण्डपं चोर्ध्वे तदूर्ध्वे स्थलपादयुक् ॥१२६॥
द्वारनेत्रसमायुक्तं वामे सोपानसंयुतम् ।
मुखचंक्रमणे गुह्यसोपानं स्यात् तले तले ॥१२७॥

(प्रथम तल में) आँगन एवं उसके ऊपर मण्डप तथा उसके ऊपर स्तम्भों से युक्त स्थान होना चाहिये। यह द्वार एवं नेत्र (सम्भवतः दूसरे द्वार) से युक्त होता है एवं इसके वाम भाग में सोपान निर्मित होता है। प्रत्येक तल पर मुख-चङ्क्रमण (सामने का बरामदा) से छिपी सीढ़ियाँ होनी चाहिये।।१२६-१२७।।

पृष्ठेऽष्टद्व्यंशविस्तारनिर्गमं भद्रशोभितम् ।
तदंशे पार्श्वयोर्वक्त्रे वारं स्यात् त्रितलान्वितम् ॥१२८॥

द्व्यंशैकांशैकविस्तारनिर्गमा पञ्चभूमिके।
सवारमुखपट्ट्यङ्गपृष्ठशालाविनिर्गता ॥१२९॥

पार्श्वयोर्द्विद्विभागेन कूटौ द्वौ तु चतुःस्थले।
परितो मण्डपं तत्र वासव्याससमन्वितम् ॥१३०॥

द्वितलोपरि भद्राङ्गी शाला नेत्रसमन्विता।

पिछले भाग में आठ भाग चौड़ा एवं दो भाग निर्गम से युक्त भद्र होता है। उसके दोनों पार्श्व-मुखों पर एक भाग से तीन तलों से युक्त वार (बरामदा) निर्मित होता है। पाँचवें तल पर दो भाग विस्तृत एवं एक भाग बाहर की ओर निकला निर्गम निर्मित होता है। पृष्ठभाग की शाला वार, मुखपट्टी आदि अंगों से युक्त होती है। चौथे तल पर दोनों पार्श्वों में दो-दो भाग माप से दो कूट निर्मित होते हैं। उसके चारो ओर भवन की चौड़ाई के माप से मण्डप निर्मित होता है। दूसरे तल पर नेत्र से युक्त भद्राङ्गी शाला (भद्र के समान शाला) निर्मित होती है।।१२८-१३०।।

वास्तूनां तु चतुर्मध्ये चतुःसूत्रं प्रसारयेत्।
तत्तत्सूत्रस्य वामे तु द्वारं विधिवदाचरेत् ॥१३१॥

मध्ये स्तम्भं तु संस्थाप्य पार्श्वे द्वारयुतं तु तत्।
कर्तव्यं विधिना तज्ज्ञैः कम्पद्वारं तदुच्यते ॥१३२॥

प्रासादवदलङ्कुर्यात् स्तम्भाद्यङ्गं तले तले।
सप्तभौमं नृपेशस्य मन्दिरं वर्धमानकम् ॥१३३॥

चार मुख वाले वास्तु (गृह) के मध्य चार सूत्र (रेखायें) खींचनी चाहिये। उन सूत्रों के वाम भाग में नियम के अनुसार द्वार बनाना चाहिये। मध्य भाग में स्तम्भ स्थापित कर पार्श्व भाग में द्वार बनाना चाहिये। इस प्रकार से निर्मित द्वार को विद्वान् कम्पद्वार कहते हैं। प्रत्येक तल पर स्तम्भ आदि अवयवों द्वारा देवालय की भाँति अलंकरण करना चाहिये। सात तल वाला यह राजभवन वर्धमान कहलाता है।

❋ षष्ठवर्धमानम् ❋

चतुर्दशांशके व्यासे द्विभागं मध्यमाङ्गणम्।
परितो वारमेकांशं शालाव्यासं द्विभागिकम् ॥१३४॥

द्विभागं पृथुवारं स्याद् बाह्यवारं तदर्धकम्।
परितो दण्डिकावारं मुष्टिबन्धादिशोभितम् ॥१३५॥

वर्धमान भवन का छठवाँ प्रकार—भवन के विस्तार के चौदह भाग करने पर

दो भाग से मध्य भाग में आँगन, उसके चारो ओर एक भाग से वार (मार्ग) तथा दो भाग से शाला का विस्तार रखना चाहिये। दो भाग से पृथुवार (बड़ा गलियारा) एवं बाहरी वार उसके आधे माप से होना चाहिये। चारो ओर दण्डिकावार मुष्टिबन्ध (विशिष्ट आकृति) से सुसज्जित होनी चाहिये।।१३४-१३५।।

चूलहर्म्यादिकं कुड्यं महावारमुपर्यपि।
कूटकोष्ठादिसर्वाङ्गं युक्त्या तत्र प्रयोजयेत् ॥१३६॥
एतत्तु वर्धमानं स्यान्नोदग्द्वारं महीभृताम्।

भवन के चूलहर्म्य आदि अवयवों, भित्ति एवं ऊपर महावार (बड़ा गलियारा) निर्मित करना चाहिये। कूट, कोष्ठ आदि सभी अंगों को उचित रीति से आवश्यकतानुसार निर्मित करना चाहिये। यह भवन वर्धमान संज्ञक होता है; किन्तु यदि यह राजा के लिये निर्मित हो तो इसका द्वार उत्तर दिशा में नहीं होना चाहिये।।१३६।।

❋ सप्तमवर्धमानम् ❋

व्यासे द्विरष्टभागे तु द्विभागं मध्यमाङ्गणम् ॥१३७॥
तावत् स्याद् गृहविस्तारं परितः कुड्यसंयुतम्।
द्विभागं पृथुवारं स्यादन्तःस्तम्भं यथोचितम् ॥१३८॥
तद्बहिर्वारमेकांशं पृथुवारं द्विभागतः।
स्तम्भं कुड्यं यथायुक्ति यथाशोभं तथाचरेत् ॥१३९॥

वर्धमान का सातवाँ प्रकार—गृह के विस्तार के सोलह भाग करना चाहिये। इसमें दो भाग से मध्य आँगन एवं इतने ही माप का शाला का विस्तार होना चाहिये। चारो ओर भित्ति निर्मित होनी चाहिये। दो भाग से बड़ा मार्ग तथा स्तम्भों का निर्माण आवश्यकतानुसार होना चाहिये। इसके बाहर एक भाग से वार एवं दो भाग से पृथुवार (बड़ा गलियारा) होना चाहिये। स्तम्भ एवं भित्ति का निर्माण आवश्यकतानुसार एवं जिस प्रकार सुन्दर लगे, उस प्रकार करना चाहिये।।१३७-१३९।।

दण्डिकावारसंयुक्तं पार्श्वे पृष्ठे सभद्रकम्।
पार्श्वयोर्नेत्रशाले द्वे द्वे महावारसंयुते ॥१४०॥
द्विद्विभागविनिष्क्रान्ते स्यातां ते मुखपट्टिके।
पृष्ठवासं यथाशोभं यथाचित्रं विभागतः ॥१४१॥
यथारुचि यथाशोभं कूटकोष्ठं तले तले।
द्वितले त्रितले वाऽपि गोपानारूढमञ्चकम् ॥१४२॥

भवन के दोनों पार्श्वों में दण्डिकावार तथा पिछले भाग में भद्र होना चाहिये। दोनों पार्श्वों में दो-दो महावारों से युक्त दो नेत्रशालायें होनी चाहिये। उन महावारों (बरामदों) के आगे दो-दो भाग आगे निकली हुई मुखपट्टिकायें होनी चाहिये। भवन के पृष्ठवास (पिछले भाग) को इस प्रकार निर्मित करना चाहिये, जिससे वह सुन्दर लगे। कूट एवं कोष्ठ के प्रत्येक तल पर इच्छानुसार एवं शोभा के अनुसार निर्मित करना चाहिये। दूसरे या तीसरे तल पर गोपान के ऊपर मञ्चक निर्मित करना चाहिये।।१४०-१४२।।

शङ्खावर्तं तु सोपानं प्रमुखे कर्णकूटयोः ।
तले तले तु सोपानं मुखे चङ्क्रमणो भवेत् ॥१४३॥

सामने कर्ण एवं कूट पर शंखावर्त सोपान (सोपान का विशेष प्रकार) निर्मित होना चाहिये। प्रत्येक तल पर सोपान एवं मुखभाग पर चङ्क्रमण (चलने का मार्ग) होना चाहिये।।१४३।।

पादं पादाश्रयं पादं यथाशोभं यथाबलम् ।
किञ्चिदाश्रयमेवं वानाश्रयं विपदो पदम् ॥१४४॥

स्तम्भ को स्तम्भ पर आश्रित होना चाहिये। स्तम्भ को इस प्रकार निर्मित करना चाहिये, जिससे वह दृढ़ हो एवं सुन्दर लगे। यदि यह आश्रय थोड़ा हो (अर्थात् पूर्ण रूप से आश्रित न हो, टिका न हो) या बिल्कुल आश्रय न हो तो वह स्तम्भ विपत्ति-कारक होता है।।१४४।।

वर्षस्थलं चूलहर्म्यं कर्तव्यं स्यात्तले तले ।
गोपानं च लुपाश्चैव वक्त्रस्तम्भं च नाटकम् ॥१४५॥
मुष्टिबन्धं च निर्यूहवलभी च कचग्रहम् ।
यत्र यत्रोचितं तत्र योजयेत्तद् विचक्षणः ॥१४६॥

वर्ष-स्थल (जलस्थान) एवं चूलहर्म्य प्रत्येक तल पर निर्मित होना चाहिये। बुद्धिमान व्यक्ति को गोपान (कार्निस), लुपा, वक्त्र-स्तम्भ, नाटक (विभिन्न प्रकार के चित्र), मुष्टिबन्ध, निर्यूह, वलभी एवं कचग्रह (आदि विविध अलंकरण) जहाँ-जहाँ आवश्यकता हो, वहाँ-वहाँ इनका संयोजन करना चाहिये।।१४५-१४६।।

सभा वा मण्डपाकारं मालिकाकारमेव वा ।
एतासामपि शालानामङ्गणं कारयेद् बुधः ॥१४७॥
मण्डपस्य तु मध्ये तु स्तम्भं नैव प्रयोजयेत् ।

बुद्धिमान व्यक्ति को इन भवनों का आँगन (हॉल) सभागृह के आकार का, मण्डप के आकार का या मालिका के आकार का निर्मित करना चाहिये। मण्डप के

मध्य में स्तम्भ का प्रयोग नहीं करना चाहिये।।१४७।।

मण्डपं पुरतस्तस्य वासव्याससमं तु वा ॥१४८॥
त्रिपादं वा तदर्धं वा युक्त्यान्तःस्तम्भसंयुतम्।
एकद्वित्रितलोपेतं मालिकाभं यथा तथा ॥१४९॥
विवृतस्तम्भसंयुक्तं वासालिन्द्रान्वितं तु वा।
अन्तःसोपानसंयुक्तमनुक्तं चात्र पूर्ववत् ॥१५०॥

भवन के सामने मण्डप भवन की चौड़ाई के बराबर, उसका तीन चौथाई या आधे माप का होना चाहिये। आवश्यकतानुसार इसे भीतरी स्तम्भ से युक्त करना चाहिये। यह एक, दो या तीन से युक्त होता है एवं मालिका के समान होता है। यह विवृत स्तम्भों से युक्त या अलिन्द्र से युक्त होता है। इसे भीतरी सोपान से युक्त होना चाहिये। यहाँ जिन अंगों का वर्णन किया गया है, उनका तथा जिनका वर्णन नहीं किया गया है, उनका निर्माण पहले वर्णित विधि के अनुसार करना चाहिये।।१४८-१५०।।

त्रितलाद्यानवतलमेकादशतलं तु वा।
एतत्तु वर्धमानं स्याद् भूपेन्द्राणां विशेषतः ॥१५१॥

तीसरे तल से प्रारम्भ कर नवें तल या ग्यारह तल तक वर्धमान शाल-भवन हो सकता है। यह भवन विशेष रूप से राजाओं के अनुरूप होता है।।१५१।।

❋ प्रथमनन्द्यावर्तम् ❋

नन्द्यावर्तस्य विन्यासमलङ्कारमथोच्यते।
व्यासे षडंशके तत्र द्विभागं मध्यमाङ्गणम् ॥१५२॥
शालाव्यासं द्विभागं स्यात्तन्मानं तु चतुष्टयम्।
बाह्यवारं च कुड्यं च नन्द्यावर्तसमाकृति ॥१५३॥

नन्द्यावर्त का प्रथम प्रकार—नन्द्यावर्त शाल-भवन के विन्यास एवं सज्जा का वर्णन अब किया जा रहा है। भवन के विस्तार के छः भाग करना चाहिये। उनमें दो भाग से मध्य आँगन तथा दो भाग से शाला का विस्तार रखना चाहिये। इसका प्रमाण चारो (शालाओं) के लिये होता है। बाहरी मार्ग एवं भित्ति नन्द्यावर्त की आकृति में होनी चाहिये।।१५२-१५३।।

दिश्यथैका न तद्द्वाशाला वाथ चतुष्टयम्।
जालकं च कवाटं च बाह्येऽबाह्ये तथैव च ॥१५४॥

(प्रधान) शाला में एक द्वार नहीं होता है या चार द्वार होते हैं। द्वार बाहर एवं

भीतर जालक एवं कपाट से युक्त होते हैं।।१५४।।

सर्वतः कुड्यसंयुक्तं मुख्यगेहं कभित्तिभाक्।
कुल्याभद्वारसंयुक्तं मुखचङ्क्रमणं भवेत्॥१५५॥

अन्तर्विवृतपादं स्याद् बाह्ये कुड्यावृतं तु तत्।
चतुर्दिक्षु विनिष्क्रान्तमर्धकूटसमाकृतिः।
दण्डिकावारसंयुक्तं प्रासादवदलङ्कृतम्॥१५६॥

मुख्य गृह चारो ओर भित्ति से युक्त होता है। इसका भीतरी भाग भित्ति से बँटा होता है, जिसमें कुल्याभ (थोड़ा मुड़ा हुआ) द्वार होता है। मुख भाग पर चंक्रमण (मार्ग) होता है। भीतरी भाग में स्तम्भ होते हैं एवं खुला (भित्ति के विना) होता है। बाहरी भाग भित्ति से ढँका होता है। चारो दिशाओं में निर्गम होते हैं एवं अर्धकूट की आकृति निर्मित होती है। यह दण्डिकावार से युक्त तथा देवालय के सदृश अलंकृत होता है।।१५५-१५६।।

चतुर्णामुदितं वैश्यशूद्रयोः प्राग्दिगाननम्।
तदेवांशावृतालिन्द्रं बहिर्द्वारं प्रशोभितम्॥१५७॥

अधिष्ठानाङ्घ्रिकादीनि पूर्ववद् योजयेद् बुधः।
एकद्वित्रितलोपेतः मुण्डप्रासादसंज्ञिकम्॥१५८॥

चतुर्णामपि वर्णानां योजयेत्तद्विचक्षणः।

यह भवन चारो वर्णों के अनुकूल होता है। वैश्य एवं शूद्र वर्ण के लिये भवन का मुख पूर्व दिशा में होना चाहिये। यह एक भाग अलिन्द्र से घिरा हो तथा बाहरी द्वार अलंकृत होना चाहिये। अधिष्ठान एवं स्तम्भ आदि का संयोजन पूर्ववर्णित रीति से होना चाहिये। एक, दो या तीन तल से युक्त तथा सीधे शीर्ष भाग वाली यह शाला प्रासाद-डल्प होती है। बुद्धिमान (स्थपति) को चारो वर्णों के अनुरूप इस शाल-भवन की योजना करनी चाहिये।।१५७-१५८।।

❋ द्वितीयनन्द्यावर्तम् ❋

व्यासे दशांशके तत्र द्विभागं मध्यमाङ्गणम्॥१५९॥

परितो मार्गमेकांशं शालाव्यासं द्विभागतः।
बाह्यतोऽलिन्द्रमेकांशं भद्रप्रभृति पूर्ववत्॥१६०॥

यथायुक्ति यथाशोभं तथा हर्म्याङ्गमण्डितम्।

नन्द्यावर्त का दूसरा प्रकार—भवन के विस्तार के दस भाग में दो भाग से

मध्य-आँगन निर्मित करना चाहिये। चारो ओर एक भाग से मार्ग तथा दो भाग से भवन का विस्तार रखना चाहिये। बाहर एक भाग से अलिन्द्र तथा भद्र आदि का निर्माण पूर्ववर्णित विधि से करना चाहिये। इसमें हर्म्य आदि अंगों से अलंकरण आवश्यकतानुसार एवं शोभा के अनुसार करना चाहिये।।१५९-१६०।।

❋ तृतीयनन्द्यावर्तम् ❋

द्विषडंशे विशाले तु द्विभागं मध्यमाङ्गणम् ॥१६१॥
द्व्यंशं शालाविशालं स्यान्मुखगेहं कभित्तिभाक् ।
पृथुवारं द्विभागेन तद्बाह्ये तु समन्ततः ॥१६२॥
परितोऽलिन्द्रमेकांशं स्तम्भं कुड्यं यथेष्टतः ।
सालिन्द्रं चूलहर्म्याङ्गं यथायुक्ति यथारुचि ॥१६३॥
द्वारं च मुखभद्रं चाप्यधिष्ठानादि पूर्ववत् ।

नन्द्यावर्त का तीसरा प्रकार—भवन के विस्तार के बारह भाग करने चाहिये। दो भाग से मध्य-आँगन एवं दो भाग से गृह का विस्तार रखना चाहिये। मुख्य गृह के भीतरी भाग में एक भित्ति (विभाजक दीवार) होती है। बाहरी भाग में चारो ओर दो भाग से विस्तृत मार्ग होना चाहिये। उसके चारो ओर एक भाग से अलिन्द्र (बरामदा) होना चाहिये, जिसमें इच्छानुसार स्तम्भ या भित्ति का निर्माण करना चाहिये। अलिन्द्र को चूल एवं हर्म्य आदि से आवश्यकतानुसार या इच्छानुसार युक्त करना चाहिये। द्वार, मुखभद्र और अधिष्ठान आदि का निर्माण पहले के समान करना चाहिये।

चतुष्टयानां शालानां मध्यवंशोर्ध्वमस्तकम् ॥१६४॥
पुरे पुरे भवेत् कूटं पक्षशालाननान्वितम् ।
नन्द्यावर्ताकृतिश्चाथ यथायुक्तं चतुर्मुखम् ॥१६५॥

चारो शालगृहों में शीर्ष भाग मध्य वंश के ऊपर होता है। सामने वाले भाग में कूट एवं पार्श्व-शालायें आनन (मुख) से युक्त होती हैं। नन्द्यावर्त की आकृति वाला यह भवन चार मुखों (प्रवेश भाग) से युक्त होता है।।१६४-१६५।।

ऊर्ध्वोर्ध्वमङ्गणं कुर्यात् पक्षशालासमोपरि ।
सभा वा मण्डपं वाऽपि मालिका चाङ्गणक्रिया ॥१६६॥
त्रितलादितलोपेतमूहप्रत्यूहसंयुतम् ।
द्विजानाञ्च महीपानामेतत्प्रासादकं हि तत् ॥१६७॥

आँगन के ऊपर आँगन एवं पक्षशाला (बाहरी कक्ष) के ऊपर पक्षशाला निर्मित

करना चाहिये। मध्य-आँगन का निर्माण सभागार, मण्डप या मालिका के समान करना चाहिये। यह भवन तीन तल से प्रारम्भ कर (उससे अधिक तलों से युक्त) ऊह एवं प्रत्यूह आदि अंगों से युक्त होना चाहिये। यह प्रासाद-भवन ब्राह्मणों एवं राजाओं के लिये अनुकूल होता है।।१६६-१६७।।

✷ चतुर्थनन्द्यावर्तम् ✷

चतुर्दशांशके व्यासे द्विभागं मध्यमाङ्गणम्।
परितो मार्गमेकांशं द्विभागं गेहविस्तृतम्॥१६८॥

पृथुवारं द्विभागं स्याद् युक्त्यान्तःस्तम्भसंयुतम्।
तद्बहिर्वारमेकांशं कुड्यस्तम्भादिमण्डितम्॥१६९॥

नन्द्यावर्त का चौथा प्रकार—भवन के विस्तार के चौदह भाग करने चाहिये। दो भाग से मध्य-आँगन, एक भाग से चारो ओर मार्ग एवं दो भाग से गृह का विस्तार रखना चाहिये। दो भाग से पृथुवार (विस्तृत मार्ग) होना चाहिये, जिसके भीतरी भाग में आवश्यतानुसार स्तम्भ निर्मित करना चाहिये। उसके बाहर एक भाग से भित्ति एवं स्तम्भ आदि से युक्त मार्ग निर्मित करना चाहिये।।१६८-१६९।।

चतुर्दिशाननोपेतं नन्द्यावर्तसमाकृति।
ऊर्ध्वशालास्तथाष्टास्याश्चतुरास्या व्यवस्थिताः॥१७०॥

द्वादशास्यसमायुक्तमूर्ध्वाधस्ताद् विशेषतः।
चतुर्दिक्षु सभद्राङ्गद्वारशालाकशोभितम्॥१७१॥

अनुक्तं हि यथा सर्वं पूर्ववत् कारयेद् बुधः।

नन्द्यावर्त की आकृति वाला यह भवन चारो दिशाओं में मुख से युक्त होता है। ऊर्ध्वशालायें आठ मुखों से युक्त होती हैं एवं ये चार मुख वाली शालाओं पर व्यवस्थित की जाती हैं। इस प्रकार निचले तल एवं ऊपरी तल की शालाओं को मिलाकर भवन के बारह मुख होते हैं। चारो दिशाओं में भद्र एवं द्वारशालायें सुशोभित होती हैं। जिन अंगों का वर्णन यहाँ नहीं किया गया है, उन सभी का निर्माण भी पहले की भाँति करना चाहिये।।१७०-१७१।।

✷ पञ्चमनन्द्यावर्तम् ✷

व्यासे द्विरष्टभागे तु द्विभागं मध्यमाङ्गणम्॥१७२॥

शालाव्यासं द्विभागेन पृथुवारं तु तत्समम्।
तद् बहिर्वारमेकांशं तद्बहिर्वारमेकतः॥१७३॥

नन्द्यावर्त का पाँचवाँ प्रकार—भवन की चौड़ाई के सोलह भाग करने पर दो भाग से मध्य आँगन एवं दो भाग से शाला का विस्तार रखना चाहिये। चौड़ा मार्ग उसी के समान होना चाहिये। इसके बाहर एक भाग से बाहरी मार्ग एवं उसके बाहर एक भाग चौड़ा मार्ग होना चाहिये।।१७२-१७३।।

सालिन्द्रं चूलहर्म्याङ्गं यथायुक्ति यथारुचि।
तस्योपरि गता शाला चतुष्कशिरसा सह ।।१७४।।

इस भवन में आवश्यकतानुसार एवं इच्छानुसार अलिन्द्र (बरामदा) तथा चूल-हर्म्याङ्ग का निर्माण करना चाहिये। इसके ऊपर निर्मित शाला का शीर्ष भाग चौकोर होना चाहिये।।१७४।।

त्रितलाद्यानवतलं भूपभूसुरयोग्यकम्।
द्वाराणि भित्तयः सर्वे ह्युत्तराद्या ह्यनुक्रमात् ।।१७५।।
प्रासादवलङ्कुर्यान्नन्द्यावर्तं तु जालकम्।
यथायुक्ति यथाशोभं तथा कुर्याद् विचक्षणः ।।१७६।।
ऊहप्रत्यूहसर्वाङ्गैर्गेहालङ्कारमिष्यते ।

यह भवन तीन तल से प्रारम्भ होकर नौ तल तक होता है एवं यह राजा तथा ब्राह्मण के योग्य होता है। द्वार एवं भित्तियाँ आदि पूर्व-वर्णित निर्णय के अनुसार निर्मित होनी चाहिये। इसका अलंकरण प्रासाद के समान होना चाहिये एवं इसके जालक (झरोखे) नन्द्यावर्त के सदृश होने चाहिये। इस भवन में ऊह, प्रत्यूह आदि सभी गृह के अलंकरणों की आवश्यकता होती है।।१७५-१७६।।

❋ स्वस्तिकम् ❋

व्यासे षडंशके तत्र स्वस्तिके द्व्यंशमङ्गणम् ।।१७७।।

तावच्छालाविशालं स्यात् कुल्याभद्वारसंयुतम्।
पृष्ठे तु दीर्घकोष्ठं स्यात् पुरतः कोष्ठकं तथा ।।१७८।।

स्वस्तिक भवन—इस स्वस्तिक भवन की चौड़ाई के छः भाग करने चाहिये। इसमें दो भाग से आँगन एवं उसी के समान शाला का विस्तार रखना चाहिये। इसका द्वार कुल्या के समान (मुड़ा हुआ) होना चाहिये। इसके पिछले भाग में दीर्घ कोष्ठ एवं सामने भी उसी प्रकार कोष्ठ होना चाहिये।।१७७-१७८।।

पक्षके कर्करीशाला मुखपट्टिकयान्विता।
विना पट्टिकया पृष्ठे कोष्ठकं पृष्ठसंयुतम् ।।१७९।।

इसके दोनों पार्श्वों में मुखपट्टिका से युक्त कर्करी शाला (चौकोर निर्माण) निर्मित होना चाहिये। पिछले भाग में पृष्ठ से युक्त, विना पट्टिका के कोष्ठक का निर्माण होना चाहिये।।१७९।।

दण्डिकावारसंयुक्तं षण्नेत्रं भद्रसंयुतम्।
अन्यत् प्रासादवत् सर्वमलङ्कुर्याद् विचक्षणः ॥१८०॥

प्राङ्मुखं स्वस्तिकं वैश्यशूद्रयोः सम्मतं बुधैः।

अथवा यह भवन दण्डिकामार्ग से युक्त, छः नेत्रों (झरोखों, खिड़कियों) से युक्त एवं भद्र से युक्त होना चाहिये। बुद्धिमान व्यक्ति को सभी अलंकरण प्रासाद के सदृश करना चाहिये। पूर्व-मुख यह स्वस्तिक भवन वैश्यों एवं शूद्रों के लिये अनुकूल कहा गया है।।१८०।।

स्वस्तिकान्तरम्

तदेवांशावृतालिन्द्रं खण्डहर्म्याभिमण्डितम् ॥१८१॥
पूर्ववद् भद्रसंयुक्तमलङ्कारादि पूर्ववत्।
द्विःषडंशेऽथ मन्वंशे षोडशांशे यथेष्टतः ॥१८२॥

अन्य प्रकार का स्वस्तिक—वही भवन एक भाग माप के अलिन्द्र से घिरा होता है तथा खण्ड-हर्म्य आदि से अलंकृत होता है। यह पूर्व-वर्णित भद्र से युक्त होता है एवं इसकी सज्जा पहले के समान ही करनी चाहिये। भवन के सम्पूर्ण विस्तार को बारह, चौदह या सोलह भागों में इच्छानुसार बाँटना चाहिये।।१८१-१८२।।

अङ्गणं च बहिर्वारं पृथुवारमलिन्द्रकम्।
शालाव्यासं द्विभागेन सर्वतः परिकल्पयेत् ॥१८३॥

आँगन, बाहरी मार्ग, विस्तृत मार्ग एवं अलिन्द्र का निर्माण होना चाहिये। शाला का विस्तार दो भाग से रखना चाहिये।।१८३।।

द्वारं च स्तम्भकुड्यं च भद्रं युक्त्या प्रयोजयेत्।
यथायुक्ति यथाशोभं तथा हर्म्याङ्गसंयुतम् ॥१८४॥

शालाकारं सभाकारं हर्म्याङ्गं वाऽथ शीर्षकम्।
एतत् स्वस्तिकमित्युक्तमनुक्तं चात्र पूर्ववत् ॥१८५॥

द्वार, स्तम्भ, भित्ति एवं भद्र को आवश्यकतानुसार निर्मित करना चाहिये। भवन में हर्म्याङ्ग आदि का निर्माण आवश्यकतानुसार एवं शोभा के अनुसार करना चाहिये। इस भवन का शीर्ष भाग शाला के आकार का, सभा के आकार का (उठा हुआ)

या हर्म्याङ्ग के समान होता है। इस भवन को स्वस्तिक कहते हैं। जिनका वर्णन यहाँ नहीं किया गया है, उन अंगों का वर्णन पहले किया जा चुका है।।१८४-१८५।।

❋ रुचकम् ❋

निर्विष्टाः कोटिसंयुक्ताः कर्णे सोपानसंयुताः।
रुचकाख्या विचित्राङ्गा नोदग्द्वाराः प्रकीर्तिताः ॥१८६॥

पाषण्डिनां द्विजादीनां सुराणां वासयोग्यकाः।
चतुर्णामुदितं राज्ञां सर्वमुर्वीदिवौकसाम्।
वैश्यानामुदितं सर्वं शूद्राणां सम्मतं बुधैः ॥१८७॥

रुचक—रुचक संज्ञक भवन में निर्विष्ट (क्रास-बीम) नहीं होता है। यह कोटि-लुपाओं से संयुक्त होता है तथा कोने पर सोपान निर्मित होता है। यह विचित्र अंगों से युक्त होता है; किन्तु उत्तर दिशा में कोई द्वार नहीं होता। यह भवन नास्तिकों, ब्राह्मणों, अन्य वर्णों एवं देवों के निवास के योग्य होता है। बुद्धिमानों के अनुसार यह भवन चारो वर्णों—राजाओं, ब्राह्मणों, वैश्यों एवं शूद्रों के अनुकूल होता है।

❋ चतुःशालसामान्यविधिः ❋

उक्तव्यासेनान्विता दीर्घहीना
वेदास्राभास्ताः सुराणां द्विजानाम्।
दानादीनां सर्वपाषण्डिकानां
चतुःशालाः सम्मताः सद्भिरेव ॥१८८॥

चतुश्शाल भवनों के सामान्य नियम—विद्वानों के मतानुसार चतुश्शाल भवन पूर्ववर्णित व्यास से युक्त होते हैं; किन्तु लम्बे नहीं होते हैं। ये चौकोर भवन देवों, ब्राह्मणों, दान आदि के लिये एवं सभी नास्तिकों के लिये प्रशस्त होते हैं।

एतद्वदन्ति मुनयो विपुले नवांशे
वस्वंशके मुनिपदे रसभागिके तु।
द्व्यंशं गृहस्य विपुलं त्वथ पञ्चभागे
शालाविशालमिह भागमिति क्रमेण ॥१८९॥

(इस विषय में) मुनि-जन इस प्रकार कहते हैं—यदि गृह के विस्तार के नौ, आठ, सात या छः भाग किये जायँ तो प्रधान भवन की चौड़ाई दो भाग के बराबर होगी। यदि विस्तार के पाँच भाग किये जायँ तो प्रधान भवन की चौड़ाई एक भाग से रखनी चाहिये।।१८९।।

❋ सप्तशालादि ❋

अष्टाष्टहस्तविसृतं द्विगुणायतं च
द्विद्वारि पङ्क्तिवदनं द्वयमङ्गणं च।
षट्सन्धिकं भवनवत् परिमण्डनीयं
तत् सप्तवासमवनीसुरमन्दिरं स्यात् ॥१९०॥

सात शाला आदि से निर्मित गृह—सात कक्षों के राजगृह का विस्तार चौंसठ हाथ एवं लम्बाई उसकी दुगुनी होती है। इसमें दो द्वार, दस नेत्र, दो आँगन एवं प्रधान भवन में छः सन्धियाँ होती हैं। इसकी सज्जा भवन (मन्दिर) के समान करनी चाहिये।

व्यासे पञ्चांशे नवांशायतं स्यात्
षड्भागे रुद्रांशकैः सप्तभागे।
द्विःषड्भागैरष्टभागे नवांशे
द्विःसप्तांशैः षोडशांशैस्तु दैर्घ्यम् ॥१९१॥

एवं पञ्चैवायतं सप्तशाले पूर्वोक्तव्यासांशके पङ्क्तिशाले।
दैर्घ्यं सैकार्कैर्विकारैः ससप्तधर्मांशैर्विंशत्त्रयोविंशदंशैः ॥१९२॥

चौड़ाई पाँच भाग रहने पर लम्बाई नौ भाग होनी चाहिये। चौड़ाई छः भाग होने पर लम्बाई ग्यारह भाग, सात भाग होने पर बारह भाग, आठ भाग होने पर चौदह भाग या नौ भाग होने पर सोलह भाग लम्बाई होनी चाहिये। ये सप्तशाल भवन के पाँच प्रकार की लम्बाई के माप हैं। दश-शाल भवन में भवन की चौड़ाई पूर्व-वर्णित भागों में होती है। इसकी लम्बाई (पाँच भाग पर) तेरह भाग, (छः भाग पर) सोलह भाग, (सात भाग पर) सत्रह भाग, (आठ भाग पर) बीस भाग या (नौ भाग पर) तेईस भाग होनी चाहिये।।१९१-१९२।।

राज्ञामुदीरितमशीतिकरैर्विशाले
दैर्घ्यं तु तत्त्रिगुणमर्कललाटयुक्तम्।
त्रिद्वारि चाङ्गणगुणान्वितमष्टसन्धि
द्विःपञ्चशालमथ हर्म्यमिव प्रयोज्यम् ॥१९३॥

यदि दश-शाल भवन राजा के लिये निर्मित हो तो इसकी चौड़ाई अस्सी हाथ एवं लम्बाई उसकी तीनगुनी होनी चाहिये। इसके बारह ललाट, तीन प्रधान द्वार, तीन आँगन एवं आठ सन्धियाँ होनी चाहिये। इसका संयोजन हर्म्य के समान करना चाहिये।

वासत्र्यंशं सार्धभागं ह्यलिन्द्रं
त्र्यंशैकांशं वा तदर्धं प्रवेशम्।

बाह्येऽबाह्ये नालनीप्रं तदर्धं
शालानां स्यादत्र सामान्यमेतत् ॥१९४॥

अलिन्द का माप भवन के तीसरे भाग के बराबर या आधा होना चाहिये। इसका प्रवेशभाग (भद्र, पोर्च) तीन भाग या छः भाग से (चौड़ाई के) होना चाहिये। उसके बाहर एवं अन्दर (भद्र के) आधे भाग से नालनीप्र (संरचनाविशेष) होना चाहिये। यह सभी भवनों के लिये सामान्य नियम है।।१९४।।

निरङ्गणं कर्णगतान्वितं बहुबहु-
प्रवेशं बहु चाननान्वितम् ।
अन्तर्बहिर्वक्त्रयुतं ह्यसीमकं वासं
न सामान्यगताङ्गणान्वितम् ॥१९५॥

जिस भवन में (मध्य भाग में) आँगन न हो, उसके कोनों में आँगन होना चाहिये। इसके बहुत से मुख एवं प्रवेश (द्वार का निर्माण, भद्र) होते हैं। इसके बाहरी एवं भीतरी भाग में वक्त्र (खिड़की) होते हैं। इस भवन को 'असीम' कहते हैं। इसमें सामान्यतया मध्यांगन की आवश्यकता नहीं होती है।।१९५।।

हस्तस्तम्भतुलादिकान् नरगृहे युञ्ज्यादयुग्मं यथा
युग्मायुग्मकसंख्यया सुरगृहे युञ्जीत हस्तादिकम् ।
मध्यद्वारमनिन्दितं सुरमहीदेवक्षितीशालये
शेषाणामुपमध्यमेव विहितं तत्सम्पदामास्पदम् ॥१९६॥

मनुष्यों के लिये निर्मित भवन में विषम संख्या में हस्तमाप, स्तम्भ, डलायें (बीम) आदि होनी चाहिये। देवालय में हस्तादिकों की संख्या सम या विषम होनी चाहिये। देवों, ब्राह्मणों एवं राजाओं के इस भवन में मध्य भाग में द्वार अप्रशस्त नहीं होता है; किन्तु अन्य मनुष्यों के भवन में द्वार मध्य के पार्श्व में होना चाहिये। उनके लिये वही प्रशस्त होता है।।१९६।।

❋ गर्भस्थानम् ❋

गर्भं कुर्यान्नेत्रके भित्तिभागे
पादाधाराच्छ्वभ्रकाधः क्रमेण ।
मध्यस्य स्याद् वामभागे गृहे वा
शालायां स्यान्मुख्यधामन्यवश्यम् ॥१९७॥

शिलान्यास या गर्भविन्यास का स्थान—भवन का गर्भ-विन्यास सामने की भित्ति के नीचे तथा स्तम्भ के गर्त में करना चाहिये। इसे भवन के मध्य भाग के वाम

भाग में अथवा भवन की प्रधान शाला के वाम भाग में स्थापित करना चाहिये।।१९७।।

भित्तिव्यासेऽष्टांशके चातुरंशं
बाह्येऽबाह्ये तत्त्रिभागं विहाय।
मध्ये गर्भं योजनीयं सुराणां
विप्रादीनां मन्दिरे निन्दितं तत् ॥१९८॥

भित्ति की चौड़ाई के आठ भाग करने चाहिये एवं इसके सामने वाले भाग से चार भाग तथा भीतरी भाग से तीन भाग (छोड़कर उन दोनों के मध्य में स्थित) भाग में गर्भविन्यास करना चाहिये। देवालय के द्वार के मध्य में गर्भ-न्यास करना चाहिये; किन्तु ब्राह्मण आदि (चारो वर्णों के) भवन में यह (मध्य में गर्भ-विन्यास) प्रशस्त नहीं होता है।।१९८।।

❋ वंशद्वारम् ❋

वंशद्वारं नैव विप्रादिकानां
वर्णानामावासके योजनीयम्।
पाषण्ड्यादीनां मुनीनां गृहेतद्
वंशद्वारं योजनीयं न दूष्यम् ॥१९९॥

वंशद्वार—ब्राह्मण आदि वर्णों के भवन में वंशद्वार (मध्य वंश के सामने द्वार) नहीं रखना चाहिये। नास्तिकों एवं संन्यासियों के गृह में वंश-द्वार दोषकारक नहीं होता है।।१९९।।

❋ विहारशालम् ❋

आद्यमथात्तविशालं त्रिगुणायामं ततः प्रवृद्धिः स्यात्।
व्यासद्विगुणैस्त्रयोविंशति यावत्तावत्तु सैकदशसंख्या ॥२००॥

मठ—प्रमुख भवन की चौड़ाई से तीन गुनी अधिक उसकी लम्बाई होनी चाहिये। भवन की लम्बाई चौड़ाई के दुगुने माप से लेकर तेईस भाग माप पर्यन्त रक्खी जाती है। इस प्रकार लम्बाई की दृष्टि से ग्यारह प्रकार के भवन निर्मित होते हैं।।२००।।

पुरतो भद्रसमेतं कर्णसभाकोष्ठनीडमण्डितकम्।
पृष्ठे वारयुतं वा द्विललाटं गर्भकूटसमम् ॥२०१॥

एकद्वित्रितलाढ्यं पुरतोऽपरतो विचित्रनास्यङ्गम्।
एतद् विहारशालं प्रासादवदेव करणीयम् ॥२०२॥

प्रधान भवन के सामने भद्र निर्मित होना चाहिये। इसे सभागार, कोष्ठ एवं नीड

(सजावटी खिड़की) से सुसज्जित करना चाहिये। भवन के पृष्ठ-भाग में वार (बरामदा) निर्मित हो या गर्भकूट के सदृश दो ललाट (झरोखा) निर्मित होना चाहिये। इसे एक-दो या तीन से युक्त तथा आगे एवं पीछे विचित्र नासियों (सजावटी आकृति) से सुसज्जित करना चाहिये। यही विहारशाल (मठ) है। इसका निर्माण मन्दिर के समान करना चाहिये।।२०१-२०२।।

✻ शालापादप्रमाणम् ✻

सर्वासामपि वक्ष्ये पादायामं तु तस्य विष्कम्भम्।
सार्धद्विहस्तमादि त्रिभिरथ षड्भिः कराग्रजङ्घ्र्या तु ।।२०३।।

सार्धत्रिचतुर्हस्तावधिकं यावन्नवाङ्घ्रिकायामम्।
व्यासं षडङ्गुलं स्यात् तस्मादर्धैकमात्रवृद्ध्या तु ।।२०४।।

दश वा चतुर्दशमात्रं यावन्नवधा विशालं स्यात्।
पूर्वोदितमानं वा योज्यं युक्तिक्रमेण विद्वद्भिः ।।२०५।।

भवन के स्तम्भों का माप—सभी भवनों के स्तम्भों की लम्बाई एवं विष्कम्भ (परिधि) का वर्णन किया जा रहा है। स्तम्भ की लम्बाई ढाई हाथ से साढ़े तीन हाथ या चार हाथ से अधिक तक रक्खी जाती है। तीन अंगुल या छः अंगुल की वृद्धि करते हुये नौ तक स्तम्भ की ऊँचाई होती है। इसकी चौड़ाई छः से प्रारम्भ कर आधा या एक अंगुल बढ़ाते हुये दस या चौदह अंगुल माप तक ले जानी चाहिये। अथवा विद्वानों द्वारा पूर्ववर्णित मान के अनुसार इनका मान रखना चाहिये।।२०३-२०५।।

✻ आयादिलक्षणम् ✻

स्वव्यासकरं त्रिगुणं कृत्वा वसुभिर्हरत्तु तच्छेषम्।
ध्वजधूमसिंहश्वावृषखरगजवायसाश्च योनिगणाः ।।२०६।।

आय आदि के लक्षण—भवन की चौड़ाई के माप का तीन गुना कर उसमें आठ से भाग देना चाहिये। जो शेष संख्या बचे, उससे (एक से आठ तक क्रमशः) ध्वज, धूम, सिंह, श्वान, वृष, खर, गज एवं वायस योनियाँ होती हैं। इनमें ध्वज, सिंह, वृष एवं गज योनियाँ शुभ एवं अन्य अशुभ होती हैं।।२०६।।

एषु ध्वजमृगवृषभेभाः शुभयुक्ता न शोभनास्त्वन्ये।
दैर्घ्यं वसुगुणितं यत्तत्त्रिर्नवभिर्हरेत्तु तच्छेषम् ।।२०७।।

अश्वयुजादिकमृक्षं तद्वशतस्त्वेव राशयः प्रोक्ताः।

भवन की लम्बाई में आठ का गुणा करने पर गुणनफल में सत्ताईस का भाग देना चाहिये। शेष से अश्विनी आदि नक्षत्रों का एवं उनके अनुसार राशियों का ज्ञान होता है।

आयामे वसुनवभिर्गुणिते यत्त्वर्कपङ्क्तिभिर्ह्रासम् ॥२०८॥
शेषं धनमृणमुदितं क्रमशस्त्वृणाधिकायं तु शुभम्।

भवन की लम्बाई में क्रमशः आठ एवं नौ का गुणा करना चाहिये। प्राप्त गुणनफल में बारह एवं दस से भाग देना चाहिये। इससे दो भिन्न-भिन्न प्रकार का शेष प्राप्त होता है। इन्हें 'धन' एवं 'ऋण' कहते हैं। आय अथवा धन का ऋण से अधिक होना प्रशस्त होता है।।२०८।।

नाहं नवगुणितं यत्त्रिशतिभिर्भाजनं तु तच्छेषम् ॥२०९॥
तिथिरपि सूर्यप्रमुखो वारः स्यात् तदृक्षसंयोगम्।
अमृतवरसिद्धयोगैर्योज्यं नैवान्ययोगमेव स्यात् ॥२१०॥

भवन की परिधि को नौ से गुणा करना चाहिये। गुणनफल में तीस का भाग देना चाहिये। शेष से (तीस दिन के चान्द्रमास का ज्ञान होता है एवं उसमें) तिथि एवं रवि आदि दिनों का ज्ञान होता है। इनसे अमृत, वर एवं सिद्धि योगों का भी ज्ञान होता है तथा अन्य का ज्ञान नहीं होता है।।२०९-२१०।।

यजमानजन्मनामर्क्षयुतं यद्वस्तु तादृशं तु शुभम्।
एवं नृणामुदितममराणां चेच्छुभं यथा कर्तुम् ॥२११॥

जिस भवन का नक्षत्र गृहस्वामी यजमान के जन्मनक्षत्र के सदृश होता है, वह भवन प्रशस्त होता है। यह नियम मनुष्यों के आवास के लिये है। देवालय के निर्माण में भवन के निर्माणकर्ता के अनुसार नक्षत्र होना प्रशस्त होता है।।२११।।

❋ खलूरी ❋

सैकत्रिंशद्धस्तविस्तारकाद्यां
द्वाभ्यां द्वाभ्यां वर्धयेत्तत्कराभ्याम्।
शालाबाह्ये सैकषष्ट्यन्तमाना-
भीष्टायामा सम्मता स्यात् खलूरी ॥२१२॥

बहिरबहिरभीष्टा कुड्यपादाङ्गशोभा
शिखरमपि लुपारूढान्वितं मण्डपं वा।
अमरनरविमानाद्यावृता सा खलूरी
भवनतलविहीनैकद्विभूमिप्रयुक्ता ॥२१३॥

खलूरी, गृह की बाह्य भाग की संरचना—गृह के बाह्य भाग में खलूरी का विस्तार इकतीस हाथ से प्रारम्भ कर दो-दो हाथ बढ़ाते हुये इकसठ हाथ तक रक्खा

जाता है तथा इसकी लम्बाई इच्छानुसार रक्खी जाती है। भित्ति एवं स्तम्भ आदि अंगों का निर्माण भीतर अथवा बाहर इच्छानुसार शोभा के लिये होता है। इस पर लुपा के ऊपर शीर्षभाग का निर्माण किया जाता है अथवा यहाँ मण्डप का निर्माण किया जाता है। खलूरी का निर्माण मनुष्यों के भवन अथवा देवालय के चारो ओर होता है। यह एक तल या दो तल का अथवा विना किसी तल का होता है।।२१२-२१३।।

प्रथमावरणे द्वितीयके वा परभागे सदनं तु योषिताम्।
निर्ऋतौ सूतिगृहं च वर्चसः पवनादीन्दुषु वाङ्गणागृहम् ।।२१४।।

भवन के पूर्व भाग में प्रथम या द्वितीय आवरण (भीतरी भाग) में स्त्रियों का आवास होना चाहिये। नैर्ऋत्य दिशा में सूतिका-गृह तथा शौचालय होना चाहिये। स्त्रियों का आवास वायु के पद से इन्दु (सोम) के पद तक हो सकता है।।२१४।।

यमदिशि भोजनशाला सोमे धनसञ्चयावासम्।
अग्नौ धान्यागारं खे पक्तिर्व्यञ्जनानि तत्रैव ।।२१५।।

आराधनगृहमीशे कूपं तत्रोदितौ स्नानम्।
यस्मिन्यस्मिन्नुदितान्यन्यानि हि तत्र सम्प्रयोज्यानि ।।२१६।।

यम पद (दक्षिण दिशा) पर भोजन-गृह, सोम पद (उत्तर दिशा) पर धन-सञ्चयगृह, अग्नि के स्थान पर धान्यगृह तथा आकाश के स्थान पर पके हुये भोजन के रखने का स्थान होना चाहिये। पूजा-गृह ईश (ईशान कोण) में एवं वहीं कूप होना चाहिये। उदिति के पद पर स्नान का स्थान होना चाहिये। जिस-जिस स्थान पर जिनकी स्थिति वर्णित है, उन्हें वहीं रखना चाहिये।।२१५-२१६।।

द्वाराणि च कुड्यानि च युक्त्या तु स्वामिवाञ्छवशात्।
अन्यच्छेषं सर्वं कुर्यादुक्तिक्रमेण दृढतरधीः ।।२१७।।

द्वार एवं भित्ति का संयोजन गृह-स्वामी की इच्छा के अनुसार करना चाहिये। शेष का निर्माण बुद्धिमान व्यक्ति को पूर्व-वर्णित क्रम में करना चाहिये।।२१७।।

अपि च शिखिनि गोष्ठं नैर्ऋतेऽजाविकानां
पवनदिशि निवासं माहिषं चैशकोणे।
भवति तुरगशाला नागशाला च तस्मिन्
दिशि च दिशि च सर्वे वाहना द्वारवामे ।।२१८।।

शिखि के पद पर गोशाला, निर्ऋति के पद पर बकरियों की शाला, वायु के पद पर भैंसों की शाला तथा ईश के कोण पर अश्वशाला एवं गजशाला होनी चाहिये। सभी प्रकार के वाहनों का स्थान द्वार के वाम भाग में होना चाहिये।।२१८।।

सामान्यं स्यादेतदुक्तं चतुर्णां
वासे राज्ञां योजनीयं विशेषम्।
त्रिप्राकारं च त्रिपङ्क्तिस्त्रिभोगं
शेषाणां चाप्युक्तनीत्या त्रयाणाम् ॥२१९॥

उपर्युक्त सभी नियम चारो वर्णों के भवन के लिये कहे गये हैं। राजाओं के आवास के लिये विशेष संयोजन होता है। उनके भवन में तीन प्राकार, भवनों की तीन पंक्तियाँ एवं तीन भोग (अन्तःपुर) होना चाहिये। शेष नियम उसी प्रकार हैं, जो तीनों वर्णों के लिये विहित हैं।।२१९।।

एकद्वित्रीण्यत्र सालानि नृणां
पञ्चत्रीण्येकादि देवालयेषु।
यत्तत् प्रोक्तं धाममानेन पूर्वं
तत्रैवायोज्यं विधिज्ञैर्नराणाम् ॥२२०॥

इति मयमते वस्तुशास्त्रे शालाविधानं
नाम षड्विंशोऽध्यायः

मनुष्यों के गृह में एक, दो या तीन साल (प्राकार) एवं देवालयों में पाँच, तीन या एक साल होता है। विधि के ज्ञाता (स्थपति) को मनुष्यों के आवास के लिये पूर्ववर्णित माप का प्रयोग करना चाहिये।।२२०।।

व्याख्यात्मक टिप्पणी

शाला-विस्तार (श्लोक ६-८)

वराहमिहिर ने बृहत्संहिता (५३) में सामान्यतया विस्तार से लम्बाई को चतुर्थांश अधिक रखने का निर्देश दिया है—सपादानि दैर्घ्येण। (५३.४)

काश्यप का भी यही मत है—विस्तारं पादसंयुक्तं दैर्घ्यं तेषां प्रकल्पेत्।

किन्तु यह छः भाग अधिक (षड्भागसमन्विता दैर्घ्यं—५३.५, षड्भागयुता दैर्घ्यं ५३.१०) भी हो सकता है। एकशाल गृह का दैर्घ्य उसके विस्तार से दुगुना भी हो सकता है—

शालैकेषु गृहेष्वपि विस्ताराद् द्विगुणितं दैर्घ्यम्। (५३.११)

वर्ण के अनुसार भी विस्तार एवं दैर्घ्य का प्रमाण प्राप्त होता है। ब्राह्मण-गृह के

विस्तार से दैर्घ्य दशमांश अधिक, क्षत्रियों के गृहों में अष्टमांश अधिक, वैश्यों के गृहों में षष्ठांश अधिक एवं शूद्रों के गृहों में चतुर्थांश अधिक होना चाहिये—

सदशांशं विप्राणां क्षत्रस्याष्टांशसंयुतं दैर्घ्यम्।
षड्भागयुतं वैश्यस्य भवति शूद्रस्य पादसंयुतम्।। (५३.१३)

शाला की ऊँचाई (श्लोक ९-१०)

वराहमिहिर ने गृह की ऊँचाई को उसके विस्तार के बराबर रखने का निर्देश दिया है—

वास्तुनि यो विस्तारः स एव चोच्छ्रायनिश्चयः शुभदः। (५३.११)

गृहों की ऊँचाई के विषय में वराहमिहिर का यह भी मत है कि भवन के व्यास के प्रमाण के सोलहवें भाग में चार हाथ मिलाकर प्राप्त प्रमाण से प्रथम तल की ऊँचाई, इससे बारह भाग कम द्वितीय तल की ऊँचाई तथा उससे बारह भाग कम तृतीय तल की ऊँचाई रखनी चाहिये—

विस्तारषोडशांशः सचतुर्हस्तो भवेद् गृहोच्छ्रायः।
द्वादशभागेनोनो भूमौ भूमौ समस्तानाम्।। (५३.२२)

वास्तुशास्त्र के विशेषज्ञों के मतानुसार भवन की ऊँचाई सौ हाथ से अधिक होना प्रशस्त नहीं है—

नेच्छन्ति शास्त्रकारा हस्तशतादुच्छ्रितं परतः। (५३.१६)

एकशालगृह के भेद (श्लोक १२-१५)

एकशाल गृह के भेदों के विषय में अन्य वास्तुग्रन्थों में भी उल्लेख प्राप्त होता है जो इस प्रकार है—

१. समराङ्गणसूत्रधार (अ. २३) में अलिन्द के संयोग से एकशाल गृह के सोलह भेद बनते हैं—

ध्रुवं धन्यं जयं नन्दं खरं कान्तं मनोरमम्।
सुमुखं दुर्मुखं क्रूरं सुपक्षं धनदं क्षयम्।।
आक्रन्दं विपुलं चैव विजयं गृहमुत्तमम्। (२३.६-७)

'धन्य' के स्थान पर कुछ वास्तुग्रन्थों में (यथा—वास्तुसौख्यम्) धान्य पाठ भी प्राप्त होता है।

२. अलिन्द के संयोग से अन्य भेद का भी वर्णन प्राप्त होता है। धन्य गृह के मुखभाग में यदि द्वितीय अलिन्द भी हो तो उसकी संज्ञा 'रम्य', नन्द की 'श्रीधर', कान्त की 'मुदित', सुमुख की 'वर्धमान', क्रूर की 'कराल', धनद की 'सुनाम', आक्रन्द की 'ध्वांक्ष' तथा विजय की 'समृद्ध' (समरा०, २३.१२-१९) हो जाती है।

३. ध्रुव आदि एकशाल गृहों में षड्दारु का यदि प्रयोग किया जाय तो उनकी संज्ञा इस प्रकार हो जाती है—

सुन्दरं वरदं भद्रं प्रमोदं विमुखं शिवम्।
सर्वलाभं विशालं च विलक्षमशुभं ध्वजम्।।
उद्योतं भीषणं शून्यमजितं कुलनन्दनम्।

(समरा.-२३.२२-२३)

४. उपर्युक्त ध्रुव आदि भवनों के सामने यदि षड्दारु का प्रयोग किया जाय तो उनकी हंस आदि संज्ञा होती है—

हंसं सुलक्षणं सौम्यं जयन्तं भव्यमुत्तमम्।
रुचिरं सम्भृतं क्षेममाक्षेमं सुकृतं वृषम्।
उच्छन्नं व्ययमानन्दं सुनन्दं चेति कीर्तितम्।।

(समरा.-२३.२५-२६)

५. शाला के मध्य में षड्दारु के तिरछा लगाने से उनके भेद इस प्रकार होते हैं—

अलंकृतमलङ्कारं रमणं पूर्णमम्बरम्।
पुण्यं सुगर्भं कलशं दुर्गतं रिक्तमीप्सितम्।
सुभद्रं वन्दितं दीनं विभवं सर्वकामदम्।।

(समरा.-२३.२९-३०)

६. शाला में षड्दारु के साथ यदि अपवरक का प्रयोग किया जाय तो उनके भेद इस प्रकार होते हैं—

प्रभवं भाविकं क्रीडं तिलकं क्रीडनं सुखम्।
यशोदं कुमुदं कालं भासुरं सर्वभूषणम्।।
वसुधारं धनहरं कुपितं वित्तवृद्धिदम्।
कुलोदयं च विज्ञेयं गुणदोषास्तु पूर्ववत्।।

(समरा.-२३.३२-३३)

७. ध्रुवादि सोलह गृहों के चारो ओर यदि अलिन्द निर्मित हों तो उनकी संज्ञा इस प्रकार होती है—

चूडामणिं प्रभद्रं च क्षेमं शेखरमद्भुतम्।
विकाशं भूतिदं हृष्टं विरोधं कालपाशकम्।।
निरामयं सुशालं च रौद्रं मोघं मनोरथम्।
सुभद्रं चेति सदनं संज्ञाभिरुपलक्षयेत्।।

(समरा.-२३.३५-३६)

८. शाला के मुख के अनुसार उनकी संज्ञा इस प्रकार होती है—

हस्तिनी महिषी गावी छागली च यथाक्रमम्।

(समरा.-२३.३८)

दक्षिण दिशा की शाला (उत्तरमुख) हस्तिनी, पश्चिम शाला महिषी, उत्तर शाला गावी एवं पूर्व शाला छागली या छागी होती है।

इस प्रकार एकशाल गृह के एक सौ चार भेद कहे गये हैं—

वेश्मनामेकशालानां शतं स्याच्चतुरुत्तमम्।

(समरा.-२३.३७)

ब्रह्मशम्भु ऋषि ने इसके एक सौ आठ भेद कहे हैं—

वेश्मनामेकशालानां भवेदष्टोत्तरं शतम्।

(वास्तुसौख्यम्-२२७)

राजवल्लभमण्डन (अ. ६) में भी एकशाल गृहों के लक्षण एवं भेद विस्तार से प्राप्त होते हैं। वास्तुसौख्य (श्लोक २४३-२६४) में इन्हीं ध्रुवादि एकशाल भवनों के भेद उनके तल तथा द्वारों के अनुसार भी प्राप्त होते हैं।

द्विशाल भवन (श्लोक ४७-५५)

द्विशाल भवनों का वर्णन अन्य वास्तुग्रन्थों में इस प्रकार प्राप्त होते हैं—

१. मत्स्यपुराण (२५४) में दक्षिण एवं पश्चिम शालाओं से युक्त भवन को धन-धान्य-फलप्रद, पश्चिम एवं उत्तर शाला वाले भवन को यमसूर्य, उत्तर एवं पूर्व शाला वाले भवन को दण्ड तथा पूर्व एवं दक्षिण शाला वाले भवन को धन कहा गया है—

याम्याऽपराभ्यां शालाभ्यां धनधान्यफलप्रदम्।
क्षेमवृद्धिकरं नृणां तथा पुत्रफलप्रदम्।
यमसूर्यं च विज्ञेयं पश्चिमोत्तरशालकम्।।

राजाग्निभयदं नृणां कुलक्षयकरं च यत्।
उदक्पूर्वे तु शाले दण्डाख्ये यत्र तद् भवेत्।।

अकालमृत्युभयदं परचक्रभयावहम्।
धनाख्यं पूर्वयाम्याभ्यां शालाभ्यां यद् शालकम्।।

(२५४.८-११)

इसी प्रकार पूर्व-पश्चिम की शाला से युक्त द्विशाल भवन चुल्ली तथा उत्तर एवं दाक्षण से युक्त द्विशाल भवन सिद्धार्थ वज्र होते हैं—

चुल्ली पूर्वापराभ्यान्तु सा भवेन्मृत्युसूचनी।
वैधव्यदायकं स्त्रीणामनेकभयकारकम्।।

कार्यमुत्तरयाम्याभ्यां शालाभ्यां भयदं नृणाम्।
सिद्धार्थवज्रवज्याणि द्विशालानि सदा बुधैः।।

(२५४.१२-१४)

२. बृहत्संहिता (५३) में द्विशाल भवनों की संज्ञा सिद्धार्थ, यमसूर्य, दण्ड, वात, गृहचुल्ली एवं काच प्राप्त होती है—

सिद्धार्थमपरयाम्ये यमसूर्यं पश्चिमोत्तरे शाले।
दण्डाख्यमुदक्पूर्वे वाताख्यं प्राग्युता याम्या।।
पूर्वापरे तु शाले गृहचुल्ली दक्षिणोत्तरे काचम्।

(५३.३९-४०)

समराङ्गणसूत्रधार (२२.२-९) में भी द्विशाल भवन के यही नाम प्राप्त होते हैं। इनके अतिरिक्त इनके अनेक भेद एवं उपभेद भी (२२.१०-२०) वर्णित हैं।

त्रिशाल गृह (श्लोक ५६-६२)

त्रिशाल गृहों के भेद अन्यत्र इस प्रकार हैं—

१. मत्स्यपुराण (२५४) में उत्तर शाला से हीन त्रिशाल भवन धान्यक, पूर्व शाला से हीन भवन सुक्षेत्र, दक्षिण शाला से हीन भवन विशाल तथा पश्चिम शाला से हीन भवन पक्षघ्न कहा गया है—

सौम्यशालाविहीनं यत् त्रिशालं धान्यकं च तत्।
* * * * * * * * * *
शालया पूर्वया हीनं सुक्षेत्रमिति विश्रुतम्।
* * * * * * * * * *
शालया याम्यया हीनं यद् विशालं तु शालया।
* * * * * * * * * *
हीनं पश्चिमया यत्तु पक्षघ्नं नाम तत् पुनः। (२५४.४-७)

२. बृहत्संहिता (५३) में त्रिशाल भवनों की संज्ञा हिरण्यनाभ, सुक्षेत्र, चुल्ली एवं पक्षघ्न प्राप्त होती है—

उत्तरशालाहीनं हिरण्यनाभं त्रिशालकं धन्यम्र।
प्राक्शालया वियुक्तं सुक्षेत्रं वृद्धिदं वास्तु।।
याम्याहीनं चुल्ली त्रिशालकं वित्तनाशकरमेतत्।
पक्षघ्नमपरया वर्जितं सुतध्वंसवैरकरम्।।

(५३.३७-३८)

समराङ्गणसूत्रधार (२१.१-२) में भी यही नाम प्राप्त होते हैं। इनके अतिरिक्त अलिन्द एवं मूषा के योग से इनके अनेक भेद प्राप्त होते हैं।

चतुश्शाल गृह (श्लोक ६६-६७)

चतुश्शाल गृहों की यही संज्ञायें अन्य ग्रन्थों में भी प्राप्त होती हैं—

१. मत्स्यपुराण (२५४) में सर्वतोभद्र, नन्द्यावर्त, वर्धमान, स्वस्तिक एवं रुचक चतुश्शाल भवनों के वर्णन तथा लक्षण इस प्रकार प्राप्त होते हैं—

चतु:शालं प्रवक्ष्यामि स्वरूपान्नामतस्तथा।
चतु:शालं चतुर्द्वारैरलिन्दैः सर्वतोमुखम्।।

नाम्ना तत् सर्वतोभद्रं शुभं देवनृपालये।
पश्चिमद्वारहीनं च नन्द्यावर्तं प्रचक्षते।।

दक्षिणद्वारहीनं तु वर्धमानमुदाहृतम्।
पूर्वद्वारविहीनं तत् स्वस्तिकं नाम विश्रुतम्।।

रुचकं चोत्तरद्वारविहीनं तत् प्रचक्षते। (१-४)

२. बृहत्संहिता (५३) में सर्वतोभद्रादि का वर्णन इस प्रकार प्राप्त होता है—

अप्रतिषिद्धालिन्दं समन्ततो वास्तु सर्वतोभद्रम्।
नृपविबुधसमूहानां कार्यं द्वारैश्चतुर्भिरपि।।

नन्द्यावर्तमलिन्दैः शालाकुड्यात् प्रदक्षिणान्तगतैः।
द्वारं पश्चिममस्मिन् विहाय शेषाणि कार्याणि।।

द्वारालिन्दोऽन्तगत: प्रदक्षिणोऽन्य: शुभस्ततश्चान्य:।
तस्मिंश्च वर्धमाने द्वारं तु न दक्षिणं कार्यम्।।

अपरोऽन्तगतोऽलिन्दः प्रागन्तगतौ तदुत्थितौ चान्यौ।
तदवधिविधृतश्चान्यः प्राग्द्वारं स्वस्तिके शुभदम्।।

प्राक्पश्चिमावलिन्दावन्तगतौ तदवधिस्थितौ शेषौ।
रुचके द्वारं न शुभदमुत्तरतोऽन्यानि शस्तानि।। (३१-३५)

३. राजवल्लभमण्डन (७.२७-२९) में अलिन्द द्वार तथा षड्दारु आदि के प्रयोग से चन्द्र, मलय, शोभन, सुकर्ण, नागेन्द्र, चक्र, जयावह, मकरध्वज एवं कामद भेदों का वर्णन किया गया है।

इसके अतिरिक्त चतुश्शाल गृह के भेदों का वर्णन मानसोल्लास (१.३,४५,४९) अग्निपुराण (१०५,१०६), समराङ्गणसूत्रधार (१९) तथा अपराजितपृच्छा (९२) में प्राप्त होता है।

अथ सप्तविंशोऽध्यायः

(चतुर्गृहविधानम्)

वर्णानां गृहविन्यासलक्षणं वक्ष्यतेऽधुना ।

चारो वर्णों के गृह का विधान—चारो वर्णों के गृह-विन्यास के लक्षण का वर्णन अब किया जा रहा है।

❋ वाटभित्तिविधानम् ❋

चतुर्दण्डात् समारभ्य द्विद्विहस्तविवर्धनात् ॥१॥
त्रिंशद्धस्तावधिर्यावदेकैकं गृहमानकम् ।
क्षुद्राणामष्टधा प्रोक्तं मध्यमानां विधीयते ॥२॥
अष्टदण्डात् समारभ्य द्विद्विदण्डविवर्धनात् ।
द्वात्रिंशद्दण्डपर्यन्तं गृहाणां मानमिष्यते ॥३॥
अस्मादाशतदण्डान्तं दण्डाभ्यां वर्धयेत्क्रमात् ।
वाटभित्तेरिदं मानं तदभ्यन्तरतो गृहम् ॥४॥

वाटभित्ति = बाहरी भित्ति का विधान—चार दण्ड (सोलह हस्त) से प्रारम्भ कर दो-दो हाथ बढ़ाते हुये तीस हाथ तक एक-एक गृह का मान होता है। क्षुद्र (छोटे) गृहों के ये आठ प्रकार के मान हैं। अब मध्यम मान वाले गृह (के वाटभित्ति) का मान आठ दण्ड से प्रारम्भ होकर दो-दो दण्ड बढ़ाते हुये बत्तीस दण्ड तक होता है। (उत्तम गृह के मान में) यहाँ से (बत्तीस दण्ड से) प्रारम्भ कर दो-दो दण्ड बढ़ाते हुये एक सौ दण्ड तक ले जाना चाहिये। वाटभित्ति का यह मान गृह के भीतरी भाग से लिया जाना चाहिये।।१-४।।

चतुरस्रं द्विजानां च नृपाणां च विशेषतः ।
अष्टषट्चतुरंशेन दैर्घ्यं स्यात् क्षत्रियादिषु ॥५॥
हीनं षोडशहस्तेभ्यो गृहमानं न कारयेत् ।
नवाष्टसप्तषड्ढस्तैरुत्तुङ्गं तुङ्गमानतः ॥६॥
त्रिचतुर्भागविस्तारा पादोनाग्रविशालका ।
छत्रशीर्षकतुल्याभा चन्द्रनासीविभूषिता ॥७॥

ब्राह्मणों एवं राजाओं के भवन की वाटभित्ति विशेष रूप से चौकोर होनी चाहिये। क्षत्रिय आदि वर्णों (वैश्य एवं शूद्र) के मान में लम्बाई चौड़ाई से आठ भाग, छः भाग एवं चार भाग अधिक होती है। सोलह हाथ से कम माप वाले गृह का निर्माण नहीं करना चाहिये। वाटभित्ति को ऊँचाई नौ, आठ, सात या छः हाथ होनी चाहिये। इसके तल की मोटाई तीन या चार भाग के बराबर होनी चाहिये तथा अग्र भाग (ऊपरी भाग) की मोटाई अधोभाग से चतुर्थांश कम होनी चाहिये। इसका शिरोभाग सीधा अथवा चन्द्राकार नासियों से सुसज्जित होना चाहिये।।५-७।।

चतुर्दिक्षु चतुर्द्वारोपेता तल्पसमायुता ।
द्वारगोपुरसंयुक्ता नानावयवशोभिता ।।८।।
बहिष्ठात् परिखोपेता सर्वरक्षासमन्विता ।
वाटभित्तिरिति प्रोक्ता गृहबाह्यसमावृता ।।९।।

यह चारो दिशाओं में चार द्वारों से युक्त होता है। ये द्वार तल्प (कपाट) युक्त होते हैं। यह विभिन्न अंगों से सुशोभित द्वार-गोपुर से युक्त होता है। इसके बाहर परिखा होती है एवं सभी प्रकार की सुरक्षा व्यवस्था होती है। इस प्रकार वाटभित्ति का वर्णन किया गया है, जो गृह को बाहर से आवृत करती है।।८-९।।

❋ खलूरिखा ❋

मृण्मया वा लुपारूढा तृणादिच्छादनान्विता ।
खलूरिका वा कर्तव्या वेदिकापादशोभिता ।।१०।।

खलूरिखा—अथवा (वाटभित्ति के स्थान पर) खलूरिका का निर्माण होता है। यह मिट्टी से अथवा लकड़ी के लट्ठों से निर्मित होती है, जिसे घास आदि से आच्छादित किया जाता है। यह वेदिका एवं स्तम्भों से युक्त होती है।।१०।।

❋ भिन्नाभिन्नगृहम् ❋

गृहक्रिया हि द्विविधा भिन्नाभिन्नप्रकारतः ।
भिन्नं च पिण्डभेदं च वक्ष्ये स्फुटतरं यथा ।।११।।

संयुक्त एवं पृथक् गृह—गृह-निर्माण भिन्न एवं अभिन्नभेद से दो प्रकार के होते हैं। स्पष्ट रूप से भिन्न एवं पिण्डभेद (अभिन्न) गृह का वर्णन किया जा रहा है।।११।।

असन्धिकं भिन्नगृहं ससन्धिकं ह्यभिन्नकं भिन्नगृहेषु तेषु वै ।
चतुर्गृहं दिक्षु गतं प्रधानकं विदिक्षु वा मण्डपकं खलूरिका ।।१२।।

भिन्न गृह सन्धिरहित होता है। अभिन्न गृह सन्धि से युक्त होता है। भिन्न गृहों में चारो दिशाओं में चार प्रधान गृह निर्मित होते हैं तथा दिक्कोणों में मण्डप या खलूरिका निर्मित होती है।।१२।।

स्याद् वाटभित्तेरबहिः पृथग् गृहं त्रयं द्विकं वैकमसम्पदां पदम् ।
तस्माच्चतुःशालमनिन्दितं परं सविस्तरं तस्य तु मानमुच्यते ॥१३॥

यदि वाटभित्ति के भीतर तीन, दो या एकशाल भवन हो तो वह दुर्भाग्यकारक होता है, इसलिये चतुश्शाल भवन प्रशस्त होता है तथा इसका माप इसके विस्तार के माप से ग्रहण करना चाहिये।।१३।।

नीचानां नीचमानं स्यात् श्रेष्ठानां श्रेष्ठमुच्यते ।
श्रेष्ठमानं निकृष्टानां सर्वदा न प्रयुज्यते ॥१४॥
क्वचिदिष्टं कनिष्ठानां यन्मानं श्रेष्ठजातिषु ।

छोटे लोगों के लिये छोटे मान का प्रयोग करना चाहिये तथा श्रेष्ठ लोगों के लिये उत्तम मान का प्रयोग करना चाहिये। छोटे लोगों के लिये कभी भी उत्तम मान का प्रयोग नहीं करना चाहिये। कहीं-कहीं छोटे लोगों का मान श्रेष्ठ लोगों के लिये भी प्रशस्त होता है।।१४।।

❁ गृहविन्यासः ❁

अल्पत्वे वा महत्त्वे वा सीमासूत्रे विनिश्चिते ॥१५॥
सायते चतुरस्रे वा चतुष्षष्ट्या विभाजिते ।
रज्जुवंशसिराषट्कचतुष्काष्टकसन्धिभिः ॥१६॥

गृह की योजना—गृह छोटे मान का हो या उत्तम मान का हो, सर्वप्रथम इसकी सीमारेखा सूत्र द्वारा निर्धारित करनी चाहिये। आयताकार या चौकोर क्षेत्र को चौसठ पदों में विभाजित करना चाहिये। इसमें छः रज्जु, चार वंश एवं आठ सिरायें इस प्रकार खींचनी चाहिये, जिससे सन्धियाँ निर्मित हों।।१५-१६।।

मर्मशूलं च यत्नेन वर्जयेद् वास्तुकोविदः ।
सूत्रादीनां गृहाङ्गैश्च पीडा चेत् सर्वनाशनम् ॥१७॥
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन सूत्रादीनि विवर्जयेत् ।

वास्तुविद् स्थपति को गृहनिर्माण के समय सूत्रादिकों से निर्मित मर्मशूल को गृह के अवयवों (स्तम्भ-भित्ति आदि) से पीड़ित नहीं करना चाहिये। ऐसा होने पर (गृह एवं गृहस्वामी का) सर्वनाश हो जाता है। इसलिये सभी प्रकार से प्रयत्नपूर्वक सूत्रादि (से निर्मित मर्मस्थलों) का परित्याग करना चाहिये।।१७।।

पूर्वादिमध्यसूत्राणि चान्नं धान्यं धनं सुखम् ॥१८॥
इति नामानि तन्नामा चत्वारि स्युर्गृहाणि च ।
अन्नालयं धान्यालयं धनालयं सुखालयम् ॥१९॥

पूर्व आदि दिशा के मध्य सूत्र अन्न, धान्य, धन एवं सुख संज्ञक हैं। इन्हीं के आधार पर चार शालाओं की संज्ञा अन्नालय, धान्यालय, धनालय एवं सुखालय होती है।।१८-१९।।

❋ मध्यमण्डपप्रमाणम् ❋

कर्तव्यं वास्तुमध्ये तु मण्डपं प्रथमं बुधैः ।
वास्तुव्यासचतुर्भागं मण्डपस्य तु विस्तृतम् ॥२०॥

पञ्चषट्सप्तभागाष्टनवभागैकमेव वा ।
सप्तहस्तादि षण्मानं द्विद्विहस्तविवर्धनात् ॥२१॥

आसप्तदशहस्तान्तं श्रेष्ठमध्यकनिष्ठकम् ।

मध्य मण्डप का मान—बुद्धिमान स्थपति को सर्वप्रथम वास्तु के मध्य में मण्डप का निर्माण करना चाहिये। इसका विस्तार वास्तु क्षेत्र के विस्तार के चार, पाँच, छः, सात, आठ या नवें भाग के बराबर होना चाहिये। श्रेष्ठ (बड़े), मध्यम एवं कनिष्ठ (सबसे छोटे) मण्डप के छः प्रमाण सात हाथ से प्रारम्भ कर दो-दो हाथ बढ़ाते हुये सत्रह हाथ तक जाते हैं।।२०-२१।।

एकभक्त्या द्विभक्त्या वा चतुष्पादाष्टपादकम् ॥२२॥

द्विजभूपतिवैश्यानां युग्मपादं प्रकीर्तितम् ।
शूद्राणामन्यजातीनामयुग्मस्तम्भमिष्यते ॥२३॥

एक भाग या दो भाग प्रमाण वाले मण्डप में चार या आठ स्तम्भ होने चाहिये। ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य के भवन में सम संख्या में स्तम्भ प्रशस्त होते हैं एवं शूद्र तथा अन्य जातियों (छोटी जातियों) में विषम संख्या में स्तम्भ प्रशस्त होते हैं।

❋ मध्यवेदिका ❋

द्विजवन्नृपवैश्यानां वैशिष्ट्यं मध्यवेदिका ।
त्रिकालबलिलब्धा च पुष्पगन्धादिपूजिता ॥२४॥

मध्य वेदी—ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्यों के गृह में मध्यवेदी का विशेष महत्त्व है। यहाँ तीनों कालों (प्रातः, मध्याह्न एवं सायंकाल) में बलि (पूजन सामग्री) प्रदान की जाती है एवं पुष्प तथा सुगन्ध से पूजा की जाती है।।२४।।

सा त्रितालसमुत्सेधा चोत्सेधसमविस्तृता ।
तन्मध्ये ब्रह्मपीठं स्याद् वेदिकार्धप्रमाणतः ॥२५॥

षट्षडङ्गुलहीनं स्यात्तन्मानं नृपवैश्ययोः ।
शूद्राद्यन्तरजातीनां न कुर्याद् ब्रह्मवेदिकाम् ॥२६॥

वेदिका की ऊँचाई तीन ताल (बित्ता, बालिश्त) एवं चौड़ाई ऊँचाई के समान होती है। इसके मध्य भाग में वेदिका के आधे माप से ब्रह्मपीठ का निर्माण होता है। राजा (क्षत्रिय) एवं वैश्य के भवन में इसका मान छः-छः अंगुल कम रखना चाहिये। शूद्र एवं अन्य जातियों के भवन में ब्रह्मवेदिका का निर्माण नहीं करना चाहिये।

❋ मध्यमण्डपलक्षणम् ❋

सायते चतुरस्रे वा तत्तदाकृति मण्डपम्।
पञ्चतालं समारभ्य त्रित्र्यङ्गुलविवर्धनात् ॥२७॥

नवधा तलिपायामाः सप्ततालान्तमानकाः।
पञ्चाङ्गुलं समारभ्य त्रयोदशाङ्गुलान्तकाः ॥२८॥

नवधा पादविष्कम्भास्त्वग्रेऽष्टांशविवर्जिताः।
पादोच्चार्धमधिष्ठानं षडष्टांशोनमेव वा ॥२९॥

पादोच्चे त्रिचतुर्भागं चतुरस्रं च वृत्तकम्।
वस्वस्रं चित्रखण्डञ्च स्तम्भानामाकृतिः स्मृता ॥३०॥

मध्य-मण्डप के लक्षण—मण्डप का निर्माण गृह के आकार के अनुसार आयताकार या चौकोर होता है। स्तम्भ का मान पाँच ताल से प्रारम्भ होकर तीन-तीन अंगुल बढ़ाते हुये सात ताल तक जाता है। इस प्रकार स्तम्भ की लम्बाई नौ प्रकार की होती है। स्तम्भ का विष्कम्भ (घेरा) पाँच अंगुल से प्रारम्भ होकर तेरह अंगुल-पर्यन्त होता है। इस प्रकार पादविष्कम्भ नौ प्रकार का होता है। इसके अग्र भाग (पाद के शीर्ष भाग) का विष्कम्भ (नीचे के माप से) आठ भाग कम होता है। पाद के अधिष्ठान की ऊँचाई स्तम्भ की ऊँचाई की आधी, छः या आठ भाग कम होती है अथवा अधिष्ठान की ऊँचाई स्तम्भ के तीसरे या चौथे भाग के बराबर होती है। स्तम्भों की आकृति चौकोर, वृत्ताकार, अष्टकोण या चित्रखण्ड होती है।।२७-३०।।

शमीखादिरखदिरस्तम्भाश्च द्विजराजयोः।
सिलीन्ध्रं पिशितं मधूकं वैश्यस्तम्भाः प्रकीर्तिताः ॥३१॥

राजादनं च निम्बं च सिलीन्ध्रः पिशितिन्दुका।
शूद्राणां स्तम्भवृक्षाश्च त्वक्साराः सर्वयोग्यकाः ॥३२॥

ब्राह्मणों एवं राजाओं (क्षत्रियों) के स्तम्भ शमी, खादिर, खदिरकाष्ठ से निर्मित होते हैं। वैश्य के स्तम्भ सिलीन्ध्र, पिशित एवं मधूककाष्ठ के होते हैं। शूद्रों के स्तम्भ राजादन, निम्ब, सिलीन्ध्र, पिशित या तिनुक के काष्ठ से निर्मित होते हैं। त्वक्सार (बाँस) के स्तम्भ सभी के लिये अनुकूल होते हैं।।३१-३२।।

पक्वेष्टकाभिः सुधया मण्डपं द्विजभूपयोः ।
वैश्यादीनामपक्वाभिर्नानालङ्कारशोभितम् ॥३३॥

प्रपा वा तत्र कर्तव्या नालिकेरदलच्छदा ।
गृहमण्डपयोर्मध्ये त्रिचतुष्पञ्चषट्कराः ॥३४॥

सर्वतः समविस्तारं प्रकुर्यादावृतं पथम् ।
एकहस्तं द्विहस्तं वा क्षुद्रे मार्गविशालता ॥३५॥

ब्राह्मण एवं राजाओं के मण्डप पक्की ईंटों एवं गारा से निर्मित होते हैं। वैश्यों आदि के मण्डप कच्ची ईंटों से निर्मित होते हैं। सभी मण्डप विविध अलंकरणों से सुसज्जित होते हैं। अथवा (मण्डप के स्थान पर) नारियल के पत्रों से आच्छादित प्रपा का निर्माण होता है। गृह एवं मण्डप के बीच में चारो ओर तीन, चार, पाँच या छः हाथ विस्तार का एवं सभी स्थानों पर समान माप का मार्ग निर्मित करना चाहिये। छोटे भवनों में एक या दो हाथ चौड़ा मार्ग होना चाहिये।।३३-३५।।

अन्नागारादिस्थानानि

अन्नागारादिमध्यं तु वास्तुमध्यात् प्रदक्षिणम् ।
आदित्यनन्दपातालभूताङ्गुलमिति क्रमात् ॥३६॥

अन्नागार आदि (धान्य, धन एवं सौख्य गृह) का मध्य वास्तु के मध्य से दाहिनी ओर होना चाहिये। यह क्रमशः बारह, नौ, सात एवं पाँच अंगुल होना चाहिये। (कहने का तात्पर्य यह है कि ये कक्ष वास्तुमध्य से हटकर दक्षिण भाग में निर्मित होने चाहिये)।।३६।।

धर्मनन्दाष्टधात्वंशा अन्नागारादिपादगाः ॥३७॥

एकैकाङ्घ्रिगतं तत्तत्स्तम्भस्थापनकर्मणि ।
वास्तुमध्यादुदक् पूर्वदक्षिणापरतः क्रमात् ॥३८॥

गृहाङ्घ्रिमध्ययोर्मध्यभित्तिर्मध्यमिति स्मृतम् ।
अन्तर्मुखानि गेहानि वास्तुनश्च बहिर्मुखम् ॥३९॥

अन्नागार आदि (धान्य, धन एवं सुख) के स्तम्भ गृहों के क्रमशः दस, नौ, आठ एवं सातवें भाग से होते हैं। एक-एक स्तम्भ स्तम्भ-स्थापन-कर्म द्वारा स्थापित होना चाहिये। इन्हें वास्तु के मध्य से उत्तर, पूर्व, दक्षिण एवं पश्चिम में क्रमशः स्थापित करना चाहिये। गृह एवं स्तम्भों के मध्य में स्थित भित्ति को मध्यभित्ति कहते हैं। गृहों (कक्षों) के मुख (द्वार) भीतर की ओर एवं वास्तु का (गृह के बाहरी भाग का) द्वार बाहर की ओर होना चाहिये।।३७-३९।।

❋ सुखालयः ❋

महीधरेन्दुभल्लाटमृगादितिपदाश्रितम् ।
सौख्यं महीसुरावासं तत्तारायाममुच्यते ॥४०॥

पञ्चादिनवहस्तान्तं मध्यार्धं च दशार्धकम् ।
सप्तैकादशहस्तं स्यादिति मानत्रयं विदुः ॥४१॥

सुखालय—ब्राह्मणों का सुखालय महीधर, इन्दु, भल्लाट, मृग एवं अदिति के पद पर निर्मित होना चाहिये। उसकी लम्बाई एवं चौड़ाई इस प्रकार है—पाँच हाथ से नौ हाथ तक, साढ़े पाँच से साढ़े दस तक एवं सात हाथ से ग्यारह हाथ तक। इस प्रकार इनका तीन प्रकार का प्रमाण होता है।।४०-४१।।

❋ सामान्यप्रमाणानि ❋

चूल्युच्चं सर्वगेहानां गृहान्तं विपुलं भवेत् ।
पादोदयसमा भित्तिः स्वपादत्रिगुणा ततिः ॥४२॥

सामान्य माप—सभी भवनों की चूली (स्तम्भ का ऊपरी भाग) की ऊँचाई गृह के अन्तिम भाग तक की चौड़ाई के बराबर होनी चाहिये। स्तम्भ की ऊँचाई के बराबर भित्ति की ऊँचाई होनी चाहिये तथा मोटाई (चौड़ाई) स्तम्भ की चौड़ाई की तीनगुनी होनी चाहिये।।४२।।

गेहतारचतुर्भागपञ्चभागान्तरं क्रमात् ।
पादव्यास इति प्रोक्तं गेहव्यासात्करात्तु वा ॥४३॥

यावन्तो विपुले हस्तास्तावदङ्गुलसंख्यया ।
सर्वेषामपि गेहानां स्तम्भविष्कम्भमिष्यते ॥४४॥

दो स्तम्भों के मध्य का अन्तराल भवन की चौड़ाई के तीसरे या पाँचवें भाग के बराबर होना चाहिये। स्तम्भ का व्यास पूर्ववर्णन के अनुसार या भवन के हस्त-माप के व्यास के अनुसार रखना चाहिये। भवन का विस्तार जितने हाथ हो, उतने अंगुल का स्तम्भ का विस्तार होना चाहिये। सभी प्रकार के भवनों के स्तम्भ का विष्कम्भ (विस्तार) इसी प्रकार होना चाहिये।।४३-४४।।

❋ पुनः सुखालयः ❋

महेन्द्रांशे भवेद् द्वारं मुख्यांशे वारिनिःस्रवम् ।
ब्राह्मणानामिदं सर्वं सम्पदां स्यात् सदास्पदम् ॥४५॥

पुनः सुखालय—भवन का द्वार महेन्द्र के पद पर एवं जल की नाली मुख्य

के पद पर होनी चाहिये। इस प्रकार का भवन ब्राह्मणों के लिये सर्व-सम्पत्तिकारक होता है।।४५।।

अन्नालयः

महेन्द्रार्कार्यके सत्ये भृशभागे महानसम्।
त्रिहस्तं पञ्चहस्तं च त्र्यर्धहस्तं षडर्धकम्॥४६॥

चतुर्हस्तं सप्तहस्तं चतुरष्टार्धहस्तकम्।
पञ्चहस्तं नवहस्तं पञ्चमानं महानसे॥४७॥

अन्नगृह—महानस (रसोई-कक्ष) का निर्माण महेन्द्र, अर्क, आर्यक, सत्य तथा भृश के पद पर होना चाहिये। इसका माप पाँच प्रकार का—तीन हाथ एवं पाँच हाथ, साढ़े तीन तथा साढ़े छ: हाथ, चार एवं सात हाथ, साढ़े चार तथा साढ़े आठ हाथ और पाँच एवं नौ हाथ तक होता है।।४६-४७।।

गृहक्षतांशके द्वारं जयन्ते वारिनिःस्रवम्।
प्राच्यावासं नृपस्योक्तं कोशवाहनवर्धनम्॥४८॥

गृह का द्वार गृहक्षत के भाग पर एवं जल-प्रणाल जयन्त के भाग पर होता है। इस प्रकार पूर्व दिशा में स्थित राजा का गृह कोश को लाने वाला एवं वृद्धि करने वाला होता है।।४८।।

धान्यालयः

गृहक्षतार्किगन्धर्वभृङ्गराजे विवस्वति।
धान्यालयं प्रकर्तव्यं तत्तरायाममुच्यते॥४९॥

पञ्चहस्तं नवहस्तं षडर्धं च दशार्धकम्।
सप्तैकादशहस्तं स्यान्नवत्रयोदशहस्तकम्॥५०॥

एकादशपञ्चदशहस्तं पञ्चप्रमाणकम्।

धान्यगृह—धान्यालय की स्थिति गृहक्षत, अर्की (यम), गन्धर्व, भृङ्गराज तथा विवस्वान् के पद पर होनी चाहिये। उसकी लम्बाई एवं चौड़ाई का वर्णन किया जा रहा है—पाँच हाथ तथा नौ हाथ, साढ़े छ: एवं साढ़े दस हाथ, सात एवं ग्यारह हाथ, नौ एवं तेरह हाथ और ग्यारह एवं पन्द्रह हाथ—ये पाँच प्रकार के माप होते हैं।

पुष्पदन्तपदे द्वारं वितथे वारिनिःस्रवम्॥५१॥
विशां दक्षिणवासं स्याद् धनधान्यसुखावहम्।

पुष्पदन्त के पद पर द्वार होना चाहिये तथा वितथ के पद पर जलनिकास होना

चाहिये। वैश्यों का दक्षिण दिशा में आवास धन, धान्य एवं सुख प्रदान करता है।

*** धनालयः ***

पुष्पदन्तेऽसुरे शोषे वारुणे मित्रके पदे ।।५२।।
धनालयं धान्यसमं किञ्चिन्न्यूनत्वमिष्यते ।
शूद्रस्य पश्चिमे वासं धनधान्यशुभप्रदम् ।।५३।।

धनगृह—धनालय पुष्पदन्त, असुर, शोष, वरुण एवं मित्र के पद पर होता है। इसे धान्यालय के समान या उससे कुछ कम होना चाहिये। पश्चिम दिशा में शूद्र का वास धन, धान्य एवं शुभता प्रदान करता है।।५२-५३।।

भल्लाटांशे भवेद् द्वारं सुग्रीवे वारिनिःस्रवम् ।
चतुर्णामपि वर्णानामुक्ता वासविधिक्रमः ।।५४।।

इस भवन में भल्लाट के पद पर द्वार तथा सुग्रीव के पद पर जलप्रणाल होना चाहिये। इस प्रकार चारो वर्णों के आवास की विधि का वर्णन किया गया।।५४।।

*** गृहोर्ध्वभागाङ्गानि ***

स्तम्भस्योपरि कर्तव्यं पोतिकोत्तरवाजनम् ।
तुलाजयन्त्यनुमार्गं फलकां भूमिकल्पनम् ।।५५।।
कपोतं तत्प्रतिश्चैव वितस्तिजलकानि च ।
मुष्टिबन्धं मृणाली च दण्डिकां च लुपाक्रियाम् ।।५६।।
लुपाप्रच्छादनं चैव मुखपट्टिकयान्वितम् ।
गृहस्य दक्षिणे पार्श्वे द्वारं प्रति महद्भवेत् ।।५७।।

गृह के ऊपरी भाग के अंग—स्तम्भ के ऊपर पोतिका, उत्तर, वाजन, तुला, जयन्ती, अनुमार्ग, फलका, ऊपरी भूमि का तल (फर्श), कपोत, उसकी प्रति, वितस्ति-जलक (कार्निस), मुष्टिबन्ध, मृणाली, दण्डिका, लुपा-क्रिया (लुपा का ढाँचा), लुपा-प्रच्छादन तथा पट्टिका से युक्त मुख की रचना होनी चाहिये। गृह के दक्षिण पार्श्व में बड़ा द्वार होना चाहिये।।५५-५७।।

*** वास्तुमण्डपप्रमाणम् ***

द्वित्रिहस्तत्रिहस्तार्धं चतुर्हस्तं च भक्तयः ।
चतुष्पदाद्याद्द्वात्रिंशद्भक्त्या वा वास्तुमण्डपम् ।।५८।।
एकभक्त्याद्येकत्रिंशद्भक्त्यन्ताल्पेऽन्तरप्रपा ।
सपदा च सविष्टा च नालितालदलच्छदा ।।५९।।

वास्तु-मण्डप का मान—मण्डप का प्रमाण दो हाथ, साढ़े तीन हाथ और चार हाथ होता है। अथवा वास्तु-मग्डप (गृह का मण्डप) चार हाथ प्रमाण से प्रारम्भ होकर बत्तीस हाथ तक होता है। छोटे भवन में प्रपा का निर्माण होता है, जिसका प्रमाण एक भक्ति से लेकर इकतीस भक्ति तक होता है। यह ताल एवं नारियल के पत्तों से आच्छादित होता है एवं स्तम्भ तथा बीम से बना होता है।।५८-५९।।

❀ गर्भस्थानम् ❀

गृहाणां गर्भस्थानं तु प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ।
देवानां चैव विन्यासे विशेषेण प्रभागतः ॥६०॥

गर्भ-न्यास का स्थान—अब मैं गृहों के गर्भस्थान का वर्णन पूर्व-वर्णन के अनुसार करता हूँ। यह विशेष रूप से देवों के भाग के अनुसार विन्यास के विषय में है।।६०।।

पुष्पदन्ते च भल्लाटे महेन्द्रे च गृहक्षते ।
दक्षिणे नेत्रभित्तौ तु सौम्यादौ तु चतुर्गृहे ॥६१॥

चार प्रधान भवनों में उत्तर से प्रारम्भ कर पुष्पदन्त, भल्लाट, महेन्द्र एवं गृहक्षत के पद पर भित्ति के नीचे मुख्य द्वार के दाहिने भाग में गर्भन्यास होना चाहिये।।६१।।

भित्तिव्यासे नवाष्टांशे बाह्ये तु चतुरंशकम् ।
अन्तस्त्रयांशकं नीत्वा मध्ये गर्भं निधापयेत् ॥६२॥

भित्ति की चौड़ाई के नौ भाग या आठ भाग करने चाहिये। बाहर से चौथे भाग एवं भीतर से तीसरे भाग को लेकर इन दोनों (बिन्दुओं) के मध्य में गर्भन्यास करना चाहिये।।६२।।

स्वामिवासस्य विस्तारे पञ्चषट्सप्तभागिके ।
नीत्वान्तर्भागिकं नेत्रं तत्प्रदक्षिणभागिके ॥६३॥

गृहस्वामी के कक्ष की भित्ति की चौड़ाई को पाँच, छः या सात भाग में बाँटना चाहिये। भीतर से दाहिने भाग में दो भाग लेना चाहिये।।६३।।

स्तम्भमूले विधातव्यं गर्भं गुह्यतरं वरम् ।
द्वारप्रदक्षिणे स्तम्भे कभित्तौ गूढपादके ॥६४॥

वास्तुमण्डपमध्यस्य दक्षिणे वाङ्घ्रिमूलके ।
पिण्डभिन्नगृहे गर्भस्थानं पञ्चविधं भवेत् ॥६५॥

स्तम्भ के मूल में गर्भन्यास अच्छी तरह छिपा कर करना चाहिये। इसे द्वार के

दाहिने स्तम्भ के नीचे, भीतरी भित्ति के नीचे अथवा छिपे स्तम्भ के नीचे, वास्तु-मण्डल के मध्य से दक्षिण स्तम्भ के नीचे स्थापित करना चाहिये। पिण्डभिन्न (संयुक्त एवं पृथक्) गृह में गर्भ-न्यास के ये पाँच स्थान हैं।।६४-६५।।

❋ मुहूर्तस्तम्भः ❋

तस्योपरि निधातव्यं मुहूर्तस्तम्भमुत्तमम् ।
विधिज्ञैस्तत्र खदिरं खादिरं च मधूककम् ।।६६।।

राजादानं यथासंख्यं विस्तारायाममुच्यते ।
भानुरुद्रदशद्वारवितस्त्यायामसंयुताः ।।६७।।

तत्संख्याङ्गुलविस्तीर्णाः स्वाग्रेऽष्टांशविवर्जिताः ।
भूतसार्धचतुर्वेदगुणतालानिखातकाः ।।६८।।

वृत्तकुड्मलखण्डाग्रबुद्बुदाकृतिशीर्षकाः ।
द्विजादीनां चतुर्णां हि स्तम्भाः सम्यक्प्रपूजिताः ।।६९।।

मुहूर्त्त-स्तम्भ—विधि के ज्ञाता के द्वारा उसके (गर्भन्यास के) ऊपर उत्तम मुहूर्त-स्तम्भ की स्थापना करनी चाहिये। ये स्तम्भ खदिर, खादिर, मधूक या राजादन के काष्ठ से निर्मित होते हैं। इनकी लम्बाई एवं चौड़ाई इस प्रकार कही गई है—इसकी लम्बाई बारह, ग्यारह, दस या नौ बित्ता तथा इसकी चौड़ाई बित्ते के माप के बराबर अंगुल होती है। शीर्ष भाग में इसकी चौड़ाई आठ भाग कम होनी चाहिये। गड्ढे में रक्खा जाने वाला उसकी लम्बाई का पाँच, साढ़े चार, चार या तीन बित्ता के बराबर का भाग होता है। इसके शीर्ष भाग को वृत्ताकार, कमलपुष्प की कली के समान, खण्डाग्र या बुद्बुद के समान निर्मित करना चाहिये। स्तम्भ की पूजा ब्राह्मण आदि चारो वर्णों द्वारा भली-भाँति करनी चाहिये।।६६-६९।।

❋ सामान्यविधिः ❋

पिण्डशाला च कर्तव्या त्यक्तमध्यस्थपादका ।
गृहमध्यमभित्तिश्च पादमध्यमवर्जिता ।।७०।।

तामाश्रित्य तु कुल्याभद्वारद्वयमिहेष्यते ।

सामान्य विधि—पिण्डशाला (सम्पूर्ण भवन का एक भाग) का निर्माण मध्य में स्थित स्तम्भ को छोड़कर करना चाहिये (अर्थात् गृह के मध्य में स्तम्भ नहीं होना चाहिये)। गृह की मध्य भित्ति स्तम्भ के मध्य भाग से सम्बद्ध नहीं होनी चाहिये। इस भित्ति पर दो कुल्याभ द्वार (मुड़ा हुआ द्वार) होना चाहिये।।७०।।

यत्र चाभ्यन्तरद्वारं पूर्वदक्षिणतो दिशि ॥७१॥

दक्षिणे गृहपार्श्वे तु गृहपार्श्वे महानसे।
अभ्यन्तरे तु यद् द्वारं पश्चिमोत्तरतो दिशि ॥७२॥

उत्तरे गृहपार्श्वे तु पार्श्वे पश्चिमतो गृहे।
शालासु भिन्नशालासु सन्धिकर्म न कारयेत् ॥७३॥

(सुखालय) भवन में भीतरी द्वार दक्षिण-पूर्व में होना चाहिये। गृह का पार्श्व दक्षिण भाग में होना चाहिये एवं गृह के पार्श्व (दक्षिण भाग में) रसोई होनी चाहिये। (धान्यालय) भवन का भीतरी द्वार पश्चिमोत्तर दिशा में होना चाहिये। गृह का पार्श्व भाग उत्तर दिशा में होना चाहिये। (धनालय भवन) पार्श्व भाग के पश्चिम में होना चाहिये। भिन्न शालगृहों में शालाओं में सन्धिकार्य नहीं करना चाहिये।।७१-७३।।

देवतास्थापनं पिण्डशालासु तु विधीयते।
इष्टतो बाह्यदेवानां पद्मजस्य निवेशनम् ॥७४॥

शेषाश्च निष्पदाः सर्वे रक्षणार्थं निवेशिताः।

देवों (वास्तुदेवों) की स्थापना पिण्डशालाओं में (भवन के संयुक्त खण्ड में) करनी चाहिये। ब्रह्मा एवं उनके चतुर्दिक् बाह्य देवों की स्थापना उचित रीति से करनी चाहिये। विना पदों वाले शेष सभी देवों को रक्षा के लिये स्थापित करना चाहिये।।७४।।

कदाचित् पिण्डशालायां मध्यं न प्रविधीयते ॥७५॥

पार्श्वयोः पृष्ठतः पूर्वे पादानां च समुच्चयम्।
प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वेण हस्तसंख्यावशात् पुनः ॥७६॥

ऐसा भी कहा गया है कि पिण्डशाला में मध्य भाग में स्तम्भ नहीं होना चाहिये। अब मैं फिर से क्रमानुसार दोनों पार्श्वों में, पीछे तथा सामने स्तम्भों की संख्या का वर्णन हस्तसंख्या (हस्त-माप) के अनुसार करता हूँ।।७५-७६।।

त्रिहस्ते वा त्रिहस्तार्धे स्तम्भा अष्टौ समाहिताः।
चतुर्हस्ते च सार्धे च पञ्चहस्ते च सद्मनि ॥७७॥

द्विरष्टस्तम्भमुद्दिष्टं षट्षडर्धे च सप्तके।
त्रिरष्टाङ्घ्रय उद्दिष्टाः सार्धाष्टनवहस्तके ॥७८॥

चतुरष्टाङ्घ्रयः प्रोक्ता दशार्धैकादशेऽपि च।
पञ्चाष्टस्तम्भसंख्याः स्युः सार्धे द्वादशहस्तके ॥७९॥

त्रयोदशविशाले तु षडष्टैवाङ्घ्रयः स्मृताः।
विस्तारे च तथायामे समाः पादास्तु संख्यया ॥८०॥

भवन का माप (विस्तार) तीन या साढ़े तीन हाथ होने पर आठ स्तम्भ होते हैं। माप चार, साढ़े चार या पाँच हाथ होने पर सोलह स्तम्भ; माप छः, साढ़े छः या सात हाथ होने पर चौबीस स्तम्भ; माप साढ़े आठ या नौ हाथ होने पर बत्तीस स्तम्भ; माप साढ़े दस या ग्यारह हाथ होने पर चालीस स्तम्भ; माप साढ़े बारह या तेरह हाथ विस्तृत होने पर अड़तालीस स्तम्भ होने चाहिये। जिस प्रकार चौड़ाई में उसी प्रकार लम्बाई में भी स्तम्भों की संख्या होनी चाहिये।।७७-८०।।

❋ अलिन्द्रम् ❋

सप्तहस्तं तु विस्तीर्णं षड्भागेन विभाजयेत्।
द्विभागेन मुखेऽलिन्द्रं नवहस्तेऽष्टभागके ॥८१॥
त्रिभागं पुरतोऽलिन्द्रमेकादशविशालके।
दशभागे चतुर्भागमर्कभागे त्रयोदशे ॥८२॥
षडंशं पुरतोऽलिन्द्रमेवं भागक्रमं विदुः।

अलिन्द्र, बरामदा—(गृह का) विस्तार सात हाथ होने पर उसको छः भागों में बाँटना चाहिये। (गृह के) मुखभाग (सामने) दो भाग से अलिन्द्र निर्मित करना चाहिये। नौ हाथ (विस्तार) होने पर आठ भाग करना चाहिये तथा सामने तीन भाग से अलिन्द्र निर्मित करना चाहिये। ग्यारह भाग विस्तार होने पर दस भाग करना चाहिये तथा चार भाग से बरामदा करना चाहिये। तेरह भाग विस्तार होने पर बारह भाग करने चाहिये और छः भाग से सामने अलिन्द्र निर्मित करना चाहिये। अलिन्द्र का भाग इस पर जानना चाहिये।।८१-८२।।

❋ स्वामिस्थानम् ❋

स्वामिस्थानस्य विस्तारं चतुष्पञ्चाशदङ्गुलम् ॥८३॥
अष्टसप्ततिमात्रं हि महत्त्वं तु विधीयते।
षट्षडङ्गुलवृद्ध्या तु पञ्चमानं विधीयते ॥८५॥

गृहस्वामी का स्थान—स्वामी के स्थान का विस्तार चौवन अंगुल होना चाहिये। बड़े गृह में अठहत्तर अंगुल होना चाहिये। प्रारम्भ से लेकर छः-छः अंगुल बढ़ाते हुये इसके पाँच प्रमाण प्राप्त होते हैं।।८३-८४।।

षष्टिभागे कृते स्तम्भे षोडशांशेन वेदिका।
वेदिकाद्विगुणं पादं शेषं प्रस्तरमानकम् ॥८५॥

स्तम्भ की ऊँचाई के साठ भाग करने चाहिये। सोलह भाग से वेदिका का निर्माण

होना चाहिये। वेदिका का दुगुना स्तम्भ होना चाहिये तथा शेष से प्रस्तर की रचना करनी चाहिये।।८५।।

पादबन्धमधिष्ठानं पादं सर्वाङ्गसंयुतम् ।
उत्तरोपरि भूतानि कपोतप्रतिसंयुतम् ॥८६॥

व्यालेभमकरैः सिंहैर्नासिकाद्यैरलंकृतम् ।
द्वारतोरणसंयुक्तं विचित्रान्तरभित्तिकम् ॥८७॥

अधिष्ठान पादबन्ध रीति से निर्मित होना चाहिये एवं स्तम्भ सभी अंगों से युक्त होना चाहिये। उत्तर के ऊपर भूत, कपोत एवं प्रति निर्मित होनी चाहिये। इसे व्याल, गज, मकर, सिंह तथा नासिका आदि अलंकरणों से सुसज्जित करना चाहिये। द्वार तोरण से युक्त हो तथा भित्ति का भीतरी भाग अलंकृत होना चाहिये।।८६-८७।।

स्वामिवासमिदं वासे कर्तव्यं चात्र मण्डपम् ।
न जातु स्वामिनो वासे वंशानुगतशायनम् ॥८८॥

स्वामी का आवास भवन के भीतर होता है एवं वहाँ मण्डप निर्मित करना चाहिये। स्वामी के वास-गृह में शय्या वंश (वास्तुपद की रेखा) पर नहीं होनी चाहिये।।८८।।

स्वामिस्थाने स्थिताः स्तम्भा नेत्रभक्त्या प्रकीर्तिताः ।
एकैकान्तरिताः पादा निरन्तरनिवेशिताः ॥८९॥

मूलस्तम्भार्धविस्तारा यथेष्टालंकृतैर्युताः ।
उपर्युपरि वासानां स्वामिस्थानं विधीयते ॥९०॥

इष्टका सुधया वाऽपि फलकामयभित्तिकम् ।
हेमताम्रादिकं चैव राज्ञां यदि विचित्रकम् ॥९१॥

स्वामी के आवास में स्थित स्तम्भ दो भाग वाले कहे गये हैं; (जबकि शेष स्थान पर स्थित) स्तम्भ एक-दूसरे से पृथक् होकर स्थित होते हैं। स्तम्भ का विस्तार स्तम्भ (की लम्बाई) का आधा होता है एवं इसका अलंकरण इच्छानुसार किया जाता है। स्वामी का स्थान भवन के प्रत्येक तल में होना चाहिये। इसकी भित्तियाँ ईंटों, गारा या फलक से निर्मित होती हैं। राजाओं के आवास की भित्तिं सोने एवं ताम्र आदि धातुओं से निर्मित होती है।।८९-९१।।

अन्नागारादिषु द्वौ द्वौ पाञ्चालादिलुपोच्छ्रयौ ।
लुपाक्रियाक्रमं सर्वं पूर्ववत् परिकल्पयेत् ॥९२॥

धनक्षयो मन्दवेधे तीव्रे स्याद् ऋणबन्धनम् ।
त्रिचूली वैश्यशूद्राणां पञ्च सप्त महीभृताम् ॥९३॥

ब्राह्मणानां नवैवं तु एकादशं तु दैविकम्।
पाषण्ड्याश्रमिणां युग्मसंख्या चूली विधीयते ॥९४॥

प्रधान भवन का आच्छादन—अन्नागार आदि गृहों में ऊपर पाञ्चाल आदि रीतियों से दो-दो लुपायें होनी चाहिये। लुपा-नियोजन एवं उनका क्रम पूर्व-वर्णित विधि से होना चाहिये। लुपाओं के न्यून होने से धन का क्षय होता है एवं अधिक होने से ऋण एवं बन्धन होता है। वैश्य एवं शूद्र के गृहों में तीन चूली तथा राजा के भवन में पाँच या सात चूली होनी चाहिये। ब्राह्मणों के गृह में नौ, देवगृह में ग्यारह, नास्तिकों एवं आश्रमवासियों के गृह में सम संख्या में चूली निर्मित होनी चाहिये।।९२-९४।।

गर्भाधानं चङ्क्रमणं कभित्तिं मुख्यवासके।
शिलास्तम्भं तलं कुड्यं नृणां वासे न कारयेत् ॥९५॥

तृणाद्यैर्मृण्मयं छाद्यं लोष्टैश्छाद्यममृण्मयम्।
ब्रह्मस्थानं तलान्निम्नं गृहान्तःस्थलमिष्यते ॥९६॥

निम्ने गृहस्थले द्वारं प्रच्छन्नाजलभूमिकम्।
सर्वेषामपि वर्णानां पादोच्चार्धं मसूरकम् ॥९७॥

केचित् स्वभर्तृवक्षोरुनाभ्युत्सेधं वदन्ति वै।
अधिष्ठानं च याम्यादि चतुर्गृहविधौ क्रमात् ॥९८॥

प्रधान आवास में गर्भन्यास, चंक्रमण (पैदल चलने का मार्ग) और क भित्ति (मध्य-विभाजक भित्ति) होनी चाहिये। मनुष्यों के आवास में शिलानिर्मित स्तम्भ, तल एवं भित्ति नहीं निर्मित करनी चाहिये। तृण आदि से मृत्तिका-निर्मित भवन का छाद्य तथा अमृण्मय भवन में लोष्ट-निर्मित छाद्य (टाइल्स की छत) निर्मित करना चाहिये। ब्रह्मस्थान का तल (अधिष्ठान से) नीचा होना चाहिये। इसी प्रकार गृह के भीतरी भाग का तल होना चाहिये। गृह का तल नीचा होने पर गृह का द्वार इस प्रकार आच्छादित होना चाहिये, जिससे गृह की वर्षा के जल से रक्षा हो सके। सभी वर्णों के गृह के अधिष्ठान की ऊँचाई स्तम्भ की आधी होनी चाहिये। कुछ विद्वानों के मतानुसार अधिष्ठान की ऊँचाई गृहस्वामी के वक्ष या नाभि के बराबर होनी चाहिये। यह मान दक्षिण दिशा से प्रारम्भ होकर चारो दिशा के भवनों के लिये क्रमशः कहा गया है।।९५-९८।।

एकस्यैव प्रधानत्वादीदृशेषु गृहेषु वै।
तस्य कर्तुश्च भोगानां स्थानं तत्रैव कल्पयेत् ॥९९॥

गृह के अन्य कक्षों की संरचना प्रधान भवन के अनुसार करनी चाहिये। गृहस्वामी

के भोग का स्थान वहीं (निर्दिष्ट स्थल पर) करना चाहिये।।९९।।

भोगविन्यासः

काञ्जीलवणयोः पात्रं प्रागुदग्दिशि विन्यसेत्।
अन्तरिक्षे भवेच्चुल्ली सत्यके स्यादुलूखलम्।
ऐशान्यां पचनस्थानं सर्वेषां देहिनां हितम्॥१००॥

भोग का विन्यास—पके भात के एवं नमक के जल का पात्र पूर्वोत्तर दिशा में रखना चाहिये। अन्तरिक्ष के पद पर चूल्हा, सत्य के पद पर ओखली एवं ईशान के स्थान पर पाकस्थल सभी व्यक्तियों के लिये कल्याणकर होता है।।१००।।

चुल्लीलक्षणम्

वसुभान्वङ्गुलवैपुलोच्छ्रिताभ्यां नयनांशाक्षकराग्रजप्रवृद्ध्या।
सविकाराङ्गुलरत्निकान्तमानं कथितं पञ्चविधं हि चुल्लिभेदम्॥१०१॥

चूल्हे के लक्षण—चूल्हे के पाँच प्रकार कहे गये हैं। इनका विस्तार-मान आठ अंगुल से लेकर दो-दो अंगुल बढ़ाते हुये सोलह अंगुल तक तथा ऊँचाई बारह अंगुल से प्रारम्भ करते हुये तीन-तीन अंगुल बढ़ाते हुये एक हाथ तक होता है।।१०१।।

चतुरर्काद्यवसानमास्यतारं पुटतारं च तथैव पृष्ठकूटम्।
समतुङ्गं विपुलं तु चुल्लिकार्थं ह्यधमानामधमादिमानमेव॥१०२॥

चूल्हे के मुख का विस्तार चार अंगुल से लेकर बारह अंगुल तक और इसी प्रमाण से पुट (चूल्हे के स्थान) की चौड़ाई एवं पृष्ठ कूट (चिमनी) का निर्माण करना चाहिये। इसकी चौड़ाई एवं ऊँचाई समान होनी चाहिये। यह चूल्हे का उपयुक्त प्रमाण है। चूल्हे का सबसे छोटा प्रमाण छोटे लोगों के लिये उपयुक्त होता है।।१०२।।

नरशीर्षकवन्नृपस्य चुल्ली चतुरस्रं द्युसदां महीसुराणाम्।
चतुरायतकं विशां परेषामितरेषामितरेषु सर्वमिष्टम्॥१०३॥

राजाओं के चूल्हे का आकार मनुष्य के शीर्ष के समान, देवों एवं ब्राह्मणों का चूल्हा चौकोर, वैश्यों का चूल्हा आयताकार तथा अन्य आकृति के चूल्हे अन्य वर्ण के लोगों के लिये अभीष्ट होते हैं।।१०३।।

चूलीसंख्यम्

इन्द्वग्निभूतमुनिनन्दकरुद्रसंख्या-
श्चूल्यो नृणाममरधाम्नि समासमाः स्युः।
सर्वाः सुरावनिसुरावनिपेषु योग्याः
शेषेतु तत्तदुदिताश्च मता यमीन्द्रैः॥१०४॥

चूली की संख्या—मनुष्यों तथा देवों के भवन में चूली की संख्या एक, तीन, पाँच, सात, नौ या ग्यारह होती है। इनकी संख्या सम एवं विषम होती है। देवों, ब्राह्मणों एवं राजाओं के भवन में सभी संख्यायें अनुकूल होती हैं। शेष वर्ण के लोगों के भवन में उसी संख्या का प्रयोग करना चाहिये, जैसा विद्वानों ने कहा है।।१०४।।

❋ पुनर्भोगविन्यासः ❋

अन्नप्राशनमार्यांशे चेन्द्रांशे च सविन्द्रके ।।१०५।।
श्रवणं तु विवस्वांशे मित्रांशे तु विवाहकम् ।
क्षौरमिन्द्रजये विद्याद् वायौ सोमे च सम्मतम् ।।१०६।।
व्ययं चोपनयं चैव पितृदौवारिके जले ।
सुगले पुष्पदन्ते च प्रसूतिगृहमिष्यते ।।१०७।।
जलकोशमापवत्से कुण्डमापे विधीयते ।
अङ्कनं तु महेन्द्रांशे पेषणी च महीधरे ।।१०८।।

पुनः भोगें का विन्यास—अन्नप्राशन (भोजन) का स्थान आर्य, इन्द्र तथा सविन्द्र के पद पर होना चाहिये। श्रवण (वेदाभ्यास, अध्ययन) का स्थान विवस्वान् के पद पर, विवाह का स्थान मित्र के पद पर तथा क्षौरकर्म (बाल कटवाने) का स्थान इन्द्रजय, वायु एवं सोम के पद पर कहा गया है। आय-व्यय (हिसाब-किताब) का स्थान पितृ, दौवारिक एवं जल के पद पर और सुगल तथा पुष्पदन्त के पद पर प्रसूतिगृह होना चाहिये। जलकोश (जलसंग्रह) आपवत्स के स्थान पर एवं कुण्ड (जलकुण्ड) आय के पद पर होना चाहिये। अङ्कन (चक्की) महेन्द्र के पद पर तथा पेषणी (सिल) महीधर के पद पर होना चाहिये।।१०५-१०८।।

❋ वस्तुभेदानि ❋

वस्तुभेदं प्रवक्ष्यामि पूर्वोक्ते सद्मनि क्रमात् ।
दिशाभद्राख्यमादौ तु गरुडपक्षं ततः परम् ।।१०९।।
कायभारं तुलानीयमिति वस्तु चतुर्विधम् ।

वास्तु के भेद—पूर्ववर्णित भवनों के क्रम में वास्तुभेद का वर्णन करता हूँ। इनमें प्रथम दिशाभद्र, उसके पश्चात् दूसरा गरुड़पक्ष, तीसरा कायभार एवं चौथा तुलानीय होता है।।१०९।।

❋ दिशिभद्रकम् ❋

गेहायामसमं दिक्षु भाद्रकं दिशिभद्रकम् ।।११०।।

अङ्गणं दिक्षु कर्तव्यं विदिक्षु प्रतिवाटभूः ।
शेषं पूर्ववदुद्दिष्टं विशेषाद् द्विजभूपयोः ॥१११॥

दिशाभद्र भवन—दिशिभद्र भवन में उसकी लम्बाई के समान सभी दिशाओं में भद्रक होना चाहिये। सभी दिशाओं में आंगन तथा दिक्कोणों में प्रतिवाटभू (खुला स्थान या यागस्थल) होना चाहिये। शेष पूर्ववर्णित नियम के अनुसार, विशेष रूप से ब्राह्मण एवं राजाओं के भवन में निर्मित करना चाहिये।।११०-१११।।

गरुडपक्षम्

वेश्मन्यपि यथा राज्ञां गरुडपक्षविधिक्रमः ।

गरुड़पक्ष—गरुडडपक्ष भवन के नियम वही हैं, जो राजभवनों के होते हैं।

कायभारम्

विस्तारद्विगुणायाममायामं पञ्चभागिकम् ॥११२॥

द्विभागं पश्चिमे त्यक्त्वा शेषमष्टाष्टभागिकम् ।
मण्डपादीनि सर्वाणि पूर्ववत् परिकल्पयेत् ॥११३॥

प्रधानं दक्षिणावासं शेषं भोगाधिवासकम् ।

कायभार—इस भवन की लम्बाई विस्तार की दुगुनी होती है एवं लम्बाई के पाँच भाग करने चाहिये। दो भाग पश्चिम में छोड़कर शेष भाग में चौंसठ भाग निर्मित करना चाहिये। मण्डप आदि सभी भागों का निर्माण पहले के समान करना चाहिये। प्रधान भवन दक्षिण दिशा में एवं शेष भोगाधिवास होते हैं।।११२-११३।।

भृङ्गराजनि दौवार्ये सुग्रीवे पितृभागिके ॥११४॥

अरिष्टागारदिष्टं च तत्रोपस्करभूमिकम् ।
वाहनं द्वारवामे च दानशाला च वारुणे ॥११५॥

असुरे धान्यवासं स्यादायुधं चेन्द्रराजके ।
मित्रवासं तथा मित्रे रोगे लूखलयन्त्रकम् ॥११६॥

भूधरे कोशगेहं स्यान्नागांशे घृतमौषधम् ।
जयन्ते चापवत्से च पर्जन्ये च शिवे क्रमात् ॥११७॥

विषं च विषघातं च कूपं देवगृहं भवेत् ।
सवित्राद्यन्तरिक्षान्ते सव्यञ्जनमहानसम् ॥११८॥

वितथे पूष्णि साविन्द्रे भुक्तिगेहं मनोरमम् ।

अरिष्टागार एवं गृह के सामानों का स्थान भृंगराज, दौवारिक, सुग्रीव एवं पितृ के पद पर होना चाहिये। द्वार के वाम भाग में वरुण के पद पर दानशाला, असुर के पद पर धान्यगृह, इन्द्रराज के पद पर आयुध, मित्र के पद पर मित्रवास (अतिथिगृह) रोग के पद पर उलूखल यन्त्र (ओखली), भूधर के पद पर कोश-गृह, नाग के पद पर घी एवं औषध, जयन्त के पद पर विष, आपवत्स के पद पर विषघात, पर्जन्य के पद पर कूप तथा शिव के पद पर देवगृह होना चाहिये। सवित्र से अन्तरिक्ष के पद तक खाद्यसामग्री एवं रसोई का स्थान होना चाहिये। वितथ, पूषा एवं सविन्द्र के पद पर भुक्तिगेह (भोजनशाला) होनी चाहिये।।११४-११८।।

एवमैश्वर्ययुक्तानां वैश्यानां प्रविधीयते ॥११९॥
विशां यथार्हकं सर्वं त्यक्तपश्चिमभागकम् ।
कायभारमितिं प्रोक्तं तुलानीयं प्रवक्ष्यते ॥१२०॥

यह वैश्यों में ऐश्वर्यशाली लोगों के लिये है। कायभार संज्ञक भवन पश्चिम भाग को छोड़कर सभी वैश्यों के लिये अनुकूल होता है। अब तुलानीय भवन का वर्णन किया जा रहा है।।११९-१२०।।

तुलानीयम्

विस्तारद्विगुणायाममायामं सप्तभागकम् ।
त्रिभागं वस्तुमध्ये तु चतुष्षष्टिविभाजिते ॥१२१॥
मण्डपादीनि सर्वाणि पूर्ववत् परिकल्पयेत् ।
तत्पूर्वापरयोर्द्विद्विभागं त्यक्त्वा प्रयत्नतः ॥१२२॥
तत्र स्थानमलङ्कुर्याद् यथायुक्ति विचक्षणः ।

तुलानीय—तुलानीय भवन की लम्बाई उसकी चौड़ाई की दुगुनी होती है। लम्बाई के सात भाग किये जाते हैं। वास्तु-मध्य में तीन भाग लिया जाता है एवं चौंसठ पदों में बाँटा जाता है। मण्डप आदि सभी अंगों का निर्माण पहले के समान होता है। पूर्व एवं पश्चिम में दो-दो भाग प्रयत्नपूर्वक छोड़कर मध्य स्थान को विद्वान् व्यक्ति को उचित रीति से आवश्यकतानुसार अलंकृत करना चाहिये।।१२१-१२२।।

वायुभल्लाटसोमेषु भवेदास्थानशालकम् ॥१२३॥
मुख्यांशे लूखलं चापे गणिकानां निवेशनम् ।
वाहनं पुरतो वामे शेषं तत्र यथेष्टतः ॥१२४॥
शूद्राणां भोगयुक्तानामेवं सम्यक् प्रकीर्तितम् ।

वायु, भल्लाट एवं सोम के पद पर आस्थानशाला (स्वागतकक्ष) होना चाहिये। मुख्य के पद पर ओखली, आप के पद पर गणिकाओं का स्थान, वाहन सामने (द्वार के) वाम भाग में तथा शेष स्थान इच्छानुसार निर्मित करना चाहिये। समृद्ध शूद्रों के स्थान का इस प्रकार भली-भाँति वर्णन किया गया।।१२३-१२४।।

पर्यन्ते भित्तिके तस्मिन् जलपातं कुलक्षयम् ।।१२५।।
नीव्रसंक्रमणं तस्मिन्नास्ति चेद् यदि वेश्मनि ।
सर्वेषामपि वर्णानां सर्वसम्पत्क्षयो भवेत् ।।१२६।।

यदि भवन के बाहर भित्ति पर चारो ओर जल गिरे तो कुल का नाश होता है। यदि भवन की छत का किनारा (भित्ति) में संक्रमित न हो तो सभी वर्ण वालों की सम्पूर्ण सम्पत्ति का नाश हो जाता है।।१२५-१२६।।

गृहविस्तारमानेन चायामेन गृहोन्नतम् ।
उक्तप्रकारं शुभदमन्यथा चेद् विनाशनम् ।।१२७।।

गृह के विस्तार के प्रमाण से एवं लम्बाई के मान से गृह की ऊँचाई रखनी चाहिये। इस प्रकार से निर्मित भवन प्रशस्त होता है, इससे विपरीत होने पर विनाश का कारण बनता है।।१२७।।

द्वारमानानि

स्तम्भायामेऽष्टांशके सार्धषट् तु
द्वारायामं नन्दभागे तदर्धे ।
त्यक्त्वार्धांशं शेषभागं विशालं
द्वारं नृणां धाम्नि कुर्याद् विधिज्ञैः ।।१२८।।

द्वार के मान—विधि के ज्ञाता (स्थपति) को मनुष्यों के भवन के द्वार का निर्माण इस प्रकार करना चाहिये। स्तम्भ की लम्बाई के आठ भाग करने चाहिये। उसके साढ़े छः भाग से द्वार की लम्बाई रखनी चाहिये। लम्बाई के नौ भाग करके उसके आधे भाग को छोड़ देना चाहिये। शेष भाग के बराबर द्वार की चौड़ाई रखनी चाहिये।।१२८।।

पादायामे पञ्चभागे युगांशं
द्वारायामं शेषभागं षडंशम् ।
त्र्यर्धं द्व्यर्धं चोत्तराधः प्रतिः स्याद्
द्वारे बन्धं पूर्ववत्तस्य तारम् ।।१२९।।

स्तम्भ की लम्बाई के पाँच भाग करने चाहिये। चार भाग से द्वार की लम्बाई रखनी

चाहिये। शेष भाग के छः भाग करने चाहिये। साढ़े तीन भाग से उत्तर (लिन्टल) तथा ढ़ाई भाग से प्रति होनी चाहिये। द्वार पर बन्ध (बन्द करने वाला भाग) होना चाहिये, जिसकी मोटाई पूर्ववर्णित होनी चाहिये।।१२९।।

❋ कर्मकालः ❋

तरुणरविमयूखप्रेक्षणादन्नशालं
ह्यतिनतमपराह्णे वारुणाद्रश्मिजालम्।
धनगृहमतितुङ्गं दुर्निरीक्षं त्रिशङ्को-
रतितरमुरुतुङ्गं दक्षिणागारमिष्टम् ।।१३०।।

मुनिशुभकररश्मिप्रेक्षणादत्र हेतोः
सुखगृहमतिनीचं चाथ कर्तव्यमेव।
द्विजनृपवणिजां वै सद्मनां शूद्रकाणा-
मुदयनतविभागं प्रोक्तमाद्यैर्मुनीन्द्रैः ।।१३१।।

उदित होते हुये सूर्य की किरणों से जब (शङ्कु की छाया पड़े) तब अन्नशाला का निर्माण करना चाहिये। दोपहर के पश्चात् जब सूर्य की किरणें पश्चिम से अत्यन्त ढलकर आती हैं, उस समय अति उन्नत धनगृह निर्मित होना चाहिये। दक्षिण गृह अत्यन्त ऊँचा एवं विस्तृत होना चाहिये (इस समय सूर्य दक्षिण में होता है)। सुख-गृह का निर्माण उस समय करना चाहिये, जब सूर्य की किरणें उत्तर दिशा से आती हों या जब किरणें सुखद हों। प्राचीन मनीषियों के अनुसार ब्राह्मण, राजा (क्षत्रिय) वैश्य एवं शूद्रों के भवन का निर्माण सूर्य के उदित होने एवं डूबने के समय के अनुसार करना चाहिये।।१३०-१३१।।

❋ द्वारस्थानम् ❋

गृहगतवरमैशं राक्षसे पुष्पदन्ते
शुभकरमथ भल्लाटांशकेंऽशे महेन्द्रे।
धनकुलपशुवृद्धिं शंसते तस्य भर्तु-
र्गृहगतशुभमानं पादमध्यं च भित्तेः ।।१३२।।

द्वार का स्थान—गृह का मुख्य प्रवेशद्वार राक्षस, पुष्पदन्त, भल्लाट या महेन्द्र के पद पर प्रशस्त होता है। यह गृहस्वामी के धन, वंश एवं पशुओं की वृद्धि करता है। गृह की भित्ति एवं स्तम्भ के मध्य में स्थित प्रवेशद्वार प्रशस्त होता है।।१३२।।

❋ वासविन्यासः ❋

दक्षिणावसथकं गृहेशितुर्वामरङ्गमुदितं तु योषितः।
तद्विपर्ययमशोभनं तयोश्चित्तदुःखमनिशं ददाति हि ।।१३३।।

गृह में वास-योजना—गृहस्वामी का कक्ष भवन के दाहिनी ओर एवं उसकी स्त्री का कक्ष बाँयीं ओर होना चाहिये। इसके विपरीत होने पर प्रशस्त नहीं होता है एवं यह स्थिति उनके चित्त को सदैव दु:खी बनाती है।।१३३।।

मध्यं प्रोक्तं वस्तुगेहाङ्घ्रिकानां
भित्तेर्युक्त्या तत् क्रमं सम्पदृद्ध्यै।
तत्तन्मिश्रं सर्वसम्पत्क्षयं स्यात्
तस्मात सम्यक् सम्परीक्ष्यैव कुर्यात् ॥१३४॥

सम्पत्ति एवं समृद्धि के लिये गृह का निर्माण वास्तु-क्षेत्र के मध्य में, गृह के मध्य में, स्तम्भ एवं भित्ति के विषय में जिस प्रकार कहा गया है, उसी प्रकार करना चाहिये। इनके आपस में मिश्रित हो जाने पर सभी प्रकार की सम्पत्तियों का नाश होता है। अत: निर्माणकार्य भली-भाँति परीक्षा करके ही करना चाहिये।।१३४।।

आरम्भकाल:

मेषे वृषे चान्नगृहं प्रकुर्या-
न्मृगेन्द्रके कर्कटके च धान्यम्।
धनं तुलायामथ वृश्चिके वा
सुखालयं वै मकरे च कुम्भे ॥१३५॥

अनिमिषयमकन्याकार्मुके संस्थिते चेत्
सकलदिशि न कुर्यान्मन्दिरं कर्मविद्वान्।
यदि विधिमनवेक्ष्य स्वेच्छया कर्तुमिच्छेद्
व्रजति यमपुरं वा दासनाशो भवेद् वा ॥१३६॥

इति मयमते वस्तुशास्त्रे चतुर्गृहविधानं
नाम सप्तविंशोऽध्याय:

गृह-निर्माण का आरम्भकाल—सूर्य के मेष और वृष में जाने पर अन्नगृह का निर्माण करना चाहिये। कर्क और सिंह में सूर्य के रहने पर धान्यालय का निर्माण करना चाहिये। तुला और वृश्चिक में सूर्य के रहने पर धनालय एवं मकर तथा कुम्भ में सूर्य के होने पर सुखालय का निर्माण होता है। सूर्य के मीन, मिथुन, कन्या या धनु में होने पर कर्मवित् व्यक्ति को सभी दिशाओं में (अर्थात् किसी भी दिशा में) घर नहीं बनवाना चाहिये। यदि कोई व्यक्ति इस व्यवस्था की उपेक्षा कर अपनी इच्छा के अनुसार गृह-निर्माण प्रारम्भ करता है तो वह या तो यमलोक जाता है अथवा उसके सेवकों का नाश होता है।।१३५-१३६।।

व्याख्यात्मक टिप्पणी

भिन्नाभिन्न शालगृह (श्लोक ११-१४)

मनुष्यालयचन्द्रिका (अ. ४) में भिन्नाभिन्न शालगृह का वर्णन इस प्रकार प्राप्त होता है—

भिन्नाभिन्नवशाद् द्विधैव विदिता शालात्र भिन्ना पृथग्
दिक्स्था स्वाङ्गविशेषपूर्णविभवा कोणालयासम्भवात्।
अन्तर्बाह्यभवोत्तराभिमिलनादेकीभवेत् कोणगे-
हापर्यन्तलसद्ध्वजो भवति यत्राभिन्नशालैव सा।। (४.११)

मर्मशूल-परिहार (श्लोक १६-१८)

मर्मशूल के परिहार के विषय में सभी वास्तुग्रन्थों में निर्देश प्राप्त होता है।

१. वास्तुविद्या (अ.६) में मर्मस्थानों का वर्णन इस प्रकार है—

तिस्रो रेखाश्चतुर्दिक्षु बाह्यस्थाः सन्धयः स्मृताः।
मर्माणि सूत्रसन्धीनि चोपमर्मपदस्थितम्।।
अनुवंशद्वयस्यापि सन्धिर्लाङ्गलमुच्यते।
मूर्ध्नि वक्त्रे च नाभौ च महामर्म स्तने हृदि।।(६.२७-२८)

२. शिल्परत्न (पूर्व. १३) में इस प्रकार वर्णन प्राप्त होता है—

दक्षिणादिक्रमाज्ज्ञेया तद्रज्जुयुतिषु क्रमात्।
अष्टाभिः सङ्गतिर्यत्र नाडीरज्जुविमिश्रितैः।।
सूत्रैस्तत्र महामर्म ब्रह्मस्थानस्य कोणतः।
प्रत्येकं दिक्षु षट्कानि त्रिकाणां सन्ति पार्श्वतः।।
नाडीद्वयसमायोगान्युपमर्माणि तानि तु।
चतुर्विंशच्चतुष्काणि नाडीमर्माणि सन्ति च।।
रज्जुमर्माणि रज्जुभ्यां चतुष्कं नवकं भवेत्। (५-८)

द्वारभेद (श्लोक १२८-१२९)

राजवल्लभमण्डन में प्रमाण की दृष्टि से दस प्रकार के द्वारों का वर्णन किया गया है, जिनमें एक सौ पचास अंगुल ऊँचाई से लेकर एक सौ दस अंगुल तक द्वारों का उल्लेख प्राप्त होता है—

दैर्घ्ये सार्द्धशताङ्गुलं च दशभिर्हीनं चतुर्धावधिः
प्रोक्तं वाथ शतं त्वशीतिसहितं युक्तं नवत्या शतम्।

तद्वत् षोडशभिः शतं च नवभिर्युक्तं तथाशीतिकं
द्वारं मत्स्यमतानुसारि दशकं योग्यं विधेयं बुधैः।। (५.२९)

मत्स्यपुराण (२७०.२१-२४) में भी दस प्रकार के द्वारों के प्रमाण वर्णित हैं।

द्वार-स्थिति (श्लोक १३२)

गृहरत्नभूषण (११४,११५) में द्वार की स्थिति इस प्रकार वर्णित है—

पूर्वे जयेन्द्रयोरंशे याम्ये ज्ञेयं गृहक्षते।
गन्धर्वांशेऽपि सुशुभं पुष्पदन्तजलेशयोः।।
अंशे पश्चिमदिग् यद्वा सौम्ये भल्लाटसोमयोः।
अन्यांशे न शुभं ज्ञेयं क्वचिच्च वितथे शुभम्।।

अथाष्टाविंशोऽध्यायः

(गृहप्रवेशः)

अथ निष्पन्नगृहं प्रविश्य तं त्वरितं न प्रविशेदनिष्ठितम्।
यदि निष्पन्नमवेशितं चिरं सुरभूतादिगणाश्चरन्त्यलम्॥१॥

गृह में प्रथम प्रवेश—जब गृह निर्मित हो जाय तब गृह में प्रवेश करना चाहिये। विना पूर्ण रूप से निर्मित गृह में प्रवेश करने की शीघ्रता नहीं करनी चाहिये। गृह-निर्माण के पूर्ण होने के पश्चात् गृह-प्रवेश करने में विलम्ब होने पर उस गृह में देव एवं भूत आदि गणों का वास हो जाता है।।१।।

अथ कर्मान्तमुपेत्य तद् गृहं शुभनक्षत्रतिथौ च वारके।
शुभहोरासुमुहूर्तकांशके करणे लग्नयुते विशेच्छुभम्॥२॥

जब गृह-निर्माण का कार्य समापन की ओर पहुँचे तब शुभ नक्षत्र, तिथि, वार, शुभ होरा, शुभ मुहूर्त, अंश, करण एवं शुभ लग्न में गृहप्रवेश करना चाहिये।।२।।

अधिवासः

पूर्वेद्युर्वासयित्वा द्विजपशुवृषभांस्तर्पयित्वा जलाद्यैः
स्वाध्यायैर्होमशान्तिद्विजवरमुदितैस्तद्गृहं स्वस्तिवाच्यैः।
पूतं कल्कैर्हरिद्रागरुसरुषपकुष्ठादिकानां वचानां
कुड्ये संलेपितं तैः सह भुवि सलिलैश्चन्दनस्यानुसिक्तम्॥३॥

प्रवेश से पूर्व के कृत्य—गृहप्रवेश के एक दिन पूर्व गृह में ब्राह्मण, पशु एवं वृषभ को बसाना चाहिये एवं जल आदि से उन्हें तृप्त करना चाहिये। स्वाध्याय (वेद-पाठ) तथा होम आदि तथा स्वस्तिवाचन से ब्राह्मण को प्रसन्न करना चाहिये। गृह की सफाई करनी चाहिये। भित्ति पर हरिद्रा (हल्दी), सरसों, कुष्ठ (कूट), वचा के मिश्रण का लेप करना चाहिये तथा भूमि पर चन्दन के जल का छिड़काव करना चाहिंये।।३।।

भवनस्योत्तरपूर्वभागे त्वधिवासं निशि चारभेत् सुधीः।
सवितानादि पताकलङ्कनैर्बहुवर्णाम्बरचित्रमण्डपे॥४॥

भवन के उत्तर-पूर्व भाग में निशाकाल में (पूर्वसन्ध्या में) बुद्धिमान मनुष्य को

अधिवास-कर्म करना चाहिये। गृह को वितान, पताका तथा रंग-बिरंगे वस्त्रादिकों से मण्डप को सजाना चाहिये।।४।।

सितवस्त्रधरः सुवर्णयज्ञः सितपुष्पश्च सितानुलेपनः ।
स्थपतिः सुमनाः सुवर्णरत्नैर्विविधैर्निष्ठितभूषणान्वितः ।।५।।

स्थपति को श्वेत वस्त्र, सोने का यज्ञोपवीत, श्वेत पुष्प, श्वेत लेप (चन्दन), सोने एवं रत्नों से युक्त विविध आभूषण को धारण कर प्रसन्न मन से उपस्थित रहना चाहिये।।५।।

कलशस्थापनम्

कलशान् पञ्चकपञ्चवार्युतान् नववस्त्रान् मणिहेमसंयुतान् ।
मतिमान् शालिगिरौ सतण्डुले ह्युपपीठे तु पदे न्यसेत्ततः।।६।।

कलश की स्थापना—बुद्धिमान व्यक्ति को पच्चीस जलपूर्ण कलश को नये वस्त्रों से लपेटना चाहिये एवं उनमें सुवर्ण तथा रत्न डालना चाहिये। इन्हें तण्डुल (चावल) से युक्त उपपीठ वास्तुपद पर स्थापित करना चाहिये।।६।।

बल्यन्नं सितरक्तपीतकृष्णं मुद्गान्नं पयसान्नकं यवान्नम् ।
पिङ्गान्नं कृसरान्नकं गुलान्नं शुद्धान्नं कलशोत्तरे न्यसेत् ।।७।।

इन कलशों के उत्तर दिशा में बलि के अन्न (देवों को समर्पित करने वाले अन्न) श्वेत, लाल, पीला एवं कृष्ण वर्ण (का चावल), मूँग, पायस (दूध में पका भात), पका यव, पिङ्गान्न (केसर का चावल), कृसर (खिचड़ी), गुड़ में पका भात एवं शुद्धान्न (केवल भात) रखना चाहिये।।७।।

पर्यङ्कोपरितल्पबन्धने शयने दीपतुरीयसंयुते ।
निवसेदम्बरवेष्टिते शुभे स्थपतिः शम्बरमुच्यते सदा ।।८।।

इसके पश्चात् स्थपति पलंग पर बैठता है, जिस पर सुन्दर विस्तर बिछा होता है, चार दीपक होते हैं तथा उस पर वस्त्र (चादर) होता है। स्थपति सदैव 'शम्बर' (शुभ वाचक शब्द) बोलता रहता है।।८।।

बलिचरुसकलान्नं रत्नहेमप्रयुक्तं
दधिगुलमधुपुष्पाज्याक्षताभिस्तु लाजैः ।
रजनितगरुकुष्ठानां प्रयोगेऽच्छकल्कै-
र्युतमपि हि तदानीं निक्षिपेद्धेमपात्रे ।।९।।

एक सुवर्णपात्र में सभी अन्न, बलि एवं चरु (हवन के लिये खीर), रत्न, सुवर्ण,

दही, गुड़, मधु, फूल, घी, अक्षत, धान का लावा, रजनि, तगरु, कुष्ठ (कूट), अच्छकल्क (हल्दी का मिश्रण) आदि रक्खा जाता है।।९।।

भवनविहितदेवान् स्वस्वकोष्ठे निधाय
स्थपतिरमलकुम्भान् हस्तमात्रावलैश्च।
सिततरकुसुमं वै यूपदीपं च गन्धं
दृढतरमतिमद्भिस्तक्षको धारयित्वा ॥१०॥

प्रणवादिनमोऽन्तकेन नाम्ना
विहितं स्वाम्बरमादरात् सुरेभ्यः।

इसके पश्चात् स्थपति सभी देवों को (वास्तुमण्डल के) उनके कोष्ठों में रखता है और निर्मल कलशों को एक हाथ की पंक्ति में रखता है। तक्षक (स्थपति) इन कलशों को श्वेत पुष्प, यूप (काष्ठ की खूँटी, जिसका प्रयोग यज्ञभूमि में होता है), दीप तथा गन्ध अर्पित करता है। प्रत्येक देवता को आदरपूर्वक ओंकार से प्रारम्भ कर नमः पर्यन्त नाम लेते हुये बलि प्रदान करता है, ऐसा प्राचीन विद्वानों का मत है।

✵ बलिविधानम् ✵

प्रथमं विधिना त्वजाय नत्वा
बलिमात्रं विनिवेदयेत्तु तस्मै ॥११॥

स्वायम्भुवः स्वस्य चतुर्मुखेषु
चतुष्टयानां दिशि तैतिलानाम्।
यथार्हकैः स्वैर्बलिभिश्च पुष्पकैः
सगन्धधूपादिभिरत्र तर्पयेत् ॥१२॥

बलिप्रदान—सबसे पहले विधिपूर्वक अज (ब्रह्मा) को नमन करते हुये उन्हें बलि-प्रदान करे। इसके पश्चात् चतुर्मुख ब्रह्मा के चारो दिशाओं में स्थित देवों को उनके अनुकूल बलि, पुष्प, गन्ध एवं धूप आदि से तृप्त करना चाहिये।।११-१२।।

इन्द्राय पूर्वदिशि बन्धुभिरग्नयेऽग्नौ
याम्ये यमाय निर्ऋतौ सहबन्धुवर्गैः।
पित्रे प्रतीच्यपि बलिं वरुणाय दद्याद्
वायौ सबन्धुरनिलाय बलिं नयेद्धि ॥१३॥

सोमाय सोमपदके दिशि चोत्तरस्यां
मित्रैः सह स्वबलिमत्र निवेदयेत्तत्।
पूर्वोत्तरे दिशि शिवाय सबन्धुवर्गै-
रेवं हि दिक्षु च विदिक्षु बलिं विदध्यात् ॥४॥

बन्धुओं के साथ इन्द्र के लिये पूर्व दिशा में, अग्नि के लिये अग्निकोण में, यम के लिये दक्षिण दिशा में, निर्ऋति एवं उसके पितृ आदि बन्धु-वर्ग के लिये नैर्ऋत्य कोण में, पश्चिम में वरुण के लिये, वायव्य कोण में परिवार के साथ अनिल के लिये, सोम के पद पर उत्तर दिशा में मित्रों के साथ सोम के लिये बलि प्रदान करना चाहिये। पूर्वोत्तर दिशा में बन्धु-बान्धवों के सहित शिव के लिये बलि प्रदान करना चाहिये। इस प्रकार सभी दिशाओं एवं कोणों में बलि प्रदान करना चाहिये।।१३-१४।।

ईशे चरक्यै ज्वलने विदार्यै स्यात् पूतनायै पितृबाह्यभागे।
एवं पुनर्मारुतबाह्यभागे स्यात् पापराक्षस्यपि भोजनीया ॥१५॥

चरकी के लिये ईश पद (के बाहर), विदारी के लिये ज्वलन (के स्थान के बाहर), पूतना के लिये पितृपद के बाहर, इसी प्रकार पापराक्षसी के लिये मारुत के पद के बाहरी भाग पर बलि-कर्म करना चाहिये।।१५।।

स्तम्भे वनाय च तृणाय दिवाचरेभ्यो
दिक्ष्वेव तत्र च विदिक्षु निशाचरेभ्यः।
उर्व्यां क्षिपेद् बलिमथोरगदेवताभ्यो
धर्माय कीर्य हि दिवेऽखिलदेवताभ्यः ॥१६॥

द्वारस्य वामपदके मनवे परेभ्यो
दद्युः श्रियै च शयने विधिना बलिं तत्।

स्तम्भ पर वन (वृक्ष) एवं घास के लिये, दिन में विचरण करने वालों के लिये दिशाओं में, रात्रि में विचरण करने वालों (राक्षस आदि) के लिये दिक्कोणों में बलि प्रदान करना चाहिये। सर्प एवं देवताओं के लिये (भूमि के नीचे स्थित देवों के लिये) पृथ्वी पर बलि डालनी चाहिये। धर्म एवं सभी देवों के लिये आकाश की ओर बलि फेंकनी चाहिये। द्वार के वाम भाग में मनु एवं अन्य को तथा शयन पर श्री को बलि प्रदान करना चाहिये।।१६।।

शालासु मण्डपसभास्वथ मालिकायां
मध्येऽङ्गणे तु मुखमण्डपके विमाने ॥१७॥

धाम्न्यष्टकाष्टपदकेऽभ्यमरान्तरांस्ता-
नाहूय गन्धकुसुमादिभिरर्चयित्वा।
दत्त्वोदकं सुबलिमत्र निधाय पश्चाद्
देयं जलं स्थपतिना विहितं च धूपम् ॥१८॥

शालाओं में, मण्डप में, सभागारों में, मालिकाओं में, मध्य आँगन में तथा विमान

(मन्दिर) में, मुख्य मण्डप में भवन के आभ्यन्तर देवों का चौंसठ पद वास्तु-मण्डल में आवाहन कर गन्ध-पुष्प आदि से उनकी पूजा करनी चाहिये। उनको जल तथा सुन्दर बलि प्रदान करने के पश्चात् जल एवं धूप स्थपति द्वारा प्रदान किया जाना चाहिये।

तुलसिसर्ज्जरसार्जुनमञ्जरीघनवचाकपटोलसगुग्गुलः ।
त्रपुषहिङ्गुमहौषधिसर्षपाः कुरवकोऽत्र सदैव सधूपराट् ॥१९॥

उत्तम धूप में तुलसी, सर्ज्जरस (साल वृक्ष का रस), अर्जुन, मञ्जरी, घनवचाक, पटोल (ककड़ी की एक जाति), गुग्गुल, त्रपुष, हिंगु, महौषधि (दूर्वा), सरसो तथा कुरवक (सदाबहार पुष्प) होते हैं।।१९।।

ददति धान्यधनानि बहून्यहो हरति भूतपिशाचसराक्षसान् ।
दहति कीटभुजङ्गममक्षिकान् मशकमूषिकलूतिकलूतकान् ॥२०॥

(उपर्युक्त धूप) प्रभूत धन एवं अन्न प्रदान करता है। भूत, पिशाच एवं राक्षसों को दूर करता है और कीट, सर्प, मक्खी, मच्छर, चूहा, मकड़ी एवं चीटियों का दाह करता है (अर्थात् ये घर से दूर रहते हैं)।।२०।।

पश्चाच्च पात्रान्तिकपश्चिमांशे
धान्यास्तरे तक्षकसाधनानि ।
सर्वाणि विन्यस्य बलिं च दत्त्वा
तेभ्यो वदेत् संग्रहमध्यमस्थः ॥२१॥

इसके पश्चात् पात्रों के पश्चिम भाग में धान्य के बिछौने पर तक्षक (स्थपति) के सभी साधन (उपकरण, औजार) रख कर उनको बलि प्रदान करना चाहिये। उस संग्रह के मध्य स्थित होकर उनके लिये (इस प्रकार) कहना चाहिये।।२१।।

निरुजा मृदिता सधना प्रथिता यशसा महदद्भुतवीर्ययुता ।
सततं निरुपद्रवकर्मयुता पृथिवी पृथु जीवतु धर्मविधेः ॥२२॥

धारानिपातात् सलिलप्रकोपाद् दंष्ट्रानिपातात् पवनप्रकोपात् ।
अग्नेश्च दाहान्मुषिताच्च चोराद्रक्षन्त्विदं सद्म शिवं च मेऽस्तु ॥२३॥

आरोग्य, प्रसन्नता, धन एवं यश की वृद्धि से युक्त, महान् कर्म से युक्त, निरन्तर उपद्रवकारी कर्मों से रहित पृथिवी धर्म के मार्ग पर चिर काल तक जीवित रहे। धारानिपात से, जल के प्रकोप से, (गज के) दाँतों द्वारा गिराये जाने से, वायु के प्रकोप से, अग्नि के दाह से और चोरों द्वारा चोरी से इस गृह की रक्षा कीजिये। यह गृह मेरे लिये कल्याणकर हो।।२२-२३।।

स्थपतिनिर्गमनम्

उक्त्वैवमेवमखिलान्यपि साधनानि
स्थित्वा प्रणम्य शिरसा स्थपतिः कराभ्याम्।
आदाय तानि सकलानि तदीयबाहौ
सम्यङ् निधाय विधिना स्वजनैः सभृत्यैः ॥२४॥

संग्राह्य बन्धुजनपुत्रसहायकाद्यै-
र्गच्छेत् स्वकीयभवनं प्रति तुष्टचेताः।
सन्न्यस्य सर्वमथ तद्वलिशेषमन्नं
सम्यक् क्षिपेत् सलिलके गृहदेवताभ्यः ॥२५॥

स्थपति का निकलना—इस प्रकार कहते हुये सम्पूर्ण साधनों (उपकरणों) को खड़े होकर स्थपति दोनों हाथों से (जोड़ते हुये) एवं शिर से प्रणाम करे। उन सभी उपकरणों को हाथों में अपने लोगों एवं सेवकों के साथ उचित रीति से रखकर सन्तुष्ट मन से बन्धु, पुत्र एवं सहायक आदि के साथ स्थपति अपने घर जाय। इसके पश्चात् सभी बलि के अन्नों को समेट कर गृहदेवताओं के लिये जल में विधिवत् डाल देना चाहिये।।२४-२५।।

अथ सम्यग् गृहमार्जने कृते सितकुष्ठागरुचन्दनाम्बुभिः।
कलशोदैरपि गन्धसंयुतैर्मणिहेमाम्बुभिरत्र सेच्यते ॥२६॥

अथ सिद्धार्थकलाजशालिकान् भवनाभ्यन्तरतो विकीर्य पश्चात्।
उपदंशैर्युतमष्टधान्ययुग् धनरत्नं गृहवस्तु वेश्य सर्वम् ॥२७॥

इसके पश्चात् गृह की भली-भाँति सफाई करके कुष्ठ, अगरु एवं चन्दन-मिश्रित जल से तथा कलश के सुगन्धयुक्त मणि एवं सुवर्णमिश्रित जल से सिञ्चन करना चाहिये। तदनन्तर लावा एवं शालि (चावल) को भवन के भीतर छींटना चाहिये। इसके पश्चात् सम्पूर्ण गृह में आठो प्रकार के अन्न, धन और रत्नों को रखना चाहिये।

गृहपतिगृहिणीप्रवेशः

गृहपतिर्गृहिणी च समङ्गलौ सुजनसुभृत्यसुतानुजाभिधौ।
स्वभवनं गृहवस्तुसमग्रकं प्रविशतामनुचिन्त्य जगत्पतिम् ॥२८॥

गृहस्वामी एवं गृहस्वामिनी का प्रवेश—गृहपति एवं गृहिणी माङ्गलिक प्रतीकों से युक्त, स्वजनों, सेवकों, पुत्रों (सन्तानों), बन्धु-बान्धवों से युक्त होकर अपने उस गृह में जगत्पति ईश्वर का चिन्तन करते हुये प्रवेश करते हैं, जो गृह के सभी वस्तुओं से युक्त होता है।।२८।।

प्रीत्या प्रविश्य गृहवस्तु निरीक्ष्य सर्वं
तौ दम्पती च शयनेऽप्युपविश्य पश्चात्।
सव्यञ्जनोदनमथो गृहिणी गृहीत्वा
निर्वर्तयेद् गृहबलिं बलिशेषमन्नम् ॥२९॥

स्वमूलदास्यै स्वकुलानुगायै दत्त्वाऽथ देवद्विजतक्षकादीन्।
धनैश्च रत्नैः पशुभिश्च धान्यैः सन्तर्प्य वस्त्रादिभिरत्र नित्यम् ॥३०॥

प्रसन्न मन से गृह में प्रवेश कर, गृह में रखे गये सभी पदार्थों को देखकर गृहपति एवं गृहस्वामिनी को शय्या पर बैठना चाहिये। इसके पश्चात् गृहिणी व्यञ्जनसहित अन्न को लेकर गृह के निमित्त बलि प्रदान करती है। बलि देने से बचे हुये अन्न को गृहिणी अपने कुल के साथ चलने वाली मूल दासी को देती है एवं देवता, ब्राह्मण तथा तक्षक (स्थपति) आदि को धन, रत्न, पशु, अन्न एवं वस्त्रादि देकर तृप्त करती है।

स्वजनगुरुजनाद्यैर्मित्रभृत्यादिवर्गै-
रनुगतजनवृन्दैरत्र भोक्तव्यमादौ।
गृहपतिरपि पत्नी तत्र नत्वा गुरूंस्तत्
सुतजनमपि पौत्रैर्भोजयेत्तान् क्रमेण ॥३१॥

गृह में सर्वप्रथम आत्मीय जन, गुरुजन (बड़े लोग), मित्रगण, सेवकगण एवं अन्य सम्बन्धियों को भोजन कराना चाहिये। गृहपति एवं गृहिणी अपने गुरुजनों को प्रणाम करें। इसी क्रम से पुत्र-पौत्रों को भी भोजन कराना चाहिये।।३१।।

अम्भोभिः पूर्णकुम्भैः सफलकदलिकावञ्जुलैः पूगवृक्षै-
र्दीपैरश्वत्थपत्रैः सिततरकुसुमैः साङ्कुरैः पालिकाभिः।
कन्याभिर्मङ्गलाभिर्युवतिभिरमलैर्विप्रमुख्यैरुपेतं
द्वारं तत्तोरणाढ्यं गृहमनघतरं वेशयेद् वेश्मनाथम् ॥३२॥

गृहस्वामी उस पवित्र गृह में प्रवेश करे, जो जलपूर्ण घटों से युक्त हो, केले के फलयुक्त डाली से युक्त हो, पूग (सुपाड़ी) वृक्ष (की डाली) से युक्त हो, दीप, पीपल के पत्ते, श्वेत पुष्प, अङ्कुरित बीजों से युक्त हो। मांगलिक कन्याओं, निर्मल युवतियों, प्रधान ब्राह्मणों से युक्त हो एवं जिस भवन का द्वार वन्दनवार से सुसज्जित हो।।३२।।

सितवस्त्रजलप्रदीपपूर्णं सितकुसुमाम्बरधारणं सुहृष्टम्।
गृहपतिपुरतो यथा विवाहे गृहिणिकरग्रहणं गृहप्रवेशे ॥३३॥

गृहपति जिस प्रकार विवाह के समय गृहिणी का हाथ पकड़ता है, उसी प्रकार श्वेत वस्त्र, जल एवं जलते हुये दीपक से युक्त होकर, प्रसन्न मन से श्वेत पुष्प एवं वस्त्र धारण कर गृहिणी का हाथ पकड़कर गृह में प्रवेश करे।।३३।।

अदत्तबलिभोजनमनाच्छदमगर्भं
द्विजस्थपतिकादिभिरतर्पितमतल्पम् ।
विशत्यपि गृहं यदलमेव हि विपत्त्यै
विपत्पदविमेयमतिदुष्टहृदयः सः ॥३४॥

विना बलि प्रदान किये, विना भोजन कराये, विना गृह आच्छादित किये, विना गर्भविन्यास किये, ब्राह्मण एवं स्थपति आदि जहाँ तृप्त न किये गये हों या जहाँ विस्तर न हो, ऐसे गृह में प्रवेश करने पर मात्र विपत्ति आती है। दुष्ट हृदय (दुःखी मन, अप्रसन्न चित्त) प्रवेश करने वाला गृहपति विपत्ति का भाजन बनता है।।३४।।

अतिसन्तुष्टमना गृहेश्वरः सुतयोषित्स्वजनप्रियानुगः ।
स्वगृहं प्रविशेत्प्रविश्य चैवं शुभवाग्भिः परिपूर्णकर्णकः ॥३५॥

अत्यन्त सन्तुष्ट मन से पुत्र, पत्नी, आत्मीय जनों एवं प्रिय लोगों के साथ गृह-स्वामी अपने गृह में प्रवेश करे एवं प्रवेश करने के पश्चात् शुभ वचन उसके कानों में पड़ें।।३५।।

ग्रामाग्रहारपुरपत्तनकादिकानां
देयो बलिः कपदके च विदिक्षु दिक्षु ।
शस्तौ चतुष्कसहिते सुरमन्दिरे च
श्रेष्ठे कजायनिलयेऽखिलदेवताभ्यः ॥३६॥

इति मयमते वस्तुशास्त्रे गृहप्रवेशो
नामाष्टाविंशोऽध्यायः

ग्राम, अग्रहार, पुर, पत्तन आदि में ब्रह्मा के पद पर, दिशाओं एवं दिक्कोणों में बलि प्रदान करना चाहिये। देवालय एवं सरस्वती भवन में चौंसठ पद वास्तुमण्डल में सभी देवताओं को बलि प्रदान करना चाहिये।।३६।।

व्याख्यात्मक टिप्पणी

गृहप्रवेश-विधान (श्लोक १-२)

गृहप्रवेश का विधान सभी वास्तुग्रन्थों में प्राप्त होता है—

भूरिपुष्पविकरं सतोरणं तोयपूर्णकलशोपशोभितम्।
धूपगन्धबलिपूजितामरं ब्राह्मणध्वनियुतं विशेद् गृहम्।।

(बृहत्संहिता-५३.१२५)

गृहप्रवेशाभावविषयक अनिष्ट (श्लोक ३४)

इसी भाव से युक्त श्लोक वास्तुसौख्य ग्रन्थ में प्राप्त होता है—

अकपाटमनाच्छन्नमदत्तबलिभोजनम्।
गृहं न प्रविशेदेव विपदामालयं हि तत्।। (४८५)

अथैकोनत्रिंशोऽध्यायः
(राजवेश्मविधानम्)

अथ वक्ष्ये राजगृहं संक्षेपाद् बाह्यनगरशिबिरयुतम् ।

राजभवन—अव मैं (मय) संक्षेप में वाह्य भाग में नगर एवं शिविर से युक्त राजगृह का वर्णन हूँ।

राजवेश्ममानानि

त्रिचतुर्भागे नगरे प्राच्यां वाप्युक्तशालायाम् ॥१॥
नरपतिगृहमधिराज्ञो दक्षिणतः पश्चिमांशे तु ।
पार्ष्णीयादिकभवनं स्यात् सप्तनवांशे प्रतीच्यां तु ॥२॥
अङ्कुरादीनां भवनं सेनेशानां हि तत्रैव ।
विश्वनृपैश्वरभवनं मध्ये वासं त्रिभागभागेषु ॥३॥

राजगृह के प्रमाण—नगर में तीन या चार भाग में पूर्व दिशा में या शालाओं (प्राकारों) के वीच (अथवा विना प्राकारों के) राजभवन होना चाहिये। अधिराज का भवन दक्षिण से पश्चिम भाग में होना चाहिये। पार्ष्णीय आदि राजाओं के भवन नगर के पश्चिम भाग में सात या नौ भाग से होना चाहिये। अङ्कुर आदि (राजपुत्रों) के भवन तथा सेनापति के भवन भी वहीं होने चाहिये। विश्वनृपेश्वर (सम्राट) का भवन नगर के तीसरे भाग से मध्य में होना चाहिये।।१-३।।

नगरांशवशान्मानं ह्येतद्दण्डेन संवक्ष्ये ।
सचतुश्चत्वारिंशच्छतदण्डं वेश्मविस्तारम् ॥४॥
युगवसुभानुविकारैर्दण्डैः क्षपयेत्ततः क्रमशः ।
द्वात्रिंशद्दण्डान्तं वेश्मव्यासं तथोक्तानाम् ॥५॥
तत्तद्वेश्मविशालादूर्ध्वे संवर्द्धयेत्तु तथा ।
सप्तचतुर्दण्डयुतपञ्चशतज्येष्ठविस्तारम् ॥६॥
द्वात्रिंशद्दण्डादाद्वात्रिंशन्मानमेवमुद्दिष्टम् ।
ज्येष्ठाज्येष्ठविशालमन्येषामन्यदिष्टं स्यात् ॥७॥

नगर के अनुसार राजभवनों का प्रमाण कहा गया है। अब दण्ड-प्रमाण का वर्णन किया जा रहा है। भवन का विस्तार एक सौ चौवालीस दण्ड होना चाहिये। इनमें क्रमशः चार, आठ, बारह एवं सोलह दण्ड कम करते जाना चाहिये। राजभवन का व्यास बत्तीस दण्डपर्यन्त होता है। उपर्युक्त राजभवनों का विस्तार उसी प्रकार बढ़ाना चाहिये, जो पाँच सौ अट्ठाईस दण्डपर्यन्त जाता है एवं जो राजभवन का सबसे बड़ा विस्तार प्रमाण होता है। इस प्रकार बत्तीस दण्ड से प्रारम्भ कर बत्तीस प्रकार के राजभवन के प्रमाण बनते हैं। राजभवन का ज्येष्ठ या अज्येष्ठ (छोटा) प्रमाण (नगरादि के अनुसार) होना चाहिये।।४-७।।

दैर्घ्यं व्यासद्विगुणं द्विगुणं पादोनमर्धकं पादम्।
द्वादशसालाकारं चतुरं वृत्तं तदायतं शकटम्॥८॥

नन्द्यावर्त्तं कौक्कुटमिभकुम्भं स्वस्तिकं चैव।
गोलावच्च मृदङ्गं मग्नमिति ह्येकमानयुतम्॥९॥

लम्बाई चौड़ाई की दुगुनी, दुगुनी से चतुर्थांश कम, डेढ़ भाग या सवा भाग अधिक होनी चाहिये। साला (प्राकार) का आकार बारह प्रकार का होता है—चौकोर, वृत्त, आयताकार, शकटाकार, नन्द्यावर्त, कौक्कुट (मुर्गे का आकार), गज का आकार, कुम्भ का आकार, स्वस्तिकाकार, गोलाकार, मृदङ्ग का आकार या मग्न (खोखला) होना चाहिये तथा एक मान का प्रयोग करना चाहिये।।८-९।।

इष्टव्यासायामं प्रागेवालं विचिन्त्य कर्तव्यम्।
तस्माद्धीनं यत्तन्निष्पन्नं वास्तु येन केनापि॥१०॥

अशुभमवनीपतेस्तत् सततं विपदां पदं भवति।
पौराणां यद्वस्तु वर्धितुमिच्छेद् बहिस्तत्ऽतस्मात्॥११॥

प्रागुत्तरदिशि वृद्धिः शस्ता परितस्तु वा न्याय्या।

एक बार अभीष्ट लम्बाई एवं चौड़ाई का चयन करने के पश्चात् उसी के अनुसार भवननिर्माण करना चाहिये। यदि भवन निर्मित होने के पश्चात् किसी भी कारण से उससे छोटा होता है तो वह राजा के लिये अशुभ होता है एवं निरन्तर विपत्तिकारक बनता है। यदि भवन को बाहर बढ़ाकर निर्मित करना अभीष्ट हो तो उसे पूर्व या उत्तर दिशा में बढ़ाना श्रेयस्कर होता है अथवा चारो ओर बढ़ाना चाहिये, ऐसा प्राचीन मनीषियों का मत है।।१०-११।।

❋ अधमवेश्मविन्यासः ❋

प्रागङ्गमथ मुख्यं दक्षिणतो वाप्यथाङ्गणं श्रेष्ठम्॥१२॥

वेश्माभ्यन्तरमध्ये दण्डार्धव्यासतुङ्गपीठं स्यात् ।
दण्डेन बहिस्तस्मात् पीठेनैवात्र चैव सह वेदी ॥१३॥

छोटे भवनों की योजना—प्रधान आँगन पूर्व या दक्षिण में होना चाहिये। भवन के मध्य में पीठ होना चाहिये, जिसकी ऊँचाई एवं चौड़ाई आधा दण्ड हो। यहीं सह (ब्रह्मा) की वेदी पीठ से चारो ओर एक दण्ड अधिक बड़ी होती है।।१२-१३।।

तद्वेद्या दक्षिणतः पञ्चकषड्हस्तदण्डकं नीत्वा ।
क्षोणीभृतां प्रतिभवनं वेद्या अपरे तु सूत्रमध्यगतम् ॥१४॥

तद्वेद्या उत्तरतस्तावन्मानं विहाय तद्वेद्याः ।
प्राक्सूत्रमध्यगतं देव्या धाम्नस्तु तत्र तत्रैव ॥१५॥

वेदी के दक्षिण तीस हाथ की दूरी पर सीध में राजा का भवन होना चाहिये। वेदी के पश्चिम में मध्यसूत्र होता है। वेदी के उत्तर में इसी प्रमाण की दूरी पर रानी का भवन होता है, जिसका मध्य सूत्र वेदी के पूर्व में होता है।।१४-१५।।

त्रिःषोडशदण्डं वा द्वात्रिंशद्दण्डमानकं वाऽपि ।
सचतुर्विंशतिदण्डं षोडशदण्डं तु वाथवा नीत्वा ॥१६॥

नृपतेर्दैर्घ्यायामं बहिः प्राकारं त्रिहस्तविस्तारम् ।
एकादशकरतुङ्गं तद्वाह्ये सप्तहस्तमानेन ॥१७॥

परितः पन्थास्तिस्त्रस्तस्मान्नवदण्डमावल्याम् ।
वेश्मावल्या वृत्तं कुड्यततिस्त्वेकदण्डमानेन ॥१८॥

सार्धदशारत्न्युच्चं तस्मात् पन्था बहिस्तु नवहस्तैः ।
तस्माद् द्विष्षोडशभिर्दण्डैर्मर्यादिरेव भित्तिः स्यात् ॥१९॥

व्यासं सपाददण्डं पञ्चदशारत्निभिस्तु तत्तुङ्गः ।
भित्तिरभ्यन्तरतः परितो मार्गस्त्रिदण्डेन ॥२०॥

द्वादशभवने बाह्यान्यथ रक्षावेशनानि योज्यानि ।
भित्त्यभ्यन्तरतो वा बाह्याद् वा मानयेद्दृढतरधीः ॥२१॥

राजा के दैर्घ्य (दीर्घिका, तालाब) को अड़तालीस, बत्तीस, चौबीस यो सोलह दण्ड की दूरी पर निर्मित करना चाहिये तथा प्रथम प्राकार को इसके बाहर बनाना चाहिये। यह तीन हाथ विस्तृत एवं ग्यारह हाथ ऊँचा होता है। प्राकार के बाहर सात हाथ चौड़ी सड़क होनी चाहिये। इसके बाहर नौ हाथ चौड़ी भवनों की पंक्ति होनी चाहिये। इसके पश्चात् भवनों की अन्तिम पंक्ति एवं उसके बाहर प्राकार होना चाहिये।

यह प्राकार एक दण्ड चौड़ा एवं साढ़े दस हाथ ऊँचा होता है। इसके चारो ओर नौ हाथ चौड़ी सड़क होती है। इससे बत्तीस दण्ड की दूरी पर बाहरी प्राकार 'मर्यादि' होता है। यह डेढ़ दण्ड विस्तृत एवं पन्द्रह हाथ ऊँचा होता है। इसके बाहर तीन दण्ड विस्तृत मार्ग होता है। राजभवन के बाहर देख-रेख के लिये बारह सुरक्षाकर्मी नियुक्त किये जाते हैं। बुद्धिमान पुरुषों ने भित्तियों के बाहर एवं भीतर का मान इस प्रकार निर्धारित किया है।।१६-२१।।

✵ एतद्गोपुराणि ✵

त्रिप्राकारं त्रिपथं त्रिभागयुग्घीननृपभवनम्।
सचतुर्गोपुरकान्तं मुखगोपुरमुन्नतं हि तत्रैव ॥२२॥
निम्नं पश्चिमवेशं मुख्यं स्यात् प्राङ्मुखं भवनम्।
दक्षिणमुखमपि वाऽथ नोदक्प्रत्यग्दिशि सुभद्रमुखम् ॥२३॥
पञ्चमुखं त्वथ राज्ञां नेष्टं स्याद् वेशनं च यत्तत्स्यात्।

गोपुर द्वार—छोटे राजाओं के भवनों में तीन प्राकार, तीन मार्ग एवं तीन भाग (तीन भवनों की पंक्तियाँ) होती हैं। इनमें चार से अधिक गोपुर नहीं होते हैं। प्रमुख गोपुर सबसे अधिक उन्नत होना चाहिये। पश्चिम का प्रवेशद्वार (गोपुर) नीचा होना चाहिये। प्रधान गोपुर भवन के पूर्व या दक्षिणमुख होना चाहिये। उत्तर या पश्चिममुख (राजाओं के लिये) प्रशस्त नहीं होता है। राजाओं के भवन में पाँच मुख अभीष्ट नहीं होते। पूर्ववर्णित (संख्या में) गोपुर होने चाहिये।।२२-२३।।

✵ गृहविन्यासः ✵

राज्ञां श्रीदेवीनामालयकान्तरालयं केचित् ॥२४॥
अथ मध्ये वाङ्गणकं शतपादयुता प्रपा वा स्यात्।
दक्षिणतो राजगृहमभिषेकं स्यात् प्रतीचीतः ॥२५॥
उत्तरदिशि भवनं स्याद् राजमहिष्यास्त्वनेकमेकतलम्।
पश्चिमदिग्गतभवनं प्राङ्मुखमेवावनीपतेर्मुख्यम् ॥२६॥

भवनों का विन्यास—कुछ विद्वानों के मतानुसार रानियों का भवन राजाओं के भवन के भीतर होना चाहिये। उसके मध्य में आँगन या एक सौ स्तम्भों से युक्त प्रपा होनी चाहिये। दक्षिण भाग में राजभवन तथा पश्चिम भाग में अभिषेक-गृह होना चाहिये। उत्तर दिशा में एक तल या अनेक तल से युक्त राजमहिषी (पटरानी) का भवन होना चाहिये। राजा का प्रधान आवास पश्चिम दिशा में पूर्वमुख होना चाहिये।।२४-२६।।

✵ परिखा ✵

परितः परिखा बाह्ये प्राकाराद्ध्येव द्वित्रिदण्डानि ।
नवदण्डविशालान्तं परिखाविपुलं समुद्दिष्टम् ॥२७॥
परिखाया बहिरबहिर्मार्गविशालास्त्रिदण्डेन ।
परिखामूलविशालं स्वव्यासादष्टकेन भागेन ॥२८॥
गाम्भीर्याद् युक्तिवशादाकृत्या चैव पालिकाभासा ।

खाई—बाह्य प्राकार के चारो ओर परिखा होनी चाहिये, जिसकी चौड़ाई छः दण्ड से लेकर नौ दण्डपर्यन्त होती है। परिखा के बाहर एवं भीतर भाग में तीन दण्ड विस्तृत मार्ग होना चाहिये। परिखा के मूल भाग का विस्तार ऊपरी भाग के विस्तार के आठवें भाग के बराबर होना चाहिये। इसकी गहराई आवश्यकतानुसार (परिस्थिति के अनुसार) एवं आकृति घण्टे के समान (अथवा सुरक्षा के अनुसार) होनी चाहिये।।२७-२८।।

✵ पुनर्गृहविन्यासः ✵

भवनस्य बहिर्देव्या यानि गृहाण्यत्र तत्र युक्त्या तु ।
तानि च दैविकभागे सम्यग् वक्ष्येऽहमत्रापि ॥२९॥
अन्तर्मण्डलबाह्यं तु दैवतांशवशाद् गृहम् ।

पुनः गृह का विन्यास—रानी के भवन के बाहर गृहों को आवश्यकतानुसार निर्मित करना चाहिये। अब मैं यहाँ उनके दैविक भाग का वर्णन कर रहा हूँ। प्रथम प्राकार के बाहर का भवन देवता के भाग के अनुसार होना चाहिये।।२९।।

✵ प्रथमावरणम् ✵

अर्यांशे द्वारहर्म्यं स्याच्चेन्द्रे सूर्येऽङ्गणं भृशम् ॥३०॥
भृशे योम्नि च वृत्तं स्यात् पूष्णे हेमं सदक्षिणम् ।
सालानां वितथे राक्षादभूदङ्गणकं विदुः ॥३१॥
सेनावेशनहर्म्यं तु यमभागेऽतितुङ्गवत् ।
गन्धर्वे नीडभा नृत्तयोग्या रङ्गविभूषिता ॥३२॥
विमानमन्दिरं वाऽपि शाला वा हर्म्यमेव वा ।

द्वारहर्म्य संज्ञक द्वार आर्य के पद पर होना चाहिये। इन्द्र एवं सूर्य के पद पर एक बड़ा आँगन होना चाहिये। भृश एवं व्योम के पद पर वृत्त (शालाविशेष) होना चाहिये। पूषा के पद पर स्वर्ण होना चाहिये। सभी सालाओं (प्राकारों) का आँगन राक्षस के पद से लेकर वितथ के पद तक होना चाहिये। यम के पद पर अत्यन्त उन्नत सेना-

वेशहर्म्य (रक्षाकर्मी से युक्त प्रवेशद्वार पर निर्मित शाला) होना चाहिये। गन्धर्व के पद पर नीड़ (सजावटी खिड़की की आकृति) के समान निर्माण होना चाहिये, जो नृत्य करने के अनुकूल रङ्गस्थल से सुशोभित हो। यह विमान मन्दिर, शाला या हर्म्य में होना चाहिये।।३०-३२।।

भृङ्गराजेऽश्वशाला स्याद् मृषे चार्तवसूतिका ।।३३।।
पितरि स्थानहर्म्यं स्याद् दौवारिकसुकण्ठयोः ।
जललीला विधातव्या पुष्पदन्ते खलूरिका ।।३४।।
लवणं तत्र विज्ञेयं मरीचाद्यं यथोचितम् ।

भृङ्गराज के पद पर अश्वशाला, भृश के पद पर सूतिकागृह, पितृ के पद पर स्थानहर्म्य (स्वागत कक्ष), दौवारिक एवं सुकण्ठ के पद पर जललीला (स्थानविशेष, सम्भवतः जलक्रीड़ा-स्थल) निर्मित करना चाहिये। पुष्पदन्त के पद पर खलूरिका (अतिरिक्त बाहर निकला स्थान या कक्ष) निर्मित करना चाहिये, जहाँ नमक एवं मरिच आदि मसाले रक्खे जायँ।।३३-३४।।

वरुणासुरशोषेषु मित्रे स्यात्सङ्करालयम् ।।३५।।
राजदेवीगृहं गर्भागारं दक्षिणवामयोः ।
गेहं नृत्तरसाङ्गानां मित्रे सोपस्करं गृहम् ।।३६।।
अन्तर्विवृत्तवेशार्थं रोगांशे च समीरणे ।।

वरुण, असुर, शोष एवं मित्र के पद पर सङ्करालय (मिलने-जुलने का स्थान) होना चाहिये। इसके दाहिने एवं बाँये रानी का कक्ष एवं गर्भागार होना चाहिये। मित्र के पद पर नृत्यशाला एवं रस (नाट्यशाला) तथा उपस्करगृह (नृत्यादि से सम्बन्धित सामग्री रखने का कक्ष) होना चाहिये। रोग एवं समीरण के पद पर पूर्ण रूप से बन्द आवास कक्ष होना चाहिये।।३५-३६।।

वर्धमानादिकं चापि शालानां पादशालकम् ।।३७।।
नागे सैरन्ध्रिधात्रीणां मुख्ये कन्यागृहं भवेत् ।
भैषज्यं चापि भल्लाटे मृगे सांवाहिकागृहम् ।।३८।।
रुचकादिचतुःशालाविमानं वात्र योजितम् ।
अभितो मज्जनागारमुदित्यामापवत्सयोः ।।३९।।
पानीयोष्णोदकं धाम यच्च प्रासादवद्बुधैः ।
स्वेष्टदैवतमीशाने जयन्ते च विधीयते ।।४०।।

वर्धमान आदि चतुश्शाल गृहों में नाग के पद पर सैरन्ध्री (केशसज्जा करने वाली स्त्री) एवं धात्री स्त्रियों (बच्चों की देख-रेख करने वाली महिलाओं) का कक्ष, मुख्य के पद पर कन्याओं का गृह होना चाहिये। भल्लाट के पद पर औषधकक्ष एवं मृग के पद पर सांवाहिका गृह (मालिश करने वाली स्त्री का कक्ष) होना चाहिये। रुचक आदि चतुश्शाल गृह में यहाँ कक्ष निर्मित करना चाहिये। उदिति एवं आपवत्स के पद पर स्नानगृह होना चाहिये, जहाँ पीने का जल एवं उष्ण जल होना चाहिये। विद्वानों के अनुसार यह प्रासाद के समय होना चाहिये। इष्टदेव का स्थान ईशान एवं जयन्त के पद पर होना चाहिये।।३७-४०।।

महेन्द्रे भोजनस्थानं महीधरमरीचयोः ।
सम्बाधं वाऽत्र कुर्वीत सभापार्वतकूर्मवत् ॥४१॥

द्वारश्च भित्तयः सर्वाः स्वामिवाञ्छवशान्मताः ।
प्रथमावरणे प्रोक्ता द्वितीयावरणे क्रमात् ॥४२॥

महेन्द्र के पद पर भोजनकक्ष होना चाहिये। महीधर और मरीच के पद पर (भोजनकक्ष) अथवा पार्वत कूर्म सभाकक्ष के समान सम्बाध (मिलने-जुलने का स्थान) निर्मित कराना चाहिये। सभी द्वार एवं भित्तियाँ गृहस्वामी की इच्छा के अनुसार होनी चाहिये। प्रथम आवरण (प्रथम प्राकार) में (सभी अंगों का) वर्णन किया गया। अब द्वितीय आवरण का वर्णन क्रमानुसार किया जा रहा है।।४१-४२।।

❋ द्वितीयावरणम् ❋

इन्द्रे चादित्यके छत्रभेर्यादीनां निवासकम् ।
शङ्खकाहलतूर्याणामन्येषां तत्र सम्मतम् ॥४३॥

सत्ये दानार्चिता शाला भृशे धर्मोदकालयम् ।
पङ्क्तिके ज्वलनांशे तूलूखलं चेन्धनादिकम् ॥४४॥

पूषभागे तु साविन्द्रे वितथे वाजिशालकम् ।

द्वितीय प्राकार—इन्द्र एवं आदित्य के पद पर छत्र एवं भेरी का स्थान एवं शंख, काहल तथा तूर्य आदि अन्य वाद्यों का स्थान होना चाहिये। सत्य के पद पर दान की सामग्री, भृश के पद पर धर्मसम्बन्धी कार्यहेतु जल, पंक्तिक (आकाश) के पद पर ओखली, ज्वलन (अग्नि) के पद पर इन्धन, पूषा, साविन्द्र एवं वितथ के पद पर अश्वशाला होनी चाहिये।।४३-४४।।

पूर्वस्थाः पश्चिमद्वारा दक्षिणस्था उदङ्मुखाः ॥४५॥

पश्चिमस्थाः पूर्वमुखा उदक्स्था दक्षिणाननाः ।
सर्वे गृहस्य मार्गेणान्तरिताः सद्मसम्मुखाः ॥४६॥

पूर्व में स्थित शालाओं के द्वार पश्चिम दिशा में, दक्षिण में स्थित शालाओं के द्वार उत्तर में, पश्चिम में स्थित भवनों का मुख पूर्व में एवं उत्तर में स्थित शालाओं के मुख दक्षिण में होने चाहिये। सभी गृह मध्य में स्थित भवन के सामने मार्ग द्वारा पृथक्-पृथक् होना चाहिये।।४५-४६।।

राक्षसे शस्त्रशाला स्याद् द्वारशालाथ वामके।
धर्मराजेऽन्नपानादिकर्मणामालयं भवेत्।।४७।।

मध्यरङ्गसमायुक्तं चतुःशालां समालिखेत्।
सेनापतेः प्रशस्ते स्याद् गन्धर्वांशे जयावहम्।।४८।।

भृङ्गराजांशमान्या वाजिता वाशालका मता।
व्यालकामीन्द्रकाजालिप्रभृतीनां मृषे भवेत्।।४९।।

निर्ऋतौ माहिषं गेहं दौवारिकसुकण्ठयोः।
दानशालेक्षणशालास्नानं पुष्पादिके गृहे।।५०।।

राक्षस के पद पर शस्त्रागार, (द्वार के) वाम भाग में द्वारशाला (द्वाररक्षक का कक्ष), धर्मराज के पद पर अन्न एवं पेय पदार्थों को तैयार करने का कक्ष होना चाहिये। चतुश्शाल गृह को मध्य रङ्ग (मध्य में आच्छादित हाल या बड़ा कमरा) से युक्त निर्मित करना चाहिये। गन्धर्व के पद पर सेनापति का स्थान प्रशस्त एवं विजय प्रदान करने वाला होता है। ऐसा भी मत है कि भृंगराज के पद पर (सेनापति का स्थान) अजेय होता है। मृष के पद पर व्यालकामी (सपेरा) एवं इन्द्रकाजाली (जादूगर) आदि का स्थान होना चाहिये। निर्ऋति के पद पर दौवारिक एवं सुकण्ठ के पद पर भैसों का स्थान होना चाहिये। पुष्पदन्त आदि के पद पर दानगृह, ईक्षणगृह (मिलने-जुलने का स्थान) तथा स्नानगृह होना चाहिये।।४७-५०।।

नागे रुद्रांशके चैव सायता दीर्घिका भवेत्।
कन्यकानां च धात्रीणां मुख्यभागे विमानकम्।।५१।।

कञ्चुकीनां च मद्गूनामन्यत् सामान्यतो बुधैः।
भल्लाटे सोममार्गांशे कृण्वादीनां निवासकम्।।५२।।

कुब्जिनीवामनीकन्याषण्डकीनां तथादितौ।
धात्रीणामुदितौ गेहमीशे पर्जन्यके पदे।।५३।।

नाग एवं रुद्र के भाग पर लम्बी दीर्घिका (तालाब) होनी चाहिये। कन्याओं एवं (उनकी) धात्रियों का स्थान मुख्य के पद पर होना चाहिये। सामान्यतया विद्वानों के मतानुसार कञ्चुकियों से मद्गु (एक विशेष प्रकार के राजसेवक, सङ्कर जाति के लोग)

का स्थान अन्यत्र (राजभवन से हट कर) होना चाहिये। भल्लाट, सोम एवं मृग के पद पर कृण्व आदि (चित्रकार एवं कलाकार आदि) का निवास होना चाहिये। अदिति के पद पर कुब्जिनी (कुबड़ी), वामनी कन्या (बौनी) एवं षण्डकी (हिजड़ी) आदि का स्थान होना चाहिये। उदिति, ईश एवं पर्जन्य के पद पर धात्री स्त्रियों का स्थान होना चाहिये।।५१-५३।।

आपे चैवापवत्से च वापी कूपं च दीर्घिका।
पानीयसदनं पुष्पोद्यानं तत्रैव कीर्तितम् ॥५४॥
जयन्ते दक्षिणाशाला दानशाला सुरेन्द्रके।
धाम्नस्त्वभिमुखा सर्वा शाला प्राग्दक्षिणान्विता ॥५५॥

आप एवं आपवत्स के पद पर बावड़ी, कूप, दीर्घिका (तालाब), पीने योग्य जल का स्थान एवं पुष्पों का बाग होना चाहिये। जयन्त के पद पर दक्षिणा-गृह एवं सुरेन्द्र के पद पर दानशाला होनी चाहिये। पूर्व से दक्षिण की ओर निर्मित इन सभी भवनों का मुख मुख्य भवन की ओर होना चाहिये।।५४-५५।।

तृतीयावरणम्

इन्द्रे शास्त्रं रवौ गानं सत्ये चाध्ययनं भृशे।
महामहानसं व्योम्नि गौर्वत्सा पूष्णि पावके ॥५६॥
वितथे लवणं चैव वल्लूरस्नायुचर्मणाम्।
राक्षसे नागवासं च चित्रशिल्पादिसौधकम् ॥५७॥
धर्मांशे दण्डकावासं शूर्पं वा लाङ्गलं तु वा।

तृतीय आवरण या प्राकार—इन्द्र के पद पर शास्त्र, रवि के पद पर संगीत, सत्य एवं भृश के पद पर अध्ययन, आकाश के पद पर प्रधान रसोईगृह, पूषा एवं पावक के पद पर गायों एवं उनके बछड़ों को रखना चाहिये। वितथ के पद पर नमक, वल्लूर (सूखा मांस), स्नायु (नस, नाड़ी) तथा चर्म रखना चाहिये। राक्षस के पद पर गजशाला एवं धर्म के पद पर चित्र एवं शिल्प का स्थान होना चाहिये एवं इसकी योजना दण्डक, शूर्प या लांगल (हल) के समान करनी चाहिये।।५६-५७।।

गन्धर्वे भृङ्गराजे च रसादीनां निवासकम् ॥५८॥
मृषे दाहस्तु पित्रंशे दानं दौवारिके मतम्।
सुग्रीवे मल्लधामं स्यात् पुष्पके युगकोष्ठकम् ॥५९॥

गन्धर्व एवं भृंगराज के पद पर रसपदार्थों का स्थान बनाना चाहिये। मृष के पद

पर दाह (इन्धन), पितृ एवं दौवारिक के पद पर दान-सामग्री, सुग्रीव के पद पर मल्लों का आवास तथा पुष्पदन्त के पद पर चार कोष्ठ (शालायें) होने चाहिये।

वारुणे युवराजस्य शाला वा मालिका भवेत्।
हयेभसदनं चैव पुरोहितगृहं तथा ॥६०॥

असुरे चन्द्रशाला स्याच्छोषे शरभकालयम्।
खरोष्ट्रायतनं रोगे भैषज्यं च प्रकल्पयेत् ॥६१॥

वायौ वापी भवेद्गोत्रनागे पुष्करणी च वा।
मुख्यभल्लाटयोर्हस्तिवाजिशाला विधीयते ॥६२॥

वारुण के पद पर युवराज की शाला या मालिका होनी चाहिये। वहीं पर अश्वशाला एवं पुरोहित का आवास होना चाहिये। असुर के पद पर चन्द्रशाला एवं शोष के पद पर हिरणों का स्थान होना चाहिये। रोग के पद पर गधे एवं ऊँट का स्थान होना चाहिये एवं औषध-स्थान भी वहीं निर्मित करना चाहिये। वायु के पद पर वापी एवं गोत्रनाग के पद पर पुष्करिणी (कमल का तालाब) होना चाहिये। मुख्य एवं भल्लाट के पद पर गजशाला एवं अश्वशाला होनी चाहिये।।६०-६२।।

सोमे प्रसूतिका चोपनीतिका च प्रवक्ष्यते।
मृगादित्युदितीशाने जयन्ते दीर्घिकादिका ॥६३॥

विहारारामभूमिः स्यात्तत्र साङ्गणका सभा।
तृतीयावरणे प्रोक्ताः सर्वेषामन्तराननाः ॥६४॥

सोम के पद पर प्रसूतिगृह एवं उपनीतिका (विचार-विमर्श का स्थान) होनी चाहिये। मृग, अदिति, उदिति, ईशान एवं जयन्त के पद पर दीर्घिका (तालाब) आदि होना चाहिये। वहीं पर विहार एवं आराम (उपवन) तथा आँगन से युक्त सभा-स्थल होना चाहिये।।६३-६४।।

❁ नगरम् ❁

वेश्मनां पुरतः पार्श्वे शेषराजबलावलिः।
तद्बाह्ये वणिजादीनां वासपङ्क्तिस्तु युक्तितः ॥६५॥

अपरे दीर्घिकायामं वापीकूपादिकं क्रमात्।
तत्रैवान्तःपुरं मूलभृत्यानां वासपङ्क्तिकम् ॥६६॥

नगर—(राज) भवन के सामने एवं बगल में राजा की सेनापंक्ति होनी चाहिये। उसके बाहर व्यापारियों के आवास की पंक्ति आवश्यकतानुसार होनी चाहिये। राजभवन

की पश्चिम दिशा में लम्बी दीर्घिका, वापी एवं कूप आदि क्रमशः होने चाहिये। वहीं पर अन्तःपुर तथा मूलभृत्यों (वंशों से रहने वाले सेवकों) के आवास की पंक्ति होनी चाहिये।।६५-६६।।

सर्वत्र दीर्घिकारामवापीकूपसमन्वितम् ।
नानाजातिसमाकीर्णं नानास्त्रीजनसंयुतम् ।।६७।।

नानाशिल्पसमोपेतं षड्बलैः परिपूरितम् ।
प्रागुदक्प्रागवाक्कोणे शाला हस्त्यश्ववासिका ।।६८।।

नानावर्णसमोपेता नानापणिकयान्विता ।
सर्वे वर्णा यथाराजा स्वस्वनाम्नाभिधानकाः ।।६९।।

(नगर में) दीर्घिका, आराम (उपवन), वापी एवं कूप सभी स्थानों पर होना चाहिये। विभिन्न जाति के लोग एवं विभिन्न प्रकार की स्त्रियाँ वहाँ निवास करती हैं। विभिन्न प्रकार के शिल्पी वहाँ निवास करते हैं तथा (नगर) छः प्रकार की सेनाओं से युक्त होता है। पूर्वोत्तर कोण एवं दक्षिण-पूर्व कोण में गजशाला एवं अश्वशाला होती है। नगर विभिन्न वर्ण के लोगों से युक्त, विभिन्न व्यापारीवर्ग से युक्त होता है। सभी वर्ग के लोग राजा की इच्छा के अनुसार अपने-अपने अभिधान वाले होने चाहिये।

नगरभित्तिः

नगरावृतसालः स्याद्विशालः स्याद् द्विदण्डकः ।
कथ्यते पञ्चषट्सप्तहस्तैर्वा विस्तरं क्रमात् ।।७०।।

व्यासद्वित्रिगुणोत्सेधं बहिः पांसुचयान्वितम् ।
अभीप्सितधनुर्वात्र परिखावप्रयोर्मतम् ।।७१।।

तद्बहिः शिल्पिकोपेतं सर्वत्रैव समन्वितम् ।

नगर का प्राकार—नगर को चारो ओर से घेरने वाला प्राकार दो दण्ड चौड़ा होना चाहिये। इसकी चौड़ाई क्रमशः पाँच, छः या सात हाथ माप की भी कही गई है। इसकी ऊँचाई चौड़ाई से दुगुनी या तीन गुनी होनी चाहिये एवं इसके बाहर मिट्टी की भित्ति होनी चाहिये या इसके बाहर एक धनुप्रमाण (एक दण्ड) से परिखा एवं वप्र (मिट्टी की भित्ति) होनी चाहिये। उसके बाहर सभी स्थान पर शिल्पिका (रचना-विशेष) होनी चाहिये।।७०-७१।।

राजवेश्मगोपुराणि

सर्वेषां सम्प्रशस्तं स्यान्महत्यल्पे च गोपुरम् ।।७२।।

स्वाम्यावाससमं बाह्यगोपुरं प्रविधीयते ।
अल्पत्वे स्वामिवासस्य तलादेकोनमिष्यते ॥७३॥

नन्दरुद्रतले मूले सप्तभूद्वारगोपुरम् ।
एकैकतलसंख्याभिर्हीनमभ्यन्तरे क्रमात् ॥७४॥

राजभवन के गोपुर द्वार—सभी राजभवनों में छोटा या बड़ा गोपुर होना चाहिये। बाहरी (प्राकार का) गोपुर स्वामी (राजा) के आवास बराबर होना चाहिये। यदि स्वामी का आवास छोटा हो तो गोपुर आवास से छोटा एवं एक तल का होना चाहिये। यदि प्रधान भवन नौ या ग्यारह तल का हो तो द्वार-गोपुर सात तल का होना चाहिये। भीतरी (भित्ति पर निर्मित) गोपुर बाहरी भित्तियों के गोपुर से क्रमशः एक-एक तल कम होता जाना चाहिये।।७२-७४।।

विशेषेण नरेन्द्राणां महेन्द्रद्वारमुत्तमम् ।
राक्षसांशेऽथवा मुख्यं द्वारं पञ्चत्रिभूमिकम् ॥७५॥

पुष्पदन्ते च भल्लाटे द्वारं नीचतलान्वितम् ।
सुग्रीवांशेऽथवा मुख्ये जयन्ते वितथेऽपि च ॥७६॥

पक्षद्वारं प्रकर्तव्यमेकद्वितलसंयुतम् ।
अन्तःसालं बहिःसालं सच्छिद्रं च सचक्रकम् ॥७७॥

नरेन्द्र राजाओं (राजाओं का स्तरविशेष) का सबसे बड़ा गोपुर द्वार महेन्द्र के पद पर या राक्षस के पद पर पाँच या तीन तल का होना चाहिये। पुष्पदन्त और भल्लाट के पद पर कम तलों का गोपुर द्वार होना चाहिये। सुग्रीव, मुख्य, जयन्त एवं वितथ के पद पर पर पक्षद्वार (पार्श्वद्वार) एक या दो तल से युक्त निर्मित करना चाहिये।

विशेषेण नरेन्द्राणामिन्द्रभागे तु मन्दिरम् ।
ब्रह्मांशमाश्रितं वेश्म सर्वसम्पत्सुखावहम् ॥७८॥

विशेष रूप से नरेन्द्रों का भवन इन्द्र के पद पर होना चाहिये। ब्रह्मा के भाग से संलग्न राजभवन सभी प्रकार की सम्पत्तियों एवं सुखों का प्रदाता होता है।।७८।।

❋ वेश्मतललम्बविधानम् ❋

सकलक्षितिपेन्द्राणामेकादशतलं भवेत् ।
नवभूमिर्द्विजातीनां नृपाणां सप्तभूमकम् ॥७९॥

षट्तलं मण्डलीशानां पञ्चभूर्युवराजके ।
वैश्यानां तु चतुर्भौमं योधसेनेशयोरपि ॥८०॥

एकादित्रितलान्तं च शूद्राणां प्रविधीयते।
सामन्तप्रमुखादीनां कारयेत् पञ्चभूमकम् ॥८१॥

राजभवन के तल का विधान—सम्पूर्ण पृथिवी के स्वामी राजा का भवन ग्यारह तल का होता है। ब्राह्मणों का भवन नौ तल का, राजाओं (क्षत्रियों) का भवन सात तल का, मण्डल के स्वामियों का भवन छ: तल का, युवराज का भवन पाँच तल का, वैश्यों का चार तल का तथा योद्धाओं एवं सेनाओं के स्वामी का भवन भी चार तल का होता है। शूद्रों का भवन एक से लेकर तीन तलपर्यन्त होना चाहिये। सामन्त आदि प्रमुखों का भवन पाँच भूमियों का होना चाहिये।।७९-८१।।

युग्मं वायुग्मभूमं वा सर्वभूपेन्द्रमन्दिरम्।
राज्ञां स्त्रीणां च देवीनां युग्मं वाऽयुग्ममेव वा ॥८२॥

सदण्डिकं लुपारोहि द्विनेत्रं प्रस्तरान्वितम्।
मृण्मयं तु तृणाच्छाद्यमेकद्वितलसंयुतम् ॥८३॥

स्तूपिकर्णलुपाहीनं प्रशस्तं सर्वजातिषु।

सभी राजभवन सम या विषम संख्या वाले तल से युक्त होते हैं। राजा की स्त्रियों तथा देवियों (अन्य पत्नियों) के भवन के तल सम या विषम संख्या में होते हैं। दण्डियुक्त, लूपायुक्त, दो नेत्र (खिड़की) एवं प्रस्तर से युक्त मृत्तिका-निर्मित, तृणों (घास-फूस) से आच्छादित, एक तल या दो तल से युक्त, स्तूपिका एवं कर्णलुपा से रहित भवन सभी वर्ण वालों के लिये प्रशस्त होता है।।८२-८३।।

मिश्रितान्तरवर्णानां सम्पदैश्वर्यभोगिनाम् ॥८४॥

रुचकादिनिवासांश्च युक्त्या तत्र प्रयोजयेत्।
अनुक्तं सर्वमत्रैव युक्त्या तद्योजयेत् सुधीः ॥८५॥

सामान्येनोदिता राज्ञां राजधानी तु पण्डितैः।

मिश्रित जाति के लोगों, सभी प्रकार के ऐश्वर्य का भोग करने वालों, रुचक आदि भवनों में निवास करने वालों के भवन में (तल आदि का) आवश्यकतानुसार निर्माण करना चाहिये। यहाँ जिन अंगों की चर्चा नहीं की गई है, उनका प्रयोग बुद्धिमान व्यक्ति को आवश्यकतानुसार करना चाहिये। इस प्रकार पण्डितों ने राजाओं की राजधानी के सामान्य नियमों का वर्णन किया है।।८४-८५।।

❋ नरेन्द्रवेश्म ❋

विशेषेण नरेन्द्राणां वक्ष्ये वेश्म सनातनम् ॥८६॥

नरेन्द्र का राजभवन—अब मैं (मय) विशेष रूप से नरेन्द्र के सनातन आवास के विषय में कहता हूँ।।८६।।

प्राकारः

प्राकारो विपुलो दण्डः परिखा द्वित्रिदण्डकैः।
वृत्तमार्गश्चतुर्दण्डैर्विंशद्दण्डैर्गृहावलिः ।।८७।।

वेश्यालीलावृतो मार्गस्त्रिचतुर्दण्डमानतः।
वप्रमार्गस्त्रिदण्डं स्यात् प्राकारं पञ्चहस्तकम् ।।८८।।

प्राकार, बाहरी भित्ति—प्राकार की चौड़ाई एक दण्ड (एवं उससे लगी हुई) परिखा दो या तीन दण्ड की होनी चाहिये। वृत्त-मार्ग चार दण्ड एवं बीस दण्ड तक गृहों की पंक्तियाँ होनी चाहिये। वेश्याओं की क्रीड़ा से आवृत मार्ग तीन या चार दण्ड मान का होना चाहिये। (इसके पश्चात्) तीन दण्ड का वप्र मार्ग (मिट्टी से निर्मित मार्ग) तथा पाँच हाथ प्रमाण का प्राकार (दूसरा प्राकार) होना चाहिये।।८७-८८।।

तस्यापि परिखा प्रोक्ता चतुर्दण्डैकविस्तृता।
परिखा परितो मार्गाश्चाष्टयष्टिविशालकाः ।।८९।।

ततोऽष्टचत्वारिंशद्भिर्विश्वावलिरथावृता।
तद्बहिः परितो मार्गाः षट्सप्तधनुरादिकाः ।।९०।।

चतुर्दण्डं ततो वप्रप्राकारं सप्तहस्तकम्।
दण्डेनैकेन विधृतं नागपूरितबन्धनम् ।।९१।।

उसकी (द्वितीय प्राकार की) परिखा चार दण्ड चौड़ी होनी चाहिये। परिखा के चारो ओर आठ यष्टि विस्तृत मार्ग होना चाहिये। उसके पश्चात् अड़तालीस दण्ड विस्तृत क्षेत्र में सभी प्रकार के भवन होने चाहिये। उसके बाहर चारो ओर छः या सात धनु प्रमाण विस्तृत मार्ग होने चाहिये। पुनः चार दण्ड प्रमाण का वप्र एवं सात हाथ का प्राकार (तीसरा प्राकार) होना चाहिये। (इसके पश्चात्) एक दण्ड प्रमाण का नागों से युक्त बन्धन (बाँध, खाई) होना चाहिये।।८९-९१।।

अष्टदण्डादिसूर्यान्तं परिखाविपुलं भवेत्।
बाह्याभ्यन्तरमार्गं तु प्राकारविपुलं तथा ।।९२।।

तद्बहिर्दशदण्डेन सीमा सर्वजनालया।
प्राकारं वा सवासं च परिखाश्च समीरिताः ।।९३।।

वप्रप्राकारमित्येवं वास्तुविद्भिः प्रशंसितम्।

पञ्चावरणके शस्तावरणकं द्विचतुष्टयैः।
अन्तःपरिवृतं युक्तियुक्तं वीक्ष्य निवेशयेत्॥९४॥

परिखा की चौड़ाई आठ दण्ड से लेकर बारह दण्डपर्यन्त होनी चाहिये। प्राकार की चौड़ाई के बराबर भीतरी एवं बाहरी मार्ग होना चाहिये। उसे बाहर दस दण्ड तक सभी प्रकार के लोगों का आवास होना चाहिये। अथवा वहाँ प्राकार (चौथा प्राकार) या आवास के साथ परिखायें होनी चाहिये। वास्तुविदों के द्वारा इस प्रकार वप्र एवं प्राकार की प्रशंसा की गई है। पाँचवाँ आवरण (प्राकार) आठ हाथ चौड़ा होना चाहिये। भीतरी भागों की योजना आवश्यकतानुसार करनी चाहिये।।९२-९४।।

वेश्मविन्यासः

आत्तविशालायामे पार्श्वांशेंऽशं मुखेऽमुखे नीत्वा।
शेषे षण्णवभागे त्रिंशतिपञ्चांशब्रह्मवस्तु स्यात्॥९५॥

तस्मिन् शतपादयुतं मण्डपमन्तस्तु वेदिकापीठम्।
अन्तरसं युतमेतत् प्रासादो वा प्रपा ततः परितः॥९६॥

पन्था भागस्तेन समादेशखलूरिका परितः।
द्वारचतुष्टययुक्ता सौष्ठिककोष्ठान्विता तथा शुभदा॥९७॥

राजभवन का विन्यास—राजभवन के चुने हुये विस्तार एवं लम्बाई के छः एवं नौ भाग करने चाहिये। एक भाग सामने के लिये, एक भाग पीछे के लिये एवं एक-एक भाग दोनों पार्श्वों के लिये रखना चाहिये। शेष भाग में पैंतीस भाग ब्रह्मा का स्थान होता है। उस स्थान पर सौ स्तम्भों वाला मण्डप एवं उसके भीतर वेदिकापीठ होना चाहिये या उसके भीतर देवालय हो एवं उसके चारो ओर प्रपा निर्मित हो। एक भाग से मार्ग एवं उसी प्रमाण से खलूरिका (अतिरिक्त भाग) निर्मित करना चाहिये। यह चार द्वारों से युक्त, सौष्ठिक (लम्बा कक्ष) एवं कोष्ठ से युक्त होने पर प्रशस्त होती है।।९५-९७।।

युक्त्यासनमुदितं तन्मुखदेवांशके तु नवके वा।
प्रासादादिष्टांशे दक्षिणतो राजकत्वे वा॥९८॥

उत्तरदिश्यपि दिष्टं ज्येष्ठयुवत्यालयं तु ततः।
आर्यपदे निहितं तद्द्वारकहर्म्यं प्रतीच्यां वितनम्॥९९॥

शाला वा ह्यभिषेका सर्वविचित्रान्विता सभा तत्र।
कर्णचतुष्टयकेऽन्तर्दृढपदयुक्ता सभा खलूरियुता॥१००॥

राजभवन का केन्द्रभाग के नियमों का वर्णन किया गया। वहाँ नौ पदों पर प्रमुख

देवता का स्थान भी हो सकता है। राजभवन को अभीप्सित भाग में, देवालय के दक्षिण भाग में तथा ज्येष्ठ रानियों के आवास के उत्तर भाग में होना चाहिये। आर्य के पद पर द्वार होना चाहिये एवं जिसके पश्चिम में हर्म्य, शाला या सभी रंग-विरंगे अलंकरणों से युक्त अभिषेक-सभा होनी चाहिये। चारो कोनों पर दृढ़ स्तम्भों से युक्त खलूरिकायुक्त सभा होनी चाहिये।।९८-१००।।

प्रागुत्तरदिशि सलिलं स्नानं देवालयं तु होमाग्रम्।
सेनालोकनहर्म्यं कूटं वा प्रागवाग्दिशि यत्तत्॥१०१॥

पश्चिमदक्षिणकोणे नृत्तकवाद्यादिलीलया च सभा।
उत्तरपश्चिमकोणे वासं स्याद् गीतकादिवनितानाम्॥१०२॥

पूर्वोत्तर दिशा में जल, स्नान एवं देवों का गृह होना चाहिये। सामने होम का स्थान होना चाहिये। पूर्व-दक्षिण दिशा में सेना के अवलोकन का हर्म्य (कक्ष) या कूट होना चाहिये। पश्चिम-दक्षिण कोण में नृत्य, वाद्य एवं अन्य मनोरञ्जन के स्थान तथा उत्तर-पश्चिम कोण में गायक आदि का एवं अन्य (नाट्यादिकर्मी) स्त्रियों का स्थान होना चाहिये।।१०१-१०२।।

प्राच्यां दिश्यङ्गणकं दुर्गाया मेरुगोपुरकम्।
प्रागुत्तरदिशि सलिलं तत्क्रीडाङ्गणं च सभा तत्र॥१०३॥

ग्रासनपानायतनं कुर्यात् सम्यक्तु लक्षणाभियुतम्।
तत्प्रागदक्षिणकोणे मध्याङ्गणकान्विता सभा तत्र॥१०४॥

रत्नाष्टपदवस्त्रप्रभृतीनां वासमिष्टं स्यात्।
तत्परदक्षिणकोणे मध्याङ्गणकादिसंयुता च सभा॥१०५॥

तद्बहिरावृतभागे यत्र स्वभवनानि तत्र वनितानाम्।
अपरे चारामयुतं वासक्रीडान्वितं तु तत्सजलम्॥१०६॥

प्रत्युदग्दिशि कोणे सर्वस्त्रैणान्वितं सभावासम्।

पूर्व दिशा में दुर्ग का आँगन एवं मेरु गोपुर, पूर्वोत्तर दिशा में जल, जलक्रीड़ा का आँगन एवं सभा होनी चाहिये। वहाँ भोजन एवं पान का गृह सभी उचित लक्षणों से युक्त निर्मित करना चाहिये। पूर्व-दक्षिण कोण में मध्य-आँगन से युक्त सभा होनी चाहिये। वहाँ रत्न, सुवर्ण एवं वस्त्र आदि का गृह प्रशस्त होता है। उसके पश्चात् दक्षिण कोण में मध्य-आँगन से युक्त सभा होनी चाहिये। इसके बाहर चारो ओर स्त्रियों के अपने भवन होने चाहिये। वहाँ आराम (बगीचा) से युक्त क्रीड़ागृह एवं जल का स्थान होना चाहिये। पूर्वोत्तर कोण में सभी स्त्रियों का सभावास (सभी के रूप में

आवास या कक्ष) होना चाहिये।।१०३-१०६।।

अत्रानुक्तं सर्वं पूर्ववदिष्टं बहिस्त्वयं स्वबहिः ।
एतत्पद्मकमुदितं राज्ञामावासकं मुनिभिः ।।१०७।।

यहाँ राजभवन के जिन भीतरी अंगों एवं बाहरी अंगों का वर्णन नहीं किया गया है, उनके विषय में पूर्ववर्णित नियम जानना चाहिये। इस प्रकार मुनियों ने राजाओं के पद्मक आवास का वर्णन किया है।।१०७।।

सौबलवेश्म

प्रथमावरणम्

गृहीतविपुलायामे स्थानीयांशे तु मध्यमे ।
सकले ब्रह्मणः पीठं वेदिकान्तं तु मण्डपम् ।।१०८।।

दक्षिणे चोत्तरे चैव राजदेवीगृहं भवेत् ।
पश्चिमे नृपतीशस्य मन्दिरं बहुभूमिकम् ।।१०९।।

प्राच्यां दिश्यङ्गणं मध्ये द्वारशोभादिमण्डितम् ।
द्वारस्य पश्चिमे प्राच्यामभिषेकालयं भवेत् ।।११०।।

एतत्पीठपदे न्यासं तस्मिन् सालं तु पूर्ववत् ।

सौबल राजगृह (प्रथम आवरण, प्राकार)—राजभवन की लम्बाई एवं चौड़ाई सुनिश्चित कर स्थानीय संज्ञक वास्तुमण्डल (एक सौ बीस पद वास्तु) निर्मित करना चाहिये। मध्य पद में सकल वास्तुमण्डल के अनुसार ब्रह्मा की पीठ बनानी चाहिये। यह वेदिका पर मण्डप में होनी चाहिये। रानी का भवन दक्षिण एवं उत्तर में होना चाहिये। पश्चिम दिशा में राजा का भवन अनेक तलों से युक्त होना चाहिये। पूर्व दिशा में आँगन होना चाहिये एवं मध्य भाग में द्वारशोभा संज्ञक द्वार आदि से सुसज्जित होना चाहिये। द्वार के पश्चिम में पूर्वी भाग में अभिषेक गृह होना चाहिये। इसकी योजना पीठ-वास्तु पद पर होनी चाहिये। इस पर साल (प्रथम आवरण) पूर्व-वर्णन के अनुसार करना चाहिये।।१०८-११०।।

द्वितीयावरणम्

उपपीठपदे तस्माद् बाह्ये पूर्वादिषु क्रमात् ।।१११।।

जयन्ते भानुभागे तु भृशभागेऽङ्गणं भवेत् ।
तन्मध्ये द्वारहर्म्यं स्यात् त्रितलादितलान्वितम् ।।११२।।

अग्नौ महानसं कुर्याद् वितथे मूलकोशकम् ।
तस्मिन् पदांशमाश्रित्य द्वारप्रासादयोगिकम् ।।११३।।

उसके पश्चात् (प्रथम आवरण के पश्चात्) पूर्व से प्रारम्भ कर क्रमशः जयन्त, भानु एवं भृश के पद पर आँगन होना चाहिये। उनके मध्य में तीन तल से युक्त द्वारहर्म्य द्वार होना चाहिये। अग्नि के पद पर रसोई एवं वितथ के पद पर मूल कोश (पारिवारिक कोष) होना चाहिये। उसी पद-भाग पर द्वारप्रासाद द्वार का निर्माण होना चाहिये।

यमे भृङ्गनृपे चैव पित्रंशे योषितां गृहम्।
सुगले नृत्तशाला स्याद् वारुणे नृपमन्दिरम् ॥११४॥

शोषे चान्तःपुरं वायौ वापीक्रीडासमन्वितम्।
मुख्ये वासं महिष्यास्तु शाला वा मालिका भवेत् ॥११५॥

यम, भृंगराज एवं पितृभाग पर स्त्रियों का भवन होना चाहिये। सुगल के पद पर नृत्तशाला (रंगमञ्च, नाट्यगृह) एवं वारुण के पद पर राजभवन होना चाहिये। शोष के पद पर अन्तःपुर एवं वायु के पद पर जल-क्रीड़ा के निमित्त वापी होनी चाहिये। मुख्य के पद पर राजमहिषी का आवास, शाला या मालिका होनी चाहिये।

सोमभागे तुलाभारं हेमगर्भं तु तत्परे।
दित्यंशे हेमरत्नानि गन्धागारमिहोच्यते ॥११६॥

तत्रैव हस्तिशाला स्यादीशे वापी च कूपकम्।
वचोर्गेहं तु तत्रैव जलयन्त्रं विधीयते ॥११७॥

तत्र सालं च मार्गं च पूर्ववत् परिकल्पयेत्।

तुलाभार का निर्माण सोम के पद पर और उसके पश्चात् हेमगर्भ का कृत्य होना चाहिये। दिति के भाग पर सुवर्ण एवं रत्न तथा सुगन्धि का कक्ष होना चाहिये। वहीं गजशाला होनी चाहिये। ईश के पद पर वापी एवं कूप होना चाहिये। वहीं वर्चोगृह (शौचगृह) एवं जलयन्त्र स्थापित करना चाहिये। वहीं पर साल (द्वितीय आवरण) एवं मार्ग का निर्माण पूर्ववर्णित विधि से करना चाहिये।।११६-११७।।

❋ तृतीयावरणम् ❋

स्थण्डिलं तद्बहिर्भागे पर्जन्यांशे महेन्द्रके ॥११८॥
भानुसत्यान्तरिक्षेष्वेवाङ्गणं कारयेत् सुधीः।
महेन्द्रांशे भवेद् द्वारं चतुष्पञ्चतलान्वितम् ॥११९॥
तत्रैव शङ्खभेर्यादितौर्यशब्दादिचित्रकम्।
अनुक्तं पूर्ववत् सर्वं परितः प्रविधीयते ॥१२०॥
परमशायिबाह्ये तत्तत्प्राच्यामङ्गणं भवेत्।

तृतीय आवरण—उसके (द्वितीय आवरण) के बाहर स्थण्डिल वास्तुमण्डल (उनचास पद का वास्तुमण्डल) निर्मित करना चाहिये। बुद्धिमानों के मतानुसार पर्जन्य, महेन्द्र, भानु, सत्य एवं अन्तरिक्ष के पद पर आँगन निर्मित करना चाहिये। महेन्द्र के पद पर चार या पाँच तल से युक्त द्वार निर्मित करना चाहिये। वहीं शंख, भेरी आदि वाद्यों के विभिन्न प्रकार के शब्द होते रहें। यहाँ जिन बातों का वर्णन नहीं किया गया है, उन सभी का चारो ओर निर्माण पूर्ववर्णन के अनुसार करना चाहिये। इस (तृतीय आवरण) के बाहर परमशायी वास्तुमण्डल (इक्यासी पद) निर्मित करना चाहिये। इसके पूर्व भाग में आँगन होना चाहिये।।११८-१२०।।

चतुर्थावरणम्

जयन्ताद्यन्तरिक्षान्तमङ्गणं कारयेद् भृशम् ॥१२१॥
अनुक्तं पूर्ववत् सर्वं श्येनांशादिक्रमेण च।

चौथा आवरण—इसका (पूर्ववर्णित आँगन का) अधिकांश भाग जयन्त से अन्तरिक्षपर्यन्त होना चाहिये। जिनकी यहाँ चर्चा नहीं की गई है, वे सभी श्येन (अग्नि) के पद से प्रारम्भ करते हुये निर्मित होने चाहिये।।१२१।।

पञ्चमावरणम्

स्थानीये तद्बहिर्भागे प्राच्यां दिश्यङ्गणं भवेत् ॥१२२॥
अङ्गणस्य तु विस्तारं दैर्घ्यद्विस्सप्तभागिकम्।
द्वारगोपुरसंयुक्तं दुर्गाधामसमन्वितम् ॥१२३॥
महामहानसं तस्य प्राग्दक्षिणगतं भवेत्।
तत्र कर्मान्तवत्सानां लेखनानां तु कर्मिणाम् ॥१२४॥

पाँचवाँ आवरण—उसके (चौथे आवरण के) बाहर स्थानीय वास्तुमण्डल (एक सौ इक्कीस पद) के पूर्व दिशा में आँगन होना चाहिये। इस आँगन की चौड़ाई उसकी लम्बाई के सात भाग में दो भाग से रखनी चाहिये। यह गोपुर द्वार से एवं दुर्ग के मन्दिर से युक्त होना चाहिये। इसके पूर्व-दक्षिण भाग में बड़ी रसोईगृह होनी चाहिये। वहीं राजभवन के राजकीय कार्यों का लेखन करने वाले (प्रशासन) कर्मियों का स्थान होना चाहिये।।१२२-१२४।।

दक्षिणे चाष्टभागे तु चैवाङ्गणमहान्तरम्।
अश्वलीलार्थकं वाऽथ गजलीलार्थकं तु यत् ॥१२५॥
तत्रैव तुङ्गकूटं स्यान्निर्ऋतौ नृपमन्दिरम्।
खलूरिं तद्बहिर्भागे तद्बहिर्योषितां गृहम् ॥१२६॥

वरुणे नृपवामे स्याद् योषितां सङ्करालयम्।
जलक्रीडा सभा वाऽथ मालिका वासमन्दिरम्॥१२७॥

दक्षिण भाग में आठ पदों पर एक बड़ा आवृत आँगन होना चाहिये, जहाँ अश्व-क्रीड़ा या गज-क्रीड़ा होनी चाहिये। वहीं ऊँचा कूट एवं निर्ऋति के पद पर राजभवन होना चाहिये। उसके बाहरी भाग में खलूरिका तथा उसके बाहर वरुण पद पर स्त्रियों का आवास होना चाहिये। नृप-भवन के वाम भाग में स्त्रियों का सङ्करालय (मिलने-जुलने का कक्ष), जलक्रीड़ास्थान, सभा, मालिका या आवासभवन होना चाहिये।

वायुभागे तु वापी स्याद् विहाराश्रमभूमिकम्।
सोमभागे तुलाभारं हेमगर्भं तु तत्परे॥१२८॥

ईशदेशे शिवावासं युक्त्या तत्र प्रयोजयेत्।
तद्बहिर्नगरं वाऽथ शिबिरं पूर्ववत् क्रमात्।
एतत्सौबलमित्युक्तं नाम्ना राजेन्द्रमन्दिरम्॥१२९॥

वायु के पद पर वापी, विहार (उद्यान आदि) एवं आश्रम आदि का स्थान होना चाहिये। सोम के पद पर तुलाभार एवं उसके बाद सुवर्णगर्भ का कृत्य करना चाहिये। ईश के पद पर शिवालय उचित रीति से निर्मित करना चाहिये। उसके (पाँचवीं भित्ति के) बाहर नगर या शिविर का निर्माण पूर्ववर्णित विधि से करना चाहिये। इस राजभवन को सौबल कहा गया है।।१२८-१२९।।

❋ अधिराजमन्दिरम् ❋

अधिराज्ञां प्रतिभवनं वक्ष्ये वैशेषकेन संक्षिप्य।
आत्तविशालायामे तत्रोभयचण्डिते तु मध्यपदे॥१३०॥

ब्रह्मासनमथवास्मिन्नभिषेकार्हसभासु मण्डपकम्।

अधिराज राजभवन—अब मैं विशेष रूप से संक्षेप में अधिराज राजाओं के भवन का वर्णन करता हूँ। विस्तार एवं लम्बाई का निश्चय करने के पश्चात् वहाँ उभयचण्डित वास्तुमण्डल (उनहत्तर पद) निर्मित करना चाहिये। उसके मध्य पद में ब्रह्मा का आसन या अभिषेक के योग्य सभागार एवं मण्डप निर्मित करना चाहिये।।१३०।।

तदपरभागे भवनं तेन सहैवेषुसप्तनवनलकम्॥१३१॥

पृष्ठे तद्द्विकपार्श्वे चाङ्गणयुक्ता खलूरिकांशेन।
भोजनभोज्यालयका नृपतेर्वाञ्छावशादबहिः॥१३२॥

उसके पश्चिम भाग में पाँच, सात या नौ तल का राजभवन होना चाहिये। उसके

पृष्ठ भाग एवं दोनों पार्श्वों में एक भाग से आँगन से युक्त खलूरिका होनी चाहिये। राजा की इच्छानुसार भीतरी भाग में भोजन-कक्ष का निर्माण करना चाहिये।।१३१-१३२।।

तत्प्रागुत्तरकोणे मज्जनशाला च देवगृहम्।
पुरतोऽङ्गणमुरुविपुलायामोपेतं नवांशेन ॥१३३॥

प्रागिव तत्र खलूरी कर्तव्या मध्यदेशयुता।
द्वारं द्वित्रितलाढ्यं तस्मिन् भेरी निधातव्या ॥१३४॥

मण्डपमुखमिह भवनं पार्श्वे पोतस्य पार्श्वकर्तव्या।
...................................यद्यदद्वरे प्रयोगिके नृपतेः ॥१३५॥

त्रिद्विकपार्श्वेऽङ्गणके गोलादीनां विहारस्था।
प्रागुत्तरदिशि कोणे भवनं स्यान्मूलकोशगृहम् ॥१३६॥

पूर्वोत्तर कोण में स्नानगृह एवं देवालय होना चाहिये। सामने नौ भाग से अत्यन्त लम्बा-चौड़ा विशाल आँगन होना चाहिये, जिसके पूर्व भाग में मध्यभाग से युक्त खलूरिका निर्मित होनी चाहिये। दो या तीन तलयुक्त द्वार हो, जिस पर भेरी होनी चाहिये। भवन का मुख-मण्डप यहाँ निर्मित करना चाहिये तथा पार्श्व-भाग में पोत का पार्श्वभाग निर्मित करना चाहिये। .... द्वार के समीप राजा का प्रयोगस्थल (अभ्यासस्थल) होना चाहिये। आँगन के दो या तीन पार्श्व भागों में गोलक आदि (खेलों) का स्थान होना चाहिये। जिस भवन में मूल कोश (प्रधान खजाना) रक्खा जाय, वह पूर्वोत्तर कोण में होना चाहिये।।१३३-१३६।।

तदपरभागे वस्त्रप्रभृतीनामालयस्थलं कुर्यात्।
द्वारस्योत्तरपार्श्वे पानीयोष्णोदकालयं कुर्यात् ॥१३७॥

कुर्यात् पचनालयकं सर्वद्रव्यालयं तु तत्रैव।
द्वारस्य दक्षिणदिशि तत्राधिवासकं कुर्यात् ॥१३८॥

तद्दक्षिणदिशि गन्धप्रभृतीनामालयं कुर्यात्।
प्राग्दक्षिणगतकोणे भवनं स्यान्मूलकोशगृहम् ॥१३९॥

राक्षसभागे तत्तु पश्चिमभागे द्विपेन्द्रमन्दिरकम्।
तत्परदक्षिणकोणे शैवस्थानं सरत्नहेमगृहम् ॥१४०॥

उसके पश्चिम भाग में वस्त्र आदि का स्थान एवं कक्ष होना चाहिये। द्वार के उत्तर भाग में पीने योग्य पानी एवं उष्ण जल का कक्ष निर्मित करना चाहिये। वहीं पर पाक-गृह एवं सभी वस्तुओं को रखने का स्थान (संग्रह कक्ष) निर्मित करना चाहिये। द्वार

के दक्षिण भाग में अधिवासक गृह (कपड़ा बदलने का स्थान) निर्मित करना चाहिये। उसके दक्षिण भाग में सुगन्ध आदि (शृंगारपरक सामग्री) का कक्ष होना चाहिये। पूर्व-दक्षिण में निर्मित कक्ष में मूल कोश रखने का गृह निर्मित होना चाहिये। राक्षस के पद पर एवं उसके पश्चिम भाग में गजशाला होनी चाहिये। उसके पश्चात् दक्षिण-पश्चिम कोण में शिव का स्थान एवं रत्न और सुवर्ण रखने का कक्ष होना चाहिये।

तत्प्रत्यगुदक्कोणे दानाध्ययनार्थकालयं कुर्यात्।
प्रायः प्रयोगशाला द्वारांशके तु नीचं तत्॥१४१॥

द्वारस्योभयपार्श्वे सारद्रव्यालयं तु कूटगृहम्।
तत्रैव हस्तिशाला सर्वौषधिशस्त्रशाला स्यात्॥१४२॥

अन्यत्सर्वं नृपतेरिच्छावशतः प्रकर्तव्यम्।

पूर्वोत्तर कोण में दान एवं अध्ययन हेतु शाला होनी चाहिये। प्रायः प्रयोगशाला एवं छोटा द्वार होना चाहिये। (यहाँ मूल-पाठ खण्डित है।) द्वार के दोनों पार्श्वों में सार-द्रव्यों का स्थान एवं कूट-गृह होना चाहिये। वही पर गजशाला, सभी प्रकार के ओषधियों का कक्ष एवं शस्त्रागार होना चाहिये। अन्य सभी व्यवस्थायें राजा की इच्छा के अनुसार करनी चाहिये।।१४१-१४२।।

अथ नृपेशगृहं च मुखाङ्गणं
परियुतं हि भवेन्मुखमण्डपम्।
अपि च भोगगृहं तु निवारणं
नृपतिवाञ्छतिगृहा.................................. ॥१४३॥

राजा का भवन मुखाङ्गण (सम्मुख आँगन) एवं मुखमण्डल से युक्त होना चाहिये। राजा की इच्छानुसार भोग-गृह एवं रक्षा-व्यवस्था करनी चाहिये। (यहाँ मूल पाठ खण्डित है)।।१४३।।

तद्दक्षिणतः पार्श्वे द्विःषट्पदके महाङ्गणं दीर्घ्यम्।
तस्मिन् पश्चिमभागे मण्डपमथ मालिका वाऽथ॥१४४॥

शाला तदुभयपार्श्वेऽप्यभितः स्नानं च मण्डपं च स्यात्।
अङ्गणकदक्षिणके सर्वद्रव्यालयं तदेव स्यात्॥१४५॥

वेशनपरिघामिण्ठककूटशालाविचित्रितं पुरतः।
पुरतो भवनाङ्गणयोर्द्विपार्श्वभागतः परितः॥१४६॥

अपरो स्त्रीवासो वा साङ्गणकं मालिकाभिधा पङ्क्तिः।
भवनस्योत्तरपार्श्वे तत्र माहिष्यालयं तु तत्तुङ्गम्॥१४७॥

भागं तत्त्रिकपार्श्वं राज्ञां च मालिकापङ्क्तिः ।
तत्रैव कन्यकानां वासं वसुधाऽत्र कुब्जकादीनाम् ॥१४८॥

उसके दक्षिण पार्श्व भाग में बारह पद का लम्बा आँगन होना चाहिये। वहीं पश्चिम भाग में मण्डप, शाला या मालिका होनी चाहिये। उसके दोनों पार्श्वों में स्नान-गृह एवं मण्डप होना चाहिये। आँगन के दक्षिण भाग में सभी प्रकार की वस्तुओं का संग्रहकक्ष होना चाहिये। 'पूर्व भाग में परिघा, मिण्ठक एवं कूटशाला से सुसज्जित वेशन (प्रवेश द्वार) होना चाहिये। राजभवन के एवं आँगन के पूर्व भाग, दोनों पार्श्वों एवं पश्चिम भाग में स्त्रियों का आँगन से युक्त आवास या मालिकागृहों की पंक्ति होनी चाहिये। भवन के उत्तर पार्श्व में राजभवन के समान ऊँचा राजमहिषी का भवन होना चाहिये। उसके एक भाग माप से पार्श्व भाग में रानियों की मालिका-पंक्ति (भवनों की पंक्ति) होनी चाहिये। वहीं कन्याओं का आवास एवं कुब्जक आदि (सेवकों) का आवास होना चाहिये।।१४४-१४८।।

एकद्वित्रिभिरंशैर्दक्षिणतश्चोत्तरक्रमशः ।
तत्रोद्यानविशालं सालं कुर्यात्तु तत्र बहिरेव ॥१४९॥

तत्रैवोत्तरभागे यत्र युता सम्मता जलक्रीडा ।
तत्र च सलिलावासं स्यान्नृपतेर्दीर्घिका चैव ॥१५०॥

अपरे नृपतेश्च गृहं स्त्रीणां स्यादेव सङ्करा शाला ।

दक्षिण से उत्तर की ओर क्रमशः एक, दो या तीन भाग से विशाल उद्यान एवं उसके बाहर साल (प्राकार) होना चाहिये। उसके उत्तर भाग में जलक्रीड़ा का स्थान, जल का स्थान एवं राजा की दीर्घिका (जल-वापी) होनी चाहिये। राजभवन के पश्चिम भाग में स्त्रियों की सङ्करशाला (मिलने-जुलने का कक्ष) होना चाहिये।

प्रागुत्तरदिशि बाह्ये नवस्वेष्टदेवतादिगृहम् ॥१५१॥

तत्राग्रायणशाला पुष्पोद्यानानि कूपं स्यात् ।
प्राच्यां तु महाङ्गणकं त्रिंशद्भागैर्विधातव्यम् ॥१५२॥

समहेन्द्रद्वारं तत् त्रितलं वा गोपुरं चतुःस्थलकम् ।
अगजासरस्वतीश्रीसद्मान्येतानि द्वारदक्षिणतः ॥१५३॥

अभ्यन्तरमुखयुक्तान्येकद्वित्रयतुर्यभौमानि ।
तत्प्राचि शङ्खभेरिप्रभृतीनामालयं तु स्यात् ॥१५४॥

राजभवन के पूर्वोत्तर भाग में बाहर नव पदों में इष्टदेवों का गृह होना चाहिये। वहीं पर आग्रायण (पूजाकृत्य) की शाला, पुष्पवाटिका एवं कूप होना चाहिये। पूर्व दिशा

में तीस पदों से एक विस्तृत आँगन निर्मित होना चाहिये। महेन्द्र के पद पर तीन या चार तल से युक्त गोपुरद्वार निर्मित होना चाहिये। द्वार के दक्षिण ओर पार्वती, सरस्वती एवं लक्ष्मी का मन्दिर होना चाहिये। इनका मुख भीतर की ओर होना चाहिये एवं ये दो, तीन या चार तल से युक्त होने चाहिये। इसके पूर्व भाग में शंख, भेरी आदि वाद्यों का कक्ष होना चाहिये।।१५१-१५४।।

तद्दक्षिणतो दभ्रं महानसं सर्वरक्षयुतम्।
अङ्गणदक्षिणभागे द्वारं स्यादेव द्वित्रितलसहितम्॥१५५॥

द्वारस्योभयपार्श्वे लेखकयोस्तत् खलूरी स्यात्।
अङ्गणकोत्तरपार्श्वे कर्तव्या चैव दभ्रका च सभा॥१५६॥

दक्षिणमुखगतसहिता सर्वविचित्रा मनोहरा तुङ्गा।
तदपरभागे पूर्वांशे स्थानं तु गीतकादिसभा।
अन्यत्सर्वं नृपतेरिच्छावशतः प्रकर्तव्यम्॥१५७॥

उसके दक्षिण भाग में सभी प्रकार के रक्षकों से युक्त बड़ी रसोई होनी चाहिये। आँगन के दक्षिण भाग में दो या तीन तल से युक्त द्वार होना चाहिये। द्वार के दोनों पार्श्वों में लेखक (हिसाब लिखने वाले) की खलूरी होनी चाहिये। आँगन के उत्तर भाग में एक विशाल सभागृह होना चाहिये, जिसका मुख दक्षिण की ओर हो; साथ ही सुसज्जित, सुन्दर एवं ऊँचा हो, जिसके पश्चिम भाग में पूर्व की ओर गीत आदि की सभा होनी चाहिये। अन्य सभी राजा की इच्छा के अनुसार करना चाहिये।

वेश्मावधौ विहिततुङ्गविशालमूलं
सालं शिलाभिरथ चेष्टकया प्रयोज्यम्।
तद्बाह्यतः परिखयान्वितमिष्टकाद्यै-
र्युक्तं जयङ्गमिति वेश्म वरं हि नाम्ना॥१५८॥

राजभवन के बाहर प्रस्तर एवं ईंट से प्राकार निर्मित करना चाहिये, जिसके मूल की चौड़ाई एवं ऊँचाई पूर्ववर्णित नियम के अनुसार होनी चाहिये। उसके बाहर परिखा होनी चाहिये। उत्तम राजभवन ईंट आदि से निर्मित होना चाहिये; इसे 'जयङ्ग' कहते हैं।।१५८।।

आवाहनोद्वाहनतोयकर्दमैर्झषैर्ज-
लूकैरनेकाब्धिसर्पकैः ।
पद्मारिभूकण्टकमत्स्यकच्छपैः कुलीरशङ्खैः
परिखा समन्विता ॥१५९॥

परिखा को प्रवाहित होने वाले जल से भरना चाहिये। इसे कर्दम, मत्स्य, जोंक, जलसर्प, पद्म, काँटेदार मछलियाँ, कच्छप, केकड़ा एवं शंखों से युक्त करना चाहिये।

वासार्हकालम्बनकूटसंयुता जालैर्लताभिः
परिपूर्णपत्रिका ।
अभ्यन्तरप्राप्तनतोन्नतान्विता
छिद्रान्विता भित्तिरनेकयन्त्रका ॥१६०॥

एवं दुर्गे राजवेश्मानि कुर्याद्
बाह्येऽबाह्येऽभ्यन्तरे तत्क्रमेण ।
सर्वे रक्ष्या भूपतीनां जनानां
तस्मात्तस्या बाह्यतः षड्बलं तत् ॥१६१॥

भित्ति पर निवास करने योग्य कूट से युक्त आलम्बन निर्मित होने चाहिये। यह जाल, लता एवं पत्रों से परिपूर्ण होती है। इसका भीतरी भाग झुका एवं उठा होता है। भित्ति छिद्र से युक्त होती है एवं अनेक यन्त्रों से युक्त होती है। इस प्रकार राजभवन बाहर, भीतर एवं मध्य भाग में दुर्गयुक्त होना चाहिये। राजा के सभी जन (प्रजा) रक्षणीय होते हैं, इसलिये बाहर (दुर्ग के बाहर) छः प्रकार के बल (सैनिक) होने चाहिये।।१६०-१६१।।

नगरभेदाः

स्थानीयमाहुतं वै परमं यात्रामणिस्तथा विजयः ।
नगरं चतुर्विधं हि प्रोक्तं तज्ज्ञैर्नरेन्द्राणाम् ॥१६२॥

नगर के भेद—विद्वानों के मतानुसार राजाओं के नगर चार प्रकार के होते हैं—स्थानीय, आहुत, यात्रामणि एवं विजय।।१६२।।

तत्कुलमूलनृपेशैर्जनपदमध्येऽभ्रसंस्थितस्थानम् ।
सतृणजलोर्वीगर्भं नगरं स्थानीयमिति कथितम् ॥१६३॥

जनपद के मध्य में (वर्तमान राजा के) कुल के मूल राजाओं के द्वारा बसाया गया नगर स्थानीय संज्ञक होता है। यह तृण, जल एवं भूमि से युक्त होता है।

प्रभुमन्त्रोत्साहाख्यैर्युक्तं शक्तित्रयैर्वरावनिपैः ।
तृणभूजलगर्भयुतं नद्यावारादियुक्तं च ॥१६४॥

तन्यात्र जातु रिक्तं चागममित्युच्यते परैर्नगरम् ।
आवन्यापकयुक्तं सतृणं संग्रामयात्रके विहितम् ॥१६५॥

संग्रामं तदभीष्टं विजये युक्त्याणितद्गर्भम्।
गर्भत्रयैरुपेतं विजयमिति प्रोच्यते प्राज्ञैः ॥१६६॥

प्रभु (स्वामी), मन्त्र (सही मन्त्रणा) एवं उत्साहरूपी तीन शक्तियों से युक्त; तृण, भूमि एवं जल से युक्त; नदी से आवृत या अन्य रक्षणों से युक्त नगर को कभी रिक्त नहीं छोड़ना चाहिये। प्रतिपक्षी राजागण इस नगर (आहुत) को दुर्गम कहते हैं। भूमि, जल एवं तृण से युक्त तथा युद्ध की यात्रा के लिये निर्मित नगर को संग्राम (यात्रामणि) कहते हैं। जो नगर विजय के अवसर पर स्थापित किया जाता है, तीन आवश्यक वस्तुओं से युक्त होता है एवं जिसका प्रधान उद्देश्य सीमा की रक्षा है, विज्ञों ने उस नगर को विजय कहा है।।१६४-१६६।।

महति वेश्मनि वान्वितकार्मुके-
भवनमत्र विगृह्य ततः परम्।
परिवृतं सकलं हि यथापुरा
भवति शेषमशेषबलार्थदम् ॥१६७॥

बड़े राजभवन में धनुष (शस्त्र) से युक्त भवन यदि (शत्रुओं द्वारा) अधिगृहीत कर लिया जाता है तो शेष राजभवन शक्तिहीन हो जाता है।।१६७।।

हस्तिशाला

त्रिहस्ताद्यर्धहस्तेन वृद्ध्या पञ्चकरान्तका।
पञ्चैव भक्तयस्ताभिर्हस्तिशाला विधीयते ॥१६८॥

गजशाला—तीन हाथ से प्रारम्भ कर आधा-आधा हाथ बढ़ाते हुये पाँच हाथ तक गजशाला के पाँच माप प्राप्त होते हैं।।१६८।।

षण्णवेति चतुस्सप्तत्रिपञ्चैरिति कीर्तिताः।
भक्त्यस्त्रिविधा शाला विस्तारायामतः क्रमात् ॥१६९॥

अल्पत्वे तु महत्त्वे तु यथायोग्यं तथाचरेत्।
मुखशालैकभक्त्या तु मध्ये विस्तारनिर्गता ॥१७०॥

शयनस्थानकं भक्त्या दक्षिणे प्रविधीयते।

लम्बाई एवं चौड़ाई के अनुसार गजशाला तीन प्रकार की होती है। ये क्रमशः नौ एवं छः भाग, सात एवं चार भाग तथा तीन एवं पाँच भाग के होते हैं। छोटे राजभवन में छोटे माप की एवं बड़े राजभवन में बड़े माप की गजशाला निर्मित करनी चाहिये। मुखशाला एक भाग माप से होनी चाहिये तथा मध्य भाग के विस्तार से निर्गत

निर्मित होना चाहिये। इसके दक्षिण भाग में एक भाग माप से शयनस्थान निर्मित होना चाहिये।।१६९-१७०।।

राजादनो मधूकश्च खदिरः खादिरस्तथा ।।१७१।।
तिन्त्रिणी चार्जुनश्चैव स्तम्बकं पिशितः शमी ।
क्षीरिणी पद्मकाद्यास्ते शालास्तम्भा गजस्य च ।।१७२।।

गजशाला के स्तम्भ के लिये अनुकूल काष्ठ राजादन, मधूक, खदिर, खादिर, अर्जुन, तिन्त्रिणी, स्तम्बक, पिशित, शमी, क्षीरिणी एवं पद्मक होते हैं।

सप्ताष्टनवहस्तोच्चमवगाहं विहाय च ।
विस्तारस्तु विशालात्स्यादवगाहो यथाबलम् ।।१७३।।
शालास्तम्भा इमे प्रोक्ता विटपाभशिखान्विताः ।

(गज) शाला के स्तम्भों की ऊँचाई सात, आठ या नौ हाथ होनी चाहिये। इसमें स्तम्भ का भूमि में गड़ा भाग नहीं ग्रहण किया जाता है। इसकी चौड़ाई भूमि में गड़े भाग के अनुसार इस प्रकार होनी चाहिये, जिसमें स्तम्भ दृढ़तापूर्वक स्थापित हो सके। ये शालास्तम्भ वृक्ष की शाखाओं के समान शिखाओं से युक्त होने चाहिये।।१७३।।

सुवृत्तो हस्तिनः स्तम्भस्त्वेकहस्तविशालतः ।।१७४।।
त्रिपादोनार्धहस्तो वा विस्तारं त्रिविधं स्मृतम् ।
चन्द्रभागेऽष्टभागेन हीनाग्रतारकान्वितम् ।।१७५।।

गजशाला के स्तम्भ वृत्ताकार होने चाहिये। इनकी मोटाई एक हाथ, तीन चौथाई हाथ या आधा हाथ इस तरह तीन प्रकार की कही गई है। इसके ऊर्ध्व भाग की चौड़ाई (नीचे से) आठ भाग कम होनी चाहिये।।१७४-१७५।।

शालाव्यासे तु पञ्चांशं नीत्वा पृष्ठे त्रियंशकम् ।
आपादं षोडशांशे तु वामेऽष्टांशव्यपोहितम् ।।१७६।।
स्थापयेत्तु तदलानान् पूर्वोक्तांश्च समन्वितम् ।

चौड़ाई के सोलह भाग करने पर पाँच भाग शाला की चौड़ाई में एवं तीन भाग पृष्ठ भाग में ग्रहण करना चाहिये। वाम भाग में आठ भाग छोड़कर पूर्वोक्त नियम के अनुसार स्तम्भ को (भूमि के भीतर) गाड़ना चाहिये।।१७६।।

अनुपादार्धमानेन भित्त्युत्सेधो विधीयते ।।१७७।।
तदूर्ध्वे कटकच्छाद्यं घाटनोद्घाटनक्षमम् ।
वितस्तिगोस्तनं पश्चात् स्थापयेद् बहिराननम् ।।१७८।।

कारयेद्धस्तिमानेन फलकप्रस्तरं तलम् ।
शिलाभिर्वेष्टकाभिर्वा प्रस्तरं नैव कारयेत् ॥१७९॥

मूत्रद्वारयुतं लब्धद्वारयुक्त्या क्रमान्वितम् ।
अन्यत्सर्वं यथायुक्ति तथा कुर्याद् विचक्षणः ॥१८०॥

भित्ति की ऊँचाई स्तम्भ की आधी ऊँचाई तक होनी चाहिये। उसके ऊपर कटक (तृण-सींक आदि से) आच्छादित करना चाहिये, जिसे खोला एवं बन्द किया जा सके। वितस्तिगोस्तन (विशेष प्रकार की खिड़की या झरोखा) एवं बाहर की ओर मुख होना चाहिये। इसका तल (भूमि, फर्श) गज के प्रमाण से फलक-प्रस्तर (काष्ठ-फलक) से निर्मित करना चाहिये। इसका प्रस्तर शिलाओं एवं ईंटों से निर्मित नहीं करना चाहिये। इसमें (गजशाला) मूत्र निकलने का द्वार (बाहर निकलने के) द्वार की स्थिति के अनुसार निर्मित करना चाहिये। अन्य सभी व्यवस्थायें बुद्धिमान स्थपति को आवश्यकतानुसार करनी चाहिये।।१७७-१८०।।

अश्वशाला

नवाष्टसप्तषट्पञ्चहस्ते पञ्चविसारिणि ।
त्रयभक्त्याद्यैकविंशद्भक्त्यन्तायाममीरितम् ॥१८१॥

अश्वशाल, घुड़शाल—अश्वशाला के पाँच प्रकार के प्रमाण—नौ, आठ, सात, छः या पाँच हाथ होना चाहिये तथा इसकी लम्बाई तीन भक्ति (इकाई) से लेकर इक्कीस भक्ति तक होनी चाहिये।।१८१।।

चतुर्मुखचतुश्शालाः सप्रग्रीवाश्च शालकाः ।
दशद्वादशहस्तैर्वा स्तम्भव्यासं प्रकीर्तितम् ॥१८२॥

त्रिचतुःपञ्चषड्ढस्तैः कुड्योत्सेधं विधीयते ।
अभिन्नानां तु भिन्नानां भित्तिबन्धं यथेष्टतः ॥१८३॥

नेत्रभित्तौ च पृष्ठे च जालकं स्याद् गृहे गृहे ।
गृहान्ते कर्णधारा स्यात्तददर्भा वयोचिताः ॥१८४॥

अश्वशाला चार द्वार, चार कक्ष एवं प्रत्येक कक्ष में प्रग्रीव से युक्त होनी चाहिये। स्तम्भ का व्यास दस या बारह हाथ कहा गया है। भित्ति की ऊँचाई तीन, चार, पाँच या छः हाथ होनी चाहिये। भिन्न एवं अभिन्न (दोनों प्रकार की शालाओं) की भित्ति का जोड़ समुचित रीति से होना चाहिये। प्रत्येक गृह में नेत्रभित्ति एवं पृष्ठ भाग में जालक (झरोखा) होना चाहिये। गृह के अन्तिम भाग में दृढ़ कर्णधारा (रचनाविशेष) होनी चाहिये।।१८२-१८४।।

अयुग्मवंशविस्तीर्णैः फलकैः प्रस्तरं तलम् ।
मूत्रच्छिद्रसमायुक्तं सारदारुमयैर्दृढम् ॥१८५॥

प्रत्येकं तुरगस्थानमेकभक्तिस्ववेशनम् ।
सारदारुमयं कीलं द्विसप्ताङ्गुलदैर्घ्यकम् ॥१८६॥

द्वित्र्यङ्गुलं तु विस्तारं सूचिकाग्रसमन्वितम् ।
पश्चाद् बन्धोऽग्रबन्धे तु योजयेद् दृढखातवत् ॥१८७॥

विषय संख्या वाले बिछाये गये वंश के ऊपर प्रस्तरफलकों (काष्ठ-खण्ड) से भूमि निर्मित होनी चाहिये। इसमें मूत्र निकलने के लिये छिद्र होना चाहिये एवं इसे ठोस काष्ठ से दृढ़ बनाना चाहिये। प्रत्येक अश्वस्थान में प्रवेश के लिये एक भक्ति-प्रमाण का प्रवेश मार्ग होना चाहिये। (अश्वशाला की) कील ठोस काष्ठ से निर्मित चौदह अंगुल लम्बी होनी चाहिये। इसकी चौड़ाई दो या तीन अंगुल एवं अग्र भाग में सूई के समान नोंक होनी चाहिये। पश्चाद्बन्ध को अग्रबन्ध में दृढ़तापूर्वक इस प्रकार जोड़ना चाहिये, जैसे गर्त में दृढ़तापूर्वक बैठाया जाता है।।१८५-१८७।।

✵ नानालयाः ✵

मयूरवानरादीनामालयं शुकपञ्जरम् ।
चित्रगोयुग्मगोवत्सपानधान्यधनालयम् ॥१८८॥

वस्त्ररत्नायुधद्यूतकर्मान्तावरणालयम् ।
दानभोजनशाला च यागशाला सदक्षिणा ॥१८९॥

विविध भवन—मोर एवं बन्दर आदि के गृह, तोते का पिञ्जरा, एक जोड़ी बैल, गाय एवं बछड़ों, जल, धान्य एवं धन के कक्ष; वस्त्र, रत्न, अस्त्र-शस्त्र, द्यूतक्रीड़ा एवं कार्य करने के लिये आवरण-कक्ष; दानशाला, भोजनगृह एवं दक्षिणायुक्त यज्ञ-शाला होनी चाहिये।।१८८-१८९।।

दक्षिणं पञ्जरावासं यथास्थानं प्रयोजयेत् ।
उद्याने चापि वाःस्थाने स्थानमण्डपमिष्यते ।
कूटागारं तु वा वृत्तशाला या वृषभस्य तु ॥१९०॥

दक्षिण दिशा में उचित स्थान पर पिञ्जरे का स्थान होना चाहिये। बगीचे और जलाशय के पास स्थान-मण्डप (बैठने के लिये मण्डप) होना चाहिये। बैलों के लिये कूटागार या गोल कक्ष होना चाहिये।।१९०।।

✵ मन्त्रशालादिविधिः ✵

उत्तुङ्गकुड्या नृपमन्त्रशाला पूर्वापरायामयुता मनोज्ञा ।
सभा च पादावृतकुड्यहीनातिदूरतः प्रेक्षणकर्मयोग्या ॥१९१॥

मन्त्रणा कक्ष आदि की विधि—राजा का मन्त्रणा-कक्ष पूर्व-पश्चिम लम्बा, सुन्दर एवं ऊँची भित्तियों से युक्त होना चाहिये। सभा स्तम्भों से आवृत्त तथा भित्तिहीन होनी चाहिये, जिससे दूर तक देखा जा सके।।१९१।।

कूटागारं तु वा तस्मिंस्ततः पश्चिमतो दिशि।
राज्ञां सिंहासनं युक्त्या प्राङ्मुखं कल्पिते यथा ।।१९२।।
तत्पूर्वदक्षिणे भागे मन्त्रिणां चासनं भवेत्।
दूतस्य प्रागुदग्भागे प्रशास्तासनमुत्तरे ।।१९३।।
सेनापतेस्तद्दक्षिण्ये सर्वं नालिसमान्तरम्।
पञ्चबन्धैकाङ्गुलीका मनोज्ञा मन्त्रनालिका ।।१९४।।
मात्रेणैकेन सुषिरा मुकुलाग्रद्वयान्विता।

अथवा वहाँ पश्चिम दिशा में कूटागार होना चाहिये, जो राज-सिंहासन युक्त हो एवं इस प्रकार निर्मित हो, जिससे कि उसका मुख पूर्व की ओर हो। उसके पूर्व-दक्षिण भाग में मन्त्री का आसन होना चाहिये। दूत का पूर्वोत्तर भाग में एवं प्रशास्ता का उत्तर भाग में आसन होना चाहिये। उसके दक्षिण भाग में सेनापति का आसन होना चाहिये। सभी आसनों के मध्य बराबर नालिका का अन्तर होना चाहिये। मन्त्रनालिका सुन्दर एवं एक-एक अंगुल की दूरी पर पाँच गाँठ से युक्त होनी चाहिये। यह छिद्रयुक्त एवं अग्र भाग में (दोनों ओर) कली से युक्त होनी चाहिये।।१९२-१९४।।

प्रसाधनगृहम्

व्यासायामे तु पञ्चांशषडंशैकांशद्व्यंशकैः ।।१९५।।
मध्येऽङ्गणं तदावृत्तं स्तनमात्रोच्चभित्तिकम्।
वृत्तोपलं तु तन्मध्ये प्रागुदग्जलपात्रकम् ।।१९६।।
केशक्षालनपर्यङ्कं तद्दक्षिणगतं भवेत्।

भवन की चौड़ाई के पाँच भाग एवं लम्बाई के छः भाग करने चाहिये। मध्य भाग में एक भाग (चौड़ा) एवं दो भाग लम्बा आँगन होना चाहिये। यह वक्ष के बराबर ऊँची भित्ति से ढँका होना चाहिये। उसके मध्य में वृत्ताकार प्रस्तर होना चाहिये तथा पूर्वोत्तर भाग में जलपूर्ण पात्र होना चाहिये। उसके दक्षिण भाग में केश धोने के लिये पर्यंक (आसन) होना चाहिये।।१९५-१९६।।

प्रागुदग्द्वारसंयुक्ता तथा मण्डपमालिका ।।१९७।।
प्रासाधिकासनं मित्रे सुदृशां स्थानमण्डपम्।
पञ्चादिपञ्चकान्तं वा व्यासं तत्रोजसंख्यया ।।१९८।।

सभामण्डपशालानां सामान्यमिष्टदैर्घ्यकम् ।
पञ्चादशकरव्यासं त्रिसप्तारत्निदैर्घ्यकम् ॥१९९॥
सैकद्वादशहस्तान्तं चूल्यन्तादिमनोहरम् ।

मण्डप-मालिका पूर्वोत्तर द्वार से युक्त होती है। प्रसाधन करने वाली स्त्री का आसन मित्र के पद पर तथा वहीं पर महिलाओं का स्थानमण्डप होना चाहिये। इसका विस्तार पाँच हाथ से प्रारम्भ होकर पच्चीस हाथ तक विषम संख्या वाले माप में होना चाहिये। सभा, मण्डप एवं शालाओं की लम्बाई के सामान्य नियम होते हैं। चौड़ाई पन्द्रह हाथ होने पर लम्बाई इक्कीस हाथ एवं ऊँचाई चूली-पर्यन्त होनी चाहिये; किन्तु वह तेरह हाथ से अधिक नहीं होनी चाहिये।।१९७-१९९।।

अभिषेकशाला

शालाभिषेकयोग्या सा कर्तव्या प्रागिवानना ॥२००॥
तदङ्गमध्यमे रङ्गसंयुक्ता च सभा भवेत् ।
मण्डपं दक्षिणे राज्ञां तदुदीच्यां दिशि क्रमात् ॥२०१॥
पट्टाभिषेकसंवासं धामं तत्र प्रयोजयेत् ।

अभिषेक के अनुकूल शाला पूर्वाभिमुख निर्मित करनी चाहिये। इसके मध्य भाग में रंगमञ्च से युक्त सभा होनी चाहिये। राजा का मण्डप दक्षिण भाग में होना चाहिये एवं जिस कक्ष में पट्टाभिषेक हो, उसे उत्तर दिशा में होना चाहिये।।२००-२०१।।

पञ्चसप्तनवारत्निव्यासतारद्विवैदिकम् ॥२०२॥
त्रिचतुष्पञ्चभागं वा वेदिकोदयमीरितम् ।
वेदिकोदयपादोच्चं स्वव्याससममिष्यते ॥२०३॥
अन्तःस्तम्भसमायुक्तं त्यक्तमध्यस्थपादकम् ।
द्विषड्भिरष्टमात्रं तु त्रिःषडङ्घ्रिविशालकम् ॥२०४॥
एकभक्त्यावृतं तत्र जालं तद्वद्बहिष्प्रभम् ।

(मध्य भाग में) पाँच, सात या नौ हाथ चौड़ी एवं लम्बाई में चौड़ाई की दुगुनी वेदिका होनी चाहिये। इसकी ऊँचाई चौड़ाई के तीन, चार या पाँच भाग के बराबर होनी चाहिये। स्तम्भों की ऊँचाई वेदिका के बराबर एवं चौड़ाई वेदिका के अनुसार होनी चाहिये। भीतरी भाग स्तम्भों से युक्त होना चाहिये; किन्तु मध्य भाग में स्तम्भ नहीं होना चाहिये। स्तम्भों की चौड़ाई बारह, सोलह या अट्ठारह अंगुल होनी चाहिये। एक भक्ति (माप की इकाई) पर्यन्त जाल से यह आवृत होना चाहिये; जिससे कि वहाँ प्रकाश का प्रवेश हो सके।।२०२-२०४।।

❋ तुलाभारस्थानम् ❋

तुलाभारार्हकं कूटं मण्डपं वा प्रभा भवेत् ॥२०५॥
त्रिहस्तं तोरणस्तम्भदैर्घ्यं व्यासं दशाङ्गुलम् ।
नवाष्टसप्तमात्रं वा पृष्ठभागशिखान्वितम् ॥२०६॥
वस्तुमध्ये निधातव्यं दक्षिणोत्तरगं यथा ।
तोरणान्तरमुत्सेधं सममेव विधीयते ॥२०७॥

तुलाभार का स्थान—तुलाभार कृत्य के अनुरूप कूट या मण्डप होता है। तोरण के स्तम्भ की लम्बाई तीन हाथ एवं व्यास दस अंगुल होना चाहिये। इसके पृष्ठ भाग में (ऊर्ध्व भाग में) नौ, आठ या सात अंगुल की शिखा होनी चाहिये। इसे वास्तु के मध्य में इस प्रकार स्थापित करना चाहिये, जिससे यह दक्षिण-उत्तर की ओर रहे। तोरण के मध्य भाग की ऊँचाई समान होनी चाहिये।।२०५-२०७।।

निर्विष्टविष्टकं मध्यवक्रतुण्डसमन्वितम् ।
पूर्वापरायतं भर्तृतुलान्तादचलं चरेत् ॥२०८॥
तुलान्तरकराराणां महाराजस्य योग्यताम् ।
कीलितं वितलं मध्ये कुण्डलं सारदारुजम् ॥२०९॥
योजयेद् वक्रतुण्डेन यथाबलसमन्वितम् ।
त्यक्त्वा तु पुंमुखात् षण्डादेवं तु फलकासनम् ॥२१०॥
तत्समाङ्गमितालम्बिशृङ्खलाबलसंयुतम् ।
बकतुण्डद्वयं द्विद्विभूतं यत्नेन योजयेत् ॥२११॥

एक-दूसरे में प्रविष्ट लट्ठे (क्रास बीम) मध्य भाग में वक्रतुण्ड (मुड़े हुये मुख या सूँड की आकृति) से युक्त होते हैं। पूर्व से पश्चिम में लगाई गई प्रधान तुला के दोनों सिरे अचल (न हिलने-डुलने वाले) निर्मित करना चाहिये। तुला के मध्य में लगी अरें (तीलियाँ, शृंखलायें) महाराज के (पदादि) अनुसार होनी चाहिये। मध्य भाग में दृढ़ काष्ठ से निर्मित कुण्डल जड़ देना चाहिये। इस कुण्डल को वक्रतुण्ड से दृढ़तापूर्वक जोड़ना चाहिये। फलकासन (काष्ठ का आसन) का निर्माण पुं-काष्ठ या नपुंसक-काष्ठ को छोड़कर करना चाहिये। इसे समान रूप से लम्बी एवं दृढ़ शृंखलाओं द्वारा सावधानी से जोड़ना चाहिये। इसे दो-दो वक्रतुण्डों से दो-दो बार प्रयत्नपूर्वक जोड़ना चाहिये।।२०८-२११।।

वस्तुनश्च चतुर्दिक्षु प्राङ्मुखस्य च तोरणम् ।
स्तम्भं विष्टं तुलामात्रं कुर्यात् साराङ्घ्रिपैः शुभैः ॥२१२॥

वस्तुमध्यगतं बाह्ये परितस्तत् प्रपा भवेत्।
तत्समं परितश्चापि तद्बाह्ये योजयेद् बुधः ॥२१३॥

औदुम्बरवटाश्वत्थन्यग्रोधास्तोरणं भवेत्।
पीतं रक्तं तथा श्वेतं नीलं कुर्याद् ध्वजं क्रमात् ॥२१४॥

वास्तु की चारो दिशाओं में तथा पूर्वमुख तोरण होना चाहिये। स्तम्भ, विष्ट (क्रास बीम) एवं तुला प्रशस्त एवं दृढ़ काष्ठों से निर्मित करना चाहिये। चारो ओर बाहर प्रपा (मण्डप) का निर्माण होना चाहिये, जो वास्तु के मध्य तक पहुँचता हो। उसी के बराबर उसके बाहर चारो ओर (दूसरी प्रपा) निर्मित करनी चाहिये। तोरण काष्ठ (क्रमशः) उदुम्बर (गूलर), वट (बड़), अश्वत्थ (पीपल) तथा न्यग्रोध (बरगद) के काष्ठ से निर्मित होना चाहिये। इसी क्रम से पीला, लाल, श्वेत एवं नीला ध्वज लगाना चाहिये।।२१२-२१४।।

तुला समं तत् समुपेत्य भूपतिः
सुखं समास्तामरेन्द्रदिङ्मुखम्।
समीक्ष्य राशिं निजहेमसञ्चयं
विराजमानो धनदो यथा भुवि ॥२१५॥

जब राजा तुला के बराबर (तुला के दोनों पलड़े बराबर) हो जाय एवं राजा का मुख इन्द्र की दिशा (पूर्व) की ओर हो जाय, तो राजा को सभी सुख प्राप्त होते हैं। अपने सञ्चित सुवर्ण राशि को देखकर राजा पृथ्वी पर कुबेर के समान हो जाता है।

हिरण्यगर्भस्थानम्

हेमगर्भयुतं सप्तनवरत्न्यापि भित्तिकम्।
व्यासेन चतुरस्रा सा व्यासतुल्योच्छ्रिता तलात् ॥२१६॥

दशद्वादशमात्रैर्वा स्तम्भव्यासं प्रकीर्तितम्।
वृत्तो वा चतुरस्रो वा चावगाहेद् यथाबलम् ॥२१७॥

त्रिहस्तावृतभित्तिः स्याद् दण्डोत्सेधं स्ववेदिका।
स्तम्भाग्रस्थोऽन्तराविष्टद्वयष्टद्वयविभूषिता ॥२१८॥

हिरण्यगर्भ का स्थान—सुवर्ण-गर्भ से युक्त भवन के भित्ति की लम्बाई सात या नौ हाथ, व्यास चौकोर एवं व्यास के बराबर भूतल से उसकी ऊँचाई होती है। स्तम्भ का व्यास दस या बारह अंगुल का कहा गया है। यह वृत्ताकार या चौकोर होता है एवं इसे भूमि के भीतर यथाशक्ति दृढ़तापूर्वक गाड़ना चाहिये। आवृतभित्ति (भवन के पास की भित्ति) की ऊँचाई तीन हाथ एवं इसकी वेदिका एक दण्ड ऊँची होनी

चाहिये। (भवन का) भीतरी भाग सोलह विष्टों (क्रास बीम) की दो पंक्तियों से सुसज्जित होना चाहिये, जो स्तम्भों के अग्र भाग पर टिके हों।।२१६-२१८।।

लुपारूढाग्रविस्तारं समोत्सेधाः प्रशंसिताः ।
सप्तहस्तद्विहस्तादिव्यासोत्सेधेन वेदिका ॥२१९॥

पञ्चहस्तद्विहस्तेन व्यासोत्सेधेन वा भवेत् ।
सभामध्ये निधातव्या तन्मध्ये चावटक्रिया ॥२२०॥

उनकी ऊँचाई समान होनी चाहिये; ऊपर से ढँकी होनी चाहिये एवं लुपा के द्वारा इन्हें सहारा प्राप्त होना चाहिये। सभा के मध्य भाग में वेदिका निर्मित होनी चाहिये, जो सात हाथ चौड़ी एवं दो हाथ ऊँची या पाँच हाथ चौड़ी एवं दो हाथ ऊँची हो। उसके मध्य में गर्त होना चाहिये।।२१९-२२०।।

बहिर्जालककुड्यं स्यात्तद्वाह्ये च प्रभा भवेत् ।
सभा नीव्रसमुत्सेधा विशाला दण्डमानतः ॥२२१॥

त्रयोविंशतिहस्तेन तद्बहिः परिखा भवेत् ।
चतुर्दिक्षु चतुर्द्वारं तोरणं क्षीरपादपैः ॥२२२॥

सोपानं योग्यदेशे तु चतुर्दिशि विधीयते ।
द्वारतुल्योन्नतव्यासं निर्गमद्वारतोरणम् ॥२२३॥

बाहर जाल से युक्त भित्ति होनी चाहिये, जिसके बाहर प्रकाश हो। सभा की ऊँचाई नीव्र (छत का किनारा) के बराबर एवं चौड़ाई एक दण्ड प्रमाण की होनी चाहिये। उसके बाहर तेईस हाथ की परिखा होनी चाहिये। चारो दिशाओं में चार द्वार एवं दूध वाले वृक्षों के काष्ठ से निर्मित तोरण होना चाहिये। प्रत्येक तोरण का व्यास एवं ऊँचाई द्वार के बराबर होनी चाहिये।।२२१-२२३।।

स्तम्भाग्रतोरणाविष्टकंसादिष्वष्टमङ्गलम् ।
चक्रवर्तिशिखोपेतं द्वारे द्वारे प्रयोजयेत् ॥२२४॥

छत्रकेतुपताकाश्च भेरीश्रीकुम्भदीपिकाः ।
नन्द्यावर्तेन चाष्टौ तु सर्वेषामष्टमङ्गलम् ॥२२५॥

आठ मांगलिक पदार्थ काँसे के पात्र पर या अन्य धातु पर (अंकित कर) स्तम्भों के ऊपर तोरण पर लगाना चाहिये। चक्रवर्ती की शिखा (पहचान, चिह्न) को प्रत्येक द्वार पर लगाना चाहिये। सभी के लिये आठ मंगल—छत्र, ध्वज, पताका, भेरी, श्री, कुम्भ, दीपक एवं नन्द्यावर्त (स्वस्तिक) हैं।।२२४-२२५।।

द्वारद्वयोच्छ्रितं शालारक्ष्यवासं यथाबलम्।
तद्वहिर्जनचारेण बाह्या रक्षा प्रकीर्तिता ॥२२६॥

राजेच्छया कुमार्यास्तद्देव्याः कुल्याविमानकम्।
मालिकान्ते च भूमौ वा योजनीयं मनोभवम् ॥२२७॥

राजभवन के रक्षक का आवास द्वार की ऊँचाई का दुगुना होना चाहिये। राजभवन के बाहर की रक्षा बाहर चलने वाले लोगों (रक्षकों) के द्वारा की जानी चाहिये। राजा की इच्छानुसार रानी एवं राजकुमारी का आवास मालिका-भवन के अन्त में भूमि के नीचे या जहाँ मन को अच्छा लगे, वहाँ बनवाना चाहिये।।२२६-२२७।।

यत्रोचितं नृपतिचित्तवशाद् विमानं
सारालिभोगभवनं च निवारणं च।
कुड्यं गजाश्वनिलयं युवतीनिवासं
कर्तव्यमाद्यनिखिलं नगरं च युक्त्या ॥२२८॥

इति मयमते वस्तुशास्त्रे राजवेश्मविधानं
नामैकोनत्रिंशोऽध्यायः

राजा की इच्छानुसार राजभवन, कोष एवं अन्य भाग, रक्षा, प्राकार, गजशाला, अश्वशाला, रानियों का आवास आदि निर्मित करना चाहिये। नगर की संरचना परिस्थिति के अनुसार करनी चाहिये।।२२८।।

व्याख्यात्मक टिप्पणी

राजाओं के भेद (श्लोक १-३)

राजाओं के चक्रवर्ती, अधिराज, नरेन्द्रादि भेद मानसार (अ. ४०-४२) में प्राप्त होते हैं। राजवल्लभमण्डन (अ. ५.२-५) में राजाओं के भेद चक्रवर्ती, नृनाथ, महामण्डलिक, नृपमण्डलिक, सामन्त मुख्य, सामन्त, चतुराशिक, स्वल्पराष्ट्र एवं सैनिक प्राप्त होता है।

राजभवन के प्रकार (श्लोक ४-८)

राजगृह का पाँच प्रकार का माप बृहत्संहिता में इस प्रकार वर्णित है—

उत्तममष्टाभ्यधिकं हस्तशतं नृपगृहं पृथुत्वेन।
अष्टाष्टोनान्येवं पञ्च सपादानि दैर्घ्येण।। (५३.४)

राजभवन के प्रमाण का वर्णन अपराजितपृच्छा (अ. ८१), राजवल्लभमण्डन (अ. ५), मत्स्यपुराण (अ. २५४) में भी प्राप्त होता है।

राजभवन में गृहविन्यास (श्लोक २४-२६)

राजभवन में गृहविन्यास का विशद वर्णन विश्वकर्मवास्तुशास्त्र (अ. १९) समराङ्गण-सूत्रधार (अ. १५), मानसार (अ. ४०), राजवल्लभमण्डन (अ. ५) आदि ग्रन्थों में प्राप्त होता है।

परिखा (श्लोक २७)

राजभवन से संलग्न परिखा का वर्णन विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में इस प्रकार प्राप्त होता है—

भूपहर्म्यं प्रकर्तव्यं तल्लक्षणमनोहरम्।
गभीरपरिखोपेतं द्वारोपद्वारशोभितम्।। (१२.२)

परिखा के विषय में विशद वर्णन अर्थशास्त्र (२.३.४) में प्राप्त होता है।

गोपुर (श्लोक ७२-७८)

राजवल्लभमण्डन (अ. ५) में राजभवन से सम्बद्ध गोपुरों का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

माहेन्द्राख्ये गोपुरं द्वित्रिभौमं भानोः संख्या तस्य मध्ये विधेयम्।
उक्तानुक्तं मन्दिरादौ निवेशे त्वष्ट्रा कार्यं चाज्ञया भूपतीनाम्।। (५.४७)

नगरों के भेद (श्लोक १६२-१६६)

वास्तुग्रन्थों में नगरों के विविध भेद प्राप्त होते हैं—

१. विश्वकर्मवास्तुशास्त्र (अ.९) में बीस प्रकार के नगरों का वर्णन प्राप्त होता है—

पद्मकस्सर्वतोभद्रो भद्रो विश्वेशपूर्वकः।
कार्मुकः प्रस्तरश्चैव स्वस्तिकश्च चतुर्मुखः।।

श्रीप्रतिष्ठा च नगरी बलिदेवः पुरन्तथा।
देवमानुषभेदेन द्विविधं नगरं मतम्।।

वैजयन्तञ्च नगरमन्यच्च पुटभेदनम्।
गिरिवारिगुहाभेदान्नगरं तत्त्रिधा मतम्।।

मुखाष्टकञ्च नगरं नन्द्यावर्तमथोत्तरम्।
प्रसिद्धा राजधानी च कीर्तिता नगरोत्तमा।। (९.१-४)

ये नगर पद्मक, सर्वतोभद्र, विश्वेशभद्र, कार्मुक, प्रस्तर, स्वस्तिक, चतुर्मुख,

श्रीप्रतिष्ठा, बलिदेव, पुर, देवनगर, मानुषनगर, वैजयन्त, पुटभेदन, गिरिनगर, जलनगर, गुहानगर, अष्टमुख, नन्द्यावर्त एवं राजधानी संज्ञक हैं।

२. राजवल्लभमण्डन (४.४-६) तथा अपराजितपृच्छा (७३.१-४) में भी बीस प्रकार के नगरों का वर्णन किया गया है; किन्तु उनके नाम माहेन्द्र, सर्वतोभद्र, सिंहविलोकन, वारुण, नन्दाक्ष या नन्दाख्य, नन्द्यावर्त, जय, दिव्य, पुष्प, पौरुष, स्नाह, दण्ड, शक्र, कमल, धार्मिक, महाजय, सौम्य, श्रियाख्य, रिपुघ्न एवं स्वस्तिक हैं।

इनके अतिरिक्त पुरों पर विचार अग्नि (१०६) एवं मत्स्यपुराण (२१७), अर्थशास्त्र (२), शुक्रनीति (१) आदि ग्रन्थों में प्राप्त होता है।

गजशाला के भेद (श्लोक १६९-१७१)

समराङ्गणसूत्रधार (अ. ३२) में गजशाला के भेद सुभद्रा, नन्दिनी, सुभोगदा, भद्रिका, वर्षिणी, प्रमारिका कहे गये हैं। राजवल्लभमण्डन (९.२९) में इसके माप आदि पर विचार प्राप्त होता है।

अश्वशाला-निर्माण (श्लोक १८१-१८७)

अश्वशाला के निर्माण के विषय में समराङ्गणसूत्रधार (अ. ३३) में तथा अश्वशाला एवं गजशाला के निर्माण के विषय में विश्वकर्मवास्तुशास्त्र (अ. ३८-३९) में विस्तार से वर्णन किया गया है। राजवल्लभमण्डन (९.२४-२५) में माप की दृष्टि से उत्तम, मध्यम एवं कनिष्ठ अश्वशाला का वर्णन प्राप्त होता है—

तुरङ्गमाणां गृहवामभागे शाला चतुष्षष्टिकरा विधेया।
शतार्द्धतो माध्यमिका च दैर्घ्ये कनीयसी तैर्दशभिर्विहीना।।

व्यासे च ज्येष्ठा तिथिहस्तमाना त्रयोदशैकादशकौ क्रमेण।
तद् बाह्यभित्तिश्च करप्रमाणा पञ्चार्द्धपञ्चाब्धिकरोदया स्यात्।।

मृगशाला-निर्माण (श्लोक १८८)

विश्वकर्मवास्तुशास्त्र (अ. ३७) में मयूरादि प्राणियों हेतु मृगशाला के निर्माण पर विधिवत् प्रकाश डाला गया है।

अथ त्रिंशोऽध्यायः

(द्वारविधानम्)

द्विजनृपवणिजां वा सद्मनां शूद्रकाणा
मभिमुखविनिवेशद्वारतारं च तुङ्गम् ।
पृथगथ निजभेदं मण्डनं चापि नाम्ना
सुखमनुगतबुद्धिर्वस्तुवाक्यं मुनीनाम् ॥१॥

द्वार का विधान—मुनियों के वास्तु-परक वाक्य को सुखपूर्वक बुद्धि में धारण कर (मैं मय) ब्राह्मण, राजा (क्षत्रिय), व्यापारी (वैश्य) एवं शूद्रजनों के भवनों के मुख-द्वार की स्थिति, चौड़ाई एवं ऊँचाई तथा पृथक्-पृथक् उनके भेद एवं सज्जा के साथ नामों का उल्लेख करूँगा।।१।।

❋ द्वारमानानि ❋

त्रिवितस्तिविशालं स्याद् दैर्घ्यं सप्तवितस्तिकम् ।
विस्तारायामतस्तस्मात् षड्द्वादशकराग्रजैः ॥२॥

वृद्ध्या त्रिपञ्चसैकेषुषड्वितस्त्यन्तकानि हि ।
पञ्चविंशतिमानानि द्वारतारोदयानि हि ॥३॥

द्वार के प्रमाण—द्वार की चौड़ाई (कम से कम) तीन बित्ता एवं लम्बाई (ऊँचाई) सात बित्ता होनी चाहिये। (पूर्वोक्त) चौड़ाई एवं लम्बाई में क्रमशः छः एवं बारह अंगुल बढ़ाते हुये पन्द्रह बित्ता चौड़ाई एवं इक्कीस बित्ता (ऊँचाई) ले जानी चाहिये। इस प्रकार द्वार के विस्तार एवं ऊँचाई के पच्चीस प्रकार के प्रमाण बनते हैं।।२-३।।

तदाद्यं शयनीयस्य गृहस्य द्वादशैव हि ।
समावृतखलूरीणां तानि चोक्तानि पण्डितैः ॥४॥

नगरग्रामदुर्गाणां द्वादशोक्तानि वेश्मनाम् ।
विस्तारद्विगुणोत्सेधं षण्मात्रं साधिकं भवेत् ॥५॥

नवमात्राधिकं वाथ सर्वेषां समुदीरितम् ।

इनमें प्रथम मान शयन-गृह के लिये उपयुक्त है। (आगे के) बारह प्रमाण गृह

के होते हैं। विद्वानों के मतानुसार गृह के बाहर चारो ओर खलूरी के द्वारमान भी यही हैं। (तत्पश्चात्) बारह प्रमाण नगर, ग्राम, दुर्ग एवं राजभवन के होते हैं। द्वार की ऊँचाई चौड़ाई की दुगुनी एवं छः अंगुल या नौ अंगुल अधिक होनी चाहिये। यह माप सभी के लिये कहा गया है।।४-५।।

सषण्मात्रद्वितालं च सत्रिमात्रद्वितालकम् ।।६।।
द्वितालं क्षुद्रमानं च त्रिविधं परिपठ्यते ।
स्वव्यासद्विगुणोत्सेधं षण्मात्रं वा द्विमात्रकम् ।।७।।
अधिकं शुभदं चारं विप्रादीनां गृहे मतम् ।

छोटे द्वारों की चौड़ाई के तीन मान प्राप्त होते हैं—दो बित्ता छः अंगुल, दो बित्ता तीन अंगुल तथा दो बित्ता। उनकी ऊँचाई चौड़ाई की दुगुनी होनी चाहिये। इस प्रमाण में छः अंगुल या दो अंगुल अधिक लेना चाहिये। इस द्वारों से ब्राह्मण आदि (अन्य वर्णो) का प्रवेश प्रशस्त होता है।।६-७।।

स्तम्भायामाष्टभागे तु षडर्धं द्वारदैर्घ्यकम् ।
तदर्धे नन्दभागे तु सार्धाष्टांशा तु तत्ततिः ।।८।।
नीचमध्याद्यपि द्वारं भूमौ भूमौ विधीयते ।
व्यासद्विगुणतुङ्गं तु नेष्टद्वारं नृणां गृहे ।।९।।

द्वार की ऊँचाई स्तम्भ की ऊँचाई के आठ भाग में साढ़े छः भाग के बराबर एवं विस्तार स्तम्भ की ऊँचाई के नौ भाग में साढ़े आठ भाग के बराबर होनी चाहिये। छोटे एवं मध्यम द्वार प्रत्येक भूमि पर होते हैं। जिस द्वार की ऊँचाई चौड़ाई की दुगुनी होती है, वह मनुष्यों के आवास के लिये शुभ नहीं होता है।।८-९।।

स्तम्भायामाष्टभागोनं तुङ्गद्वारं सुरालये ।
नन्दपंक्त्यंशहीनं वा विस्तारं स्यात्तदर्धतः ।।१०।।
पादपादवशाद् भूमौ भूमावत्र विधीयते ।

देवालयों में द्वार की ऊँचाई स्तम्भ के आठ भाग में सात, नौ में आठ तथा दस में नौ भाग के बराबर एवं चौड़ाई ऊँचाई की आधी होनी चाहिये। प्रत्येक तल में उस तल के स्तंम्भ के अनुसार द्वार का मान रखना चाहिये।।१०।।

योगमानम्

सपादपादविस्तारः सार्धो वा योगविस्तरः ।।११।।
स्तम्भव्याससमो वाऽपि तदर्धबहुलं मतम् ।
त्रिपादं चोत्तराधस्ताद् प्रतीकान्तस्य वाजनम् ।।१२।।

द्वार का योगमान—द्वार के योग के विस्तार का मान स्तम्भ के बराबर, उससे एक चौथाई भाग या उससे आधा भाग अधिक होना चाहिये। उसकी मोटाई चौड़ाई की आधी होनी चाहिये। चौखट का जो भाग उत्तर (लिन्टल) के नीचे एवं वाजन (ऊपरी भाग) तक जाता है, उसकी चौड़ाई त्रिपाद (पौने तीन भाग) होनी चाहिये।

❋ कवाटम् ❋

त्रिचतुष्पञ्चषड्भागे भागेन स्तम्भवैपुले।
कवाटबहलं प्रोक्तं देवद्विजमहीभृताम् ॥१३॥

द्विकवाटविशेषेण एक एव प्रकीर्तितः।
सामन्तप्रमुखादीनां द्विकवाटं प्रशस्यते ॥१४॥

कपाट, द्वार का पल्ला—कवाट की चौड़ाई स्तम्भ की चौड़ाई के तीसरे, चौथे या पाँचवें भाग के बराबर होनी चाहिये। देवता, ब्राह्मण एवं राजाओं के द्वार में दो कपाट एवं शेष के लिये एक कपाट कहा गया है। सामन्त एवं प्रमुख आदि के लिये द्वार के दो कपाट प्रशस्त होते हैं।।१३-१४।।

सार्धवेदेषुपातालनन्दरुद्रकरान्वितैः।
उच्चानि तानि तल्पानि वेश्माभ्यन्तरतोदयात् ॥१५॥

गुल्फार्धविमलार्धं तु किञ्चित्तीव्रं यथाबलम्।
वेश्माभ्यन्तरतल्पोच्चे त्रिचतुष्पञ्चभागिके ॥१६॥

द्वित्रिवेदांशतुङ्गं तत्सरपं पूर्ववर्तिनि।

द्वार के कपाटों की ऊँचाई साढ़े चार, पाँच, सात, आठ या ग्यारह हाथ होनी चाहिये। यह ऊँचाई भवन के भीतरी भाग की ऊँचाई के अनुसार होनी चाहिये। इसमें आधा भाग गुल्फ (नीचे की चौखट) एवं आधा भाग विमल (ऊपर की चौखट) के लिये होता है। यह दृढ़ता के लिये थोड़ा मोटा रक्खा जाता है। कपाट के भीतरी भाग में सरप (द्वार के खुलने-बन्द होने पर नियन्त्रण रखने वाला अंग) लगाया जाता है, जिसकी ऊँचाई कपाट के तीन भाग में दो भाग के या पाँच भाग में चार भाग के बराबर होती है। इसके विषय में पहले वर्णन किया जा चुका है।।१५-१६।।

युग्मे महत्तरेऽल्पे च दक्षिणस्थे कवाटके ॥१७॥

विपुले चायते तस्मिंस्त्र्यंशे चञ्चांशके कृते।
उपरिष्टादधस्तात्तु पार्श्वयोस्त्र्यंशमंशकम् ॥१८॥

त्यक्त्वा शेषं प्रवेशेन यदावारं तदुच्यते।
यथाबलं यथाशोभमयःपट्टैर्दृढीकृतम् ॥१९॥

दो कपाट होने पर एक बड़ा एवं दूसरा छोटा होता है। दाहिनी ओर के कपाट की ऊँचाई के पाँच भाग एवं चौड़ाई के तीन भाग करने चाहिये। (लम्बाई के) तीन भाग को ऊपर एवं नीचे के लिये एवं एक भाग दोनों पार्श्वों के लिये छोड़कर मध्य में बचे द्वारभाग को 'आवार' कहते हैं। इसे लोहे के पट्टों से इस प्रकार दृढ़ करना चाहिये, जिससे कि कपाट दृढ़ हो एवं सुन्दर लगे।।१७-१९।।

मध्ये महत्तरे हीने योग्यव्यासकलान्वितम् ।
त्रिचतुष्पञ्चषण्मात्रं व्यासार्धं द्वित्रियंशकम् ।।२०।।
सत्रिपादत्रिभागैश्च सभाजनविकासनम् ।
बहुली दशमात्रा स्याद्धस्तिहस्ताद्विशालि वा ।।२१।।
विकासने विधातव्यं वेत्रं सामुद्गपाणिवत् ।

भाजन (सॉकेट) का भीतरी व्यास बड़े द्वार, मध्य द्वार या छोटे द्वार के अनुसार तीन, चार या पाँच अंगुल का होना चाहिये अथवा (सॉकेट के) बाहरी चौड़ाई का आधा, दो तिहाई, तीन चौथाई या तीसरे भाग के अनुसार होना चाहिये। अथवा इसका माप दस अंगुल या विकासन (घूमने वाली कील) की चौड़ाई के बराबर होनी चाहिये। वेत्र (कील के नोक) को (सॉकेट में) इस प्रकार रखना चाहिये, जिससे कि यह हाथी की सूँड के समान लगे।।२०-२१।।

अयुग्मफलकं ग्राह्यं मध्यसन्धिविवर्जितम् ।।२२।।
तल्पस्य भेषणी चैव मध्यं त्यक्त्वा समाहिते ।
कवाटयुगलोपेते यथाबलमभेषणी ।।२३।।

कपाट के लिये विषम संख्या के फलक का प्रयोग करना चाहिये एवं मध्य भाग में जोड़ नहीं होना चाहिये। कपाट की भेषणी (सहारा देने वाला भाग) मध्य भाग को छोड़कर होनी चाहिये। दो कपाट होने पर दृढ़ता को ध्यान में रखते हुये भेषणी का प्रयोग (अनावश्यक होने पर) नहीं करना चाहिये।।२२-२३।।

अथ तल्पघनस्यार्धघना द्विगुणविस्तृताः ।
दण्डत्रिपञ्चसप्तैव नवैकादशसंख्यया ।।२४।।
अश्वस्कन्धनखाभास्तेऽश्वत्थपत्राग्रसन्निभाः ।
स्वस्तिकाभास्तु घटिका मिर्णका वाऽथवा मताः।।२५।।

तल्प (कपाटफलक) पर तीन, पाँच, सात, नौ या ग्यारह दण्ड लगना चाहिये, जिनकी मोटाई तल्प की आधी एवं चौड़ाई मोटाई की दुगुनी होनी चाहिये। उनकी आकृति अश्व के कन्धे या नख के समान, पीपल के पत्ते के अग्र भाग के समान,

स्वस्तिक के समान, घटिका (छोटा घट) या मिर्णका के समान होनी चाहिये।

श्रीमुखैर्वामदण्डैश्च पिञ्जरीगलकार्गलैः ।
क्षेपणैः सन्धिपत्रैश्च गुच्छगैर्वनकैस्तथा ॥२६॥

गुल्मैरन्तर्गतैर्ग्राह्यैर्वालाभैर्मध्यकुण्डलैः ।
विषाणपरिघाक्षुद्रदण्डैर्युक्तं कवाटकम् ॥२७॥

कवाट को श्रीमुख, वामदण्ड, पिञ्जरी, गल, अर्गल (कड़ियाँ, शृंखलायें), क्षेपण, सन्धिपत्र, गुच्छे, वन, लतागुल्म (झुरमुट), भीतर से पकड़ने वाले भाग (हैण्डल), वालाग्र (पूँछ), मध्य भाग में कुण्डल, विषाण (सींग), परिघा एवं क्षुद्र दण्ड (छोटा दण्ड, जिससे द्वार को खुलने से रोका जा सके) से युक्त करना चाहिये।।२६-२७।।

इन्द्रकीलसमोपेतं सर्वचित्रमनोहरम् ।
अथवा सान्यलोहैश्च युक्त्या तत्र दृढीकृतम् ॥२८॥

गुल्फे सन्धे ललाटे च शृङ्गायोमयपत्रकैः ।
बध्नीयात् सर्वयत्नेन यथाशोभं यथाबलम् ॥२९॥

मुकुलानन्तरं पत्रत्रिनेत्रा सूचिकायता ।
योगोदयत्रिभागैकनिखातं वा यथाबलम् ॥३०॥

कपाट को सभी प्रकार से सुन्दर इन्द्रकील से युक्त करना चाहिये या अन्य धातु से उचित रीति से दृढ़ करना चाहिये। गुल्फ (निचले भाग), सन्धिस्थान पर एवं ललाट (सामने के भाग) पर इन्द्रकील को शृंग एवं लोहे के पत्र द्वारा प्रयत्नपूर्वक इस प्रकार लगाना चाहिये, जिससे कि वे दृढ़ रहें एवं सुन्दर लगें। दो कलियों के बीच में सूई के समान लम्बी पत्र त्रिनेत्रा लगानी चाहिये। चौखट का भीतर धँसा भाग पूरी ऊँचाई का तीसरा भाग होना चाहिये, जिससे कि वह दृढ़ रहे।।२८-३०।।

तल्पतीव्रसमा तीव्रद्विगुणं विस्तृतान्विता ।
पद्मपत्रविचित्रा सा पट्टाङ्गस्कन्धपट्टिका ॥३१॥

प्रवेशदक्षिणे तल्पे स्थापितव्या मनोहरा ।
सार्गलं दक्षिणं योगं वामे योगं सतल्पकम् ॥३२॥

पट्ट के समान स्कन्धपट्टिका (दोनों कपाटों के मध्य के अवकाश को ढँकने वाली पट्टी) को प्रवेश करते समय दाहिने कपाटफलक पर इस प्रकार लगाना चाहिये, जिससे कि वह सुन्दर प्रतीत हो। इसकी मोटाई कपाटफलक के समान एवं चौड़ाई मोटाई की दुगुनी होती है। यह पद्मपत्र की आकृति से सुसज्जित होती है। दक्षिण योग पर अर्गल (सिकड़ी, सिटकिनी) एवं वामयोग पर कपाटफलक होना चाहिये।

॥ शुभाशुभद्वाराणि ॥

विदध्याद्वामहस्तेन तल्पं दक्षिणपाणिना ।
घटिकां रोपयेद् विद्वान् युग्मेऽयुग्मे करेण तु ॥३३॥

घाटनोद्धाटने तल्पे स्वस्वनादांशपूजिते ।
भेरीसमानशब्दञ्च हस्तिसिंहस्वरोपमम् ॥३४॥

वीणावेणुस्वरं चैव शस्तं कन्धरगर्जितम् ।
क्रोशनं कूजनं सर्वमन्यच्चापि विनिन्दितम् ॥३५॥

प्रशस्त एवं अप्रशस्त द्वार—विद्वान् को (द्वार खोलते समय) बाँयें हाथ से कपाटफलक एवं दाहिने हाथ से घटिका (द्वार को खोलने बन्द करने का अवयव) का प्रयोग करना चाहिये। चाहे द्वारफलक एक हो या दो हो। द्वार को खोलने एवं बन्द करते समय उत्पन्न स्वर भेरी के स्वर के समान, गज के स्वर या सिंह के स्वर के समान, वीणा एवं वेणु के स्वर के समान हो तो वह नाद प्रशस्त होता है। कण्ठ से निकले गर्जन के समान, चिल्लाने के समान, गूँजने के समान एवं अन्य प्रकार के स्वर अप्रशस्त होते हैं।।३३-३५।।

अधस्तादुपरिष्टात्तु प्रशस्तं घाटनं समम् ।
सच्छिद्रान्त्यार्गलत्वं च योगार्गलविघट्टनम् ॥३६॥

बन्धुक्षयकरं शत्रुपीडनोपद्रवं सदा ।
स्वयमेव पिधानं यत् स्वयमपावृतं तु तत् ॥३७॥

तद्द्वारं बन्धुनाशाय सम्पदां सापदं पदम् ।

द्वार के नीचे का भाग एवं ऊपर का भाग समान रूप से खुलना चाहिये। भीतरी अर्गला का उसके छिद्र से (जहाँ फँसाया जाय) छोटा होना या अर्गला एवं योग का आपस में रगड़ना बन्धुओं के नाश का कारण, शत्रुओं से पीड़ा एवं सदा उपद्रव का कारण होता है। जो द्वार अपने-आप खुले तथा अपने-आप बन्द हो, वह बन्धु-बान्धव के विनाश का, सम्पत्ति की हानि का एवं विपत्ति का कारण होता है।।३६-३७।।

वृक्षकर्णावधिस्थूणकूपविद्धं तथैव च ॥३८॥

देवायतनविद्धं च वीथिविद्धं तथैव च ।
वल्मीकभस्मविद्धं च सिरामर्मादिविद्धकम् ॥३९॥

विषनाडीसमानं च फणिनां पदमेव च ।
स्थूलभावावनं रक्षद्वारं तल्लसितं वरैः ॥४०॥

द्वार का वृक्ष, कोप, चारदिवारी, खम्भा एवं कूप से विद्ध होना (इनका द्वार के सामने होना), देवालय से विद्ध होना, मार्ग से विद्ध होना, बाँबी एवं भस्म से विद्ध होना, सिरा एवं मर्मस्थान से विद्ध होना विष-नाड़ी के समान (अप्रशस्त) होता है और वह सर्पों का स्थान (मृत्युकारक स्थान) होता है। द्वार गृह का रक्षक एवं दृढ़ होना चाहिये। ऐसा द्वार विद्वानों को प्रसन्न करता है।।३८-४०।।

गमनागमने गजोपरिष्टाद् द्विजघातावरणस्पृशा च।
क्षयदं नृपतेर्हितं तु यत्सपदेऽवनतं विशेषतः ।।४१।।

फुल्लप्रवेशने भूपः सुचिरं जीवितं ध्रुवम्।
परराज्याधिपत्यं च क्षीणत्वं नैव याति सः ।।४२।।

गज के ऊपर बैठकर आते-जाते समय द्वार के कपाट के आघात से यदि ब्राह्मण की मृत्यु हो जाती है तो द्वार राजा के विनाश का कारण बनता है। जब पैदल हो और ऐसी घटना हो तो वह राजा की अवनति का कारण बनता है। यदि राजा बड़े द्वार से प्रवेश करता है तो वह नि:सन्देह चिरकाल तक जीवित रहता है। वह दूसरे के राज्य पर भी अधिकार प्राप्त करता है एवं कभी भी क्षीण नहीं होता है।।४१-४२।।

❋ द्वारस्थानानि ❋

मध्यद्वारं तु देवानां द्विजानामवनीभृताम्।
शेषाणामपि सर्वेषामुपमध्यं विधीयते ।।४३।।

द्वार की स्थिति—देवों, ब्राह्मणों एवं राजाओं का द्वार मध्य में तथा शेष मनुष्यों के आवास का द्वार मध्य भाग के पार्श्व में होना चाहिये।।४३।।

द्वात्रिंशद्देवतांशेषु तेषु माहेन्द्रके पदे।
राक्षसे पुष्पदन्ते च भल्लाटे च चतुर्ष्वपि ।।४४।।

तद्दिगीशानमाश्रित्य द्वारं कुर्यात् सुशोभनम्।
अन्तर्द्वारबहिर्द्वारमेवं युञ्जीत बुद्धिमान् ।।४५।।

शेषद्वाराणि सर्वाणि सर्वदोषप्रदानि हि।
ब्रह्मणोऽभिमुखं ब्रह्मापरावृत्तं निषिध्यते ।।४६।।

किमनेन प्रलापेन द्वारमन्यद् विगर्हितम्।

बत्तीस पद वास्तुमण्डल में महेन्द्र, राक्षस, पुष्पदन्त एवं भल्लाट—इन चारो पदों पर द्वार होना चाहिये। ये द्वार अपनी दिशाओं के अधिपति देवों द्वारा संरक्षित होते हैं। बुद्धिमान व्यक्ति को इसी प्रकार भीतर के द्वार एवं बाहर के द्वारों का समायोजन करना

चाहिये। शेष अन्य सभी द्वार दोषयुक्त होते हैं। ब्रह्मा के सामने एवं ब्रह्मा की ओर (बाहर निकलने वाले व्यक्ति की पीठ) वाले द्वार निषिद्ध होते हैं। प्रलाप करने से क्या लाभ? अन्य स्थान पर द्वार निन्दित होते हैं।।४४-४६।।

विशालं व्यक्ततारं स्याद्व्यत्यस्तं रोगदायि तत् ॥४७॥

विवृते संवृते कार्ये स्थापिते स्थितिमद् भवेत् ।
उपरिष्टादधस्ताच्च व्यासायामं समं शुभम् ॥४८॥

अतिदूरे सशब्दत्वमथ धावकधावनम् ।
दोषदं सततं पत्युर्विपदामास्पदं भवेत् ॥४९॥

द्वार के विस्तार का माप सुनिश्चित होना चाहिये। माप से कम या अधिक रोग का कारण होता है। खोलने एवं बन्द करने पर जहाँ इसे रोका जाय, उसी स्थिति में कपाट का स्थित रहना तथा ऊपर एवं नीचे का व्यास एवं लम्बाई बराबर रहे तो वह द्वार प्रशस्त होता है। यदि (खोलने एवं बन्द करने पर द्वार का) स्वर धोबी के वस्त्र धोने जैसा हो तो वह गृहस्वामी के विपत्ति का कारण बनता है।।४७-४९।।

जयन्ते वितथे चैव सुग्रीवे मुख्यके पदे ।
जलद्वारं प्रयोक्तव्यं क्रमादन्यद् विवर्जितम् ॥५०॥

जलद्वार (जलप्रणाली) को जयन्त, वितथ, सुग्रीव एवं मुख्य के पद पर क्रमशः निर्मित करना चाहिये। अन्य स्थान (जलद्वार के लिये) छोड़ देना चाहिये।।५०।।

पर्जन्ये भृशभागे तु पूष्णि भृङ्गनृपे तथा ।
दौवारिके तु शोषांशे नगेऽदितिपदे क्रमात् ॥५१॥

उपद्वारं प्रयोक्तव्यं तत्सुरङ्गमिति स्मृतम् ।
एकद्वितलसंयुक्तं बहुरक्षसमन्वितम् ॥५२॥

पर्जन्य, भृश, पूषा, भृंगराज, दौवारिक, शोष, नग एवं अदिति के पद उपद्वार का प्रयोग करना चाहिये। इसे सुरङ्ग कहते हैं। ये एक या दो तल से युक्त बहुत-सी रक्षाओं (सुरक्षा-बल) से युक्त होते हैं।।५१-५२।।

पादाधिष्ठानयोर्मानं नीत्वा रोषं यदुन्नतम् ।
तत्तु तत्रोपपीठोच्चे पूर्वोक्तद्वारतुङ्गकम् ॥५३॥

पुरतो वर्णकं गुह्यं सोपानं तल्पसंयुतम् ।
द्वारगोपुरगम्भीरं गृही योगं निधापयेत् ॥५४॥

सीमा सालं च सीमान्तं वेश्मादीनामुदीरितम् ।

(यहाँ कुछ छूट है; पाठ खण्डित है)। स्तम्भ एवं अधिष्ठान की ऊचाई के मान

को लेकर जो शेष बचे, उससे उपपीठ की ऊँचाई एवं द्वार की ऊँचाई लेनी चाहिये; जिसका वर्णन पहले किया गया है। सामने द्वार (कपाट) से लगे गुप्त या दिखाई पड़ने वाले सोपान का निर्माण करना चाहिये। द्वार के योग को द्वारगोपुर के बराबर गहराई में (भूमि में) स्थापित करना चाहिये। भवन की बाहरी भित्ति राजभवन एवं अन्य भवनों की सीमा निर्धारित करता है।।५३-५४।।

❋ गोपुरमानानि ❋

इदानीं द्वारशोभादिगोपुरान्तं तु विस्तृतम् ।।५५।।
दैर्घ्यमुत्तुङ्गमानं तु सङ्क्षेपाद् वक्ष्यते क्रमात् ।
पञ्चसप्तत्रित्रिधैकादशत्रयोदशमानतः ।।५६।।
प्रथमावरणे द्वारशोभाव्यासास्तु पञ्चधा ।
त्रिपञ्चाद्यात्रयोविंशद् द्वारशाला विशालता ।।५७।।
पञ्चविंशत्कराद्यावत्त्रयस्त्रिंशत्करान्तकम् ।
द्वारगोपुरविस्तारं पञ्चैव परिगीयते ।।५८।।

गोपुर के मान—अब द्वारशोभा से लेकर द्वारगोपुर तक (सभी द्वारों) का विस्तार, लम्बाई एवं ऊँचाई के प्रमाण का वर्णन संक्षेप में क्रमशः किया जा रहा है। प्रथम आवरण द्वारशोभा के पाँच प्रकार के व्यास-मान प्राप्त होते हैं। ये पाँच, सात, नौ, ग्यारह एवं तेरह हाथ हैं। द्वारशाला का विस्तार मान पन्द्रह से तेईस हाथ पर्यन्त होता है। द्वार-गोपुर के पच्चीस हाथ से लेकर तैंतीस हाथ पर्यन्त पाँच प्रकार के विस्तार-मान कहे गये हैं।।५५-५८।।

विस्तारत्रितयो द्व्यंशं पादमर्धं त्रिपादकम् ।
तत्समं वाधिकं तेषामायामाः स्युः पृथक् पृथक् ।।५९।।
उत्तुङ्गं तु तथैवेष्टमथवोन्नतमिष्यते ।
पञ्चांशेभ्यश्च सप्तांशे सप्तांशेभ्यो दशांशके ।।६०।।
स्वव्यासादधिकोत्सेधं पूर्वोक्तानामुदीरितम् ।

इनकी लम्बाई विस्तार के बराबर या उससे दो तिहाई, चौथाई, आधा या तीन चौथाई भाग अधिक होती है। इसकी ऊँचाई इच्छानुसार या चौड़ाई के बराबर अथवा सात भाग में पाँच भाग या दस में सात भाग अधिक रखनी चाहिये।।५९-६०।।

❋ एकतलगोपुरम् ❋

वक्ष्यते द्वारशोभादिपञ्चधालङ्कृतिक्रिया ।।६१।।
द्विचतुष्कषडायामं नालीगेहं तदर्द्धतः ।
शेषं तु भित्तिविष्कम्भं मध्ये द्वारं प्रयोजयेत् ।।६२।।

त्रिवर्गमण्डपाकारं नाम्ना तच्छ्रीकरं भवेत्।

एक तल का गोपुर—द्वारशोभा आदि पाँच गोपुरद्वारों के अलंकरणों का वर्णन किया जा रहा है। (एक तल गोपुर की) लम्बाई के दो, चार या छः भाग करने चाहिये। उसके आधे भाग से नालीगेह (मध्य भाग) बनाना चाहिये। शेष भाग से भित्ति की मोटाई रखनी चाहिये। द्वार मध्य में होना चाहिये। मण्डप के आकार में एवं तीन वर्ग से युक्त इस द्वार का नाम 'श्रीकर' होता है।।६१-६२।।

तदेव परितो भक्त्या महावारसमन्वितम् ।।६३।।
संवृतं विवृतं वाऽपि लाङ्गलाकारभित्तिकम्।
वारोपरिष्टात्सोपानं प्रस्तलस्तुलसंवृतम् ।।६४।।
सकलं दुस्तकं कोष्ठं काननं मुखपट्टिका।
मध्यपादसमायुक्तं नासिका मध्यमे भवेत् ।।६५।।
महावारेऽष्टनासं स्याद् ग्रामे तच्छीतमिष्यते।

उसके चारो ओर एक भाग से महावार (बड़ा मार्ग) निर्मित करना चाहिये। यह ढँका हुआ या खुला हुआ एवं लांगल (हल) के आकार की भित्ति से युक्त हो। वार के ऊपरी भाग तक प्रस्तलस्तुल (संरचनाविशेष) से युक्त सोपान होना चाहिये। यहाँ सकल दुस्तक (अर्थ स्पष्ट नहीं है) कोष्ठ, कानन (संरचनाविशेष) एवं मुखपट्टिका निर्मित होनी चाहिये। मध्य स्तम्भ से युक्त मध्य भाग में नासिका होनी चाहिये। महावार पर अष्ट नासियाँ (सजावटी खिड़की) होनी चाहिये। ग्राम में इसे 'सीता' कहते हैं।

तदैककरं कोष्ठं काननं मुखपट्टिका ।।६६।।
श्रीभद्रमेतदुद्दिष्टं नाम्ना सर्वेषु पूजितम्।
एकभूमि त्रिधा प्रोक्तं द्वितलं वक्ष्यतेऽधुना ।।६७।।

(अथवा मुख भाग पर) मुखपट्टिका के युक्त काननकोष्ठ (एक लम्बी निर्मिति) होना चाहिये। इसकी संज्ञा 'श्रीभद्र' है एवं यह सभी स्थान के लिये प्रशस्त है। इस प्रकार एक तल के तीन प्रकार के गोपुरों का वर्णन किया गया। अब दो तल के गोपुरों का वर्णन किया जा रहा है।।६६-६७।।

❁ द्वितलगोपुरम् ❁

❁ रतिकान्तम् ❁

चतुष्षड्विस्तृतायामं द्वारतारं विशिष्यते।
एकत्रिभागिकैर्व्यासायामं नालीगृहं तथा ।।६८।।

अर्धांशं परितः कुड्यं बहिर्वारमथांशकम्।
तदर्धं तद्बहिः कुर्यात् त्र्यंशगोपानमञ्चकम्॥६९॥

सोपपीठमधिष्ठानं स्तम्भादिपरिमण्डितम्।
महावारेष्टनास्यङ्गं शिखरं कोष्ठकाकृतिः॥७०॥

मुखेऽमुखे ` महानासा द्विभागविस्तृतान्विताः।
सभद्रं वा विभद्रं वा भद्रं पादसमन्वितम्॥७१॥

प्रादक्षिण्येन सोपानं महावाराधिरोहणम्।
नाम्नेदं रतिकान्तं स्यात् सर्वेषां रतिवर्धनम्॥७२॥

दो तल के गोपुर (रतिकान्त)—(द्वितल गोपुर में) लम्बाई छः भाग एवं चौड़ाई दो भाग होनी चाहिये। मध्य भाग में एक भाग चौड़ा एवं तीन भाग लम्बा नालीगृह (कक्ष) होना चाहिये। यह चारो ओर एक भाग मोटी भित्ति से घिरा होना चाहिये तथा उसके बाहर एक भाग से वार (मार्ग, बरामदा) होना चाहिये। उसके बाहर उसके आधे भाग से तीन भाग चौड़ा गोपानमञ्चक निर्मित होना चाहिये। अधिष्ठान उपपीठ से युक्त तथा स्तम्भ आदि से सुसज्जित होना चाहिये। महावार अष्टनासियों से युक्त और शिखर कोष्ठक के आकार का होना चाहिये। सामने एवं पीछे दो भाग चौड़ी महानासी होनी चाहिये। यह भद्र से युक्त, भद्र से रहित या स्तम्भसहित भद्र से युक्त होती है। महावार दक्षिण भाग से सोपान से युक्त होता है। इसका नाम 'रतिकान्त' है एवं यह सभी की प्रसन्नता में वृद्धि करता है।।६८-७२।।

❋ कान्तविजयम् ❋

तदेव शिखरं दभ्रचतुर्णासिसमन्वितम्।
यत् कान्तविजयं नाम्ना सर्वेषां कान्तिवर्धनम्॥७३॥

कान्तविजय—उसी शिखर में यदि चार नासियाँ हों तो उसकी संज्ञा 'कान्तविजय' होती है एवं यह सभी की शोभा को बढ़ाने वाला होता है।।७३।।

❋ सुमङ्गलम् ❋

प्रहीणशिखराकारं हारोपेतं तदेव हि।
वारे परीतनास्यङ्गमेतन्नाम्ना सुमङ्गलम्॥७४॥

एतद् द्वितलकं प्रोक्तं त्रितलं वक्ष्यतेऽधुना।

सुमङ्गल—यदि शिखर हीन (छोटा, चिपटा) हो एवं हारा से युक्त हो तथा वार की बाहरी भित्ति पर चारो ओर नासियाँ निर्मित हों तो उसकी संज्ञा 'सुमङ्गल' होती है। इस प्रकार द्वितल गोपुर का वर्णन किया गया, अब त्रितल गोपुर का वर्णन किया जा रहा है।।७४।।

❁ त्रितलगोपुरम् ❁

❁ मर्दलम् ❁

चतुष्षड्विस्तृतायामं द्वारतारं विशिष्यताम् ॥७५॥
द्वारस्य पार्श्वयोर्वासावंशेनांशेन योजितौ।
तत्तत्परिवृतं कुड्यमर्धांशेन विधीयते ॥७६॥
भागेन परितो वारं द्विकं चैवात्र नासिकम्।
गेहद्वयं ससोपानं हारोपेतमुपर्यपि ॥७७॥
वास्तलं च तयोर्मध्ये द्वारतारं विधीयते।
द्वारहर्म्यमिदं नाम्ना मर्दलं राजमन्दिरे ॥७८॥

त्रितलगोपुर (मर्दल)—यह गोपुर चार भाग चौड़ा एवं छः भाग लम्बा होता है। द्वार के दोनों पार्श्वों में एक-एक भाग के आवास होते हैं। उसके चारो ओर आधे भाग से भित्ति निर्मित होती है। उसके चारो ओर एक भाग से वार निर्मित होता है, जिस पर दो नासियाँ निर्मित होती हैं। दोनों गृह सोपान से युक्त होते हैं एवं ऊपर भी हारा निर्मित होते हैं। उन दोनों के मध्य वास्तल (गटर) निर्मित होता है, जिसका माप द्वार की चौड़ाई के बराबर होता है। इस द्वारहर्म्य गोपुर की संज्ञा 'मर्दल' होती है एवं यह राजगृह में निर्मित होता है।।७५-७८।।

❁ मात्रखण्डम् ❁

षट्पङ्क्तिविस्तृतायामं द्वारतारं विधीयते।
द्वारस्य पार्श्वयोर्वासमेकैकांशेन योजितम् ॥७९॥
तत्तत्परिवृतं कुड्यमर्धभागेन सम्मतम्।
बहिः परिवृतं वारमेकैकांशेन योजयेत् ॥८०॥
जलस्थलि तयोर्मध्ये द्वारतारं विधीयते।
बहिष्ठात्परितो वारं भागेनैव समन्वितम् ॥८१॥
मासावृतं महावारं प्रत्येकं चेष्टनासिकम्।
प्रहीणशिखराकारं हारोपेतमुपर्यपि ॥८२॥
नासिका बाह्यवारे तु द्विसप्त परिकीर्तिताः।
द्वारसोपानमार्गं च युक्त्या तत्र प्रयोजयेत् ॥८३॥
मात्रखण्डमिदं नाम्ना राज्ञामेतज्जयावहम्।

मात्रखण्ड—यह गोपुर छः भाग चौड़ा एवं दस भाग लम्बा होता है। द्वार के

दोनों पार्श्वों में एक भाग से कक्ष निर्मित होते हैं। दोनों कक्ष आधे भाग मोटी भित्ति से घिरे होते हैं। उसके बाहर एक भाग से चारो ओर वार निर्मित होता है। उन दोनों के मध्य द्वार की चौड़ाई के बराबर जलस्थल (गटर) निर्मित होता है। उसके बाहर एक भाग से चारो ओर वार निर्मित होता है। उसके चारो ओर महावार (बड़ा मार्ग, बरामदा) निर्मित होता है, जिस पर नासिकायें निर्मित होती हैं। इसका शिखर हीन (लगभग चिपटा) होता है एवं ऊपर हार निर्मित होता है। बाहरी वार पर चौदह नासिकायें निर्मित होती हैं। द्वार, सोपान एवं मार्ग का निर्माण आवश्यकतानुसार करना चाहिये। इस गोपुर की संज्ञा 'मात्रखण्ड' है एवं यह राजाओं को विजय प्रदान करता है।

श्रीनिकेतनम्

व्यासायामे दशाष्टांशे द्वारतारं विशिष्यताम् ॥८४॥

नालीगृहं द्विभागेन गृहपिण्डिस्तदंशके ।
अलिन्द्रमर्धभागेन परितोऽन्धारमंशकम् ॥८५॥

अंशेन परितोऽलिन्द्रं हारं भागेन योजयेत् ।
द्विभागं कूटविस्तारं शालायामं षडंशकम् ॥८६॥

विस्तारे चतुरंशेन कोष्ठकायाममिष्यते ।
हारा भागेन कर्तव्या चूलहर्म्यसमन्विता ॥८७॥

जलस्थलं तदेवाहुः कूटशालान्तरेऽपि वा ।
एवमादितलं प्रोक्तं द्वितले भागमुच्यते ॥८८॥

इस गोपुर द्वार की चौड़ाई आठ भाग एवं लम्बाई दस भाग होती है। नालीगृह (मध्य कक्ष) दो भाग से एवं चारो ओर एक भाग से भित्ति होती है। तत्पश्चात् आधे भाग से अलिन्द्र (बरामदा) एवं एक भाग से चारो ओर अन्धार (मार्ग, गलियारा) होता है। इसके पश्चात् एक भाग से चारो ओर अलिन्द्र एवं एक भाग से हार (बाहरी भित्ति) निर्मित होता है। कूट की चौड़ाई दो भाग से एवं शाला की लम्बाई छः भाग से होती है। कोष्ठक का विस्तार चार भाग से एवं (उसी प्रकार उसकी) लम्बाई होती है। द्वार का निर्माण एक भाग से चूलहर्म्य से युक्त करना चाहिये। कूट एवं शाला के मध्य में जल का स्थान होना चाहिये। इस प्रकार आदितल (भूतल) का वर्णन किया गया। अब दूसरे तल के भागों का वर्णन किया जा रहा है।।८४-८८।।

पूर्ववन्नालिगेहं च गृहपिण्डमलिन्द्रकम् ।
अर्धेन परितः पिण्डिगोपानप्रस्तरान्वितम् ॥८९॥

उपरिष्टान्महावारमष्टनासिसमन्वितम् ।
शिखरं कोष्ठकाकारमायामार्धेन विस्तरम् ॥९०॥

मुखेऽमुखे महानासि द्विभागविस्तृतान्वितम् ।

नाली-गृह, चारो ओर की भित्ति एवं अलिन्द्र पूर्ववर्णन के अनुसार होना चाहिये। आधे भाग से चारो ओर गोपानप्रस्तर से युक्त पिण्डी का निर्माण करना चाहिये। ऊपरी भाग में आठ नासियों से युक्त महावार निर्मित होता है। शिखर कोष्ठक के आकार का होता है एवं इसका विस्तार लम्बाई का आधा होता है। आगे एवं पीछे दो भाग चौड़े महानासियों का निर्माण होता है।।८९-९०।।

उपर्युपरि वेशं च युक्त्या मध्याङ्घ्रिसंयुतम् ।।९१।।
प्रादक्षिण्येन सोपानमुपर्युपरि योजयेत् ।
सोपपीठमधिष्ठानं स्तम्भादिपरिमण्डितम् ।।९२।।
ऊहप्रत्यूहसंयुक्तं नाम्नेदं श्रीनिकेतनम् ।
त्रितलं त्रिविधं प्रोक्तं शुद्धमिश्रतयान्वितम् ।।९३।।
नानावातायनोपेतमन्तस्सालेषु सम्मतम् ।
अधुना सप्तभौमादि चतुर्भूमान्तमिष्यते ।।९४।।

ऊपरी तलों में मध्य स्तम्भ से युक्त प्रवेश का संयोजन आवश्यकतानुसार करना चाहिये। प्रत्येक तल में दक्षिण भाग में सोपान निर्मित होता है। अधिष्ठान उपपीठ एवं स्तम्भ आदि से सुसज्जित होते हैं। ऊह एवं प्रत्यूह (प्रधान एवं अप्रधान भाग) से युक्त इसकी संज्ञा 'श्रीनिकेतन' होती है। शुद्ध (एक) या मिश्रित (अनेक) पदार्थों से निर्मित तीन तल के गोपुरों के तीन प्रकारों का वर्णन किया गया। ये विभिन्न प्रकार की खिड़कियों एवं अन्तःसालों (भीतरी प्राकारों) से युक्त होते हैं। अब सात तल से प्रारम्भ कर चार तल पर्यन्त गोपुरों का वर्णन किया जा रहा है।।९१-९४।।

सप्ततलगोपुरम्

भद्रकल्याणम्

द्विसप्ताष्टांशके व्यासाद् द्वारतारं विशिष्यताम् ।
नालिगेहं द्विषड्भागं व्यासायामसभित्तिकम् ।।९५।।
परितो द्व्यंशमानेनालीन्द्रं कुर्याच्चतुष्टयम् ।
हाराचतुष्टयं कुर्यादर्धांशेन समन्ततः ।।९६।।
तद्बहिस्त्वेकभागेन परितोऽलिन्द्रमिष्यते ।
हारभागं तु भागेन गृहपिण्डस्तदर्धतः ।।९७।।
हारभागेन कर्तव्यं पार्श्वयोः पञ्जरस्य तु ।

सात-तल गोपुर (भद्रकल्याण)—इस गोपुर की चौड़ाई चौदह भाग एवं लम्बाई सोलह भाग होती है। नालीगेह (मध्यकक्ष) दो भाग चौड़ा एवं छः भाग लम्बा होता है। इसके चारो ओर भित्ति होती है। दो भाग मान के चार अलिन्द्र होते हैं। चारो ओर आधे भाग से चार हारा का निर्माण करना चाहिये। इसके बाहर चारो ओर एक भाग से अलिन्द्र होता है। एक भाग से हार-भाग एवं आधे भाग से भित्ति होती है। हार के भाग के बराबर दोनों पार्श्वों में पञ्जर निर्मित होते हैं।।९५-९७।।

सप्रत्यङ्गसहामूलं भूमौ भूमावुपर्यपि ॥९८॥
त्रितले खण्डहर्म्यादिमण्डितं वाःस्थलान्वितम् ।
उपर्युपरि च ग्रीव महावारचतुष्टयम् ॥९९॥
उपर्युपरि युक्त्याङ्घ्रिं योजयेद् द्वारमध्यमे ।
अयुग्मस्थूपिकोपेतशिरसाम्याङ्गपट्टिका ॥१००॥

प्रत्येक ऊपरी तल की भूमि प्रतियुक्त होती है। तीसरे तल को खण्डहर्म्य आदि से सुसज्जित एवं जलस्थल से युक्त बनाना चाहिये। प्रत्येक ऊपरी तल की ग्रीव पर चार महावार (बड़े बरामदे) होते हैं। प्रत्येक ऊपरी तल के द्वार के मध्य में स्तम्भ निर्मित करना चाहिये। छत पर छत के माप की पट्टिका एवं विषम संख्या में स्तूपिकायें होनी चाहिये।।९८-१००।।

तोरणैर्जालकैः क्षुद्रनीडैः सम्यग् विचित्रितम् ।
तले तले महावारे युक्त्या नास्यङ्गसंयुतम् ॥१०१॥
द्वारस्योभयपार्श्वे तु कूटशालान्तरे ततः ।
उपपीठादिरोहार्थं सोपानं चारमिष्यते ॥१०२॥
सोपनाङ्गणकूटस्य त्रिखण्डं शृङ्गमण्डलम् ।
उपर्युपरि सोपानं युक्त्या तत्र प्रयोजयेत् ॥१०३॥
भद्रकल्याणमित्युक्तं नाम्नेदं द्वारगोपुरम् ।

इसे तोरणों, झरोखों एवं क्षुद्रनीडों (छोटी सजावटी खिड़कियों) से भली-भाँति अलंकृत करना चाहिये। प्रत्येक तल पर महावार (की भित्तियों) को नासियों से सुसज्जित करना चाहिये। यह द्वार के दोनों पार्श्वों में तथा कूट और शाला के मध्य में होता है। इसके पश्चात् उपपीठ, चढ़ने के लिये सीढ़ी एवं चार (चलने के लिये मार्ग) होता है। आँगन एवं कूट का सोपान त्रिखण्ड या शृङ्गमण्डल (शैली का) होता है। प्रत्येक ऊपरी तल में सोपान की योजना आवश्यकतानुसार की जानी चाहिये। इस द्वारगोपुर को 'भद्रकल्याण' संज्ञा से अभिहित किया जाता है।।१०१-१०३।।

❋ सुभद्रम् ❋

तदेव शिखरे मध्ये नासिका पार्श्वयोर्द्वयोः ॥१०४॥
मुखेऽमुखे तु नास्यङ्गयुक्तं तस्य सुभद्रकम् ।

सुभद्र—उसी में मध्य भाग तथा दोनों पार्श्वों में नासिका हो तथा सामने एवं पीछे नासियाँ हों तो उसकी संज्ञा 'सुभद्र' होती है।।१०४।।

❋ भद्रसुन्दरम् ❋

द्व्यंशं वारितलं गर्भगेहे तत्पार्श्वयोर्द्वयोः ॥१०५॥
द्विभागं चतुरस्राभं चतुर्नास्यङ्गसौष्ठिकम् ।
भद्रसुन्दरमित्युक्तं नाम्ना तत्तत एव हि ॥१०६॥
द्विरष्टद्विनवांशेन व्यासे पार्श्वे नियोजयेत् ।
स्वव्यासांशं चतुर्भागेऽप्यधिकं स्यात्तदायतम् ॥१०७॥
शेषं युक्त्या प्रकर्तव्यं शुद्धमिश्रतयान्वितम् ।

भद्रसुन्दर—मध्य भाग में दो भाग से जलस्थान तथा दोनों पार्श्वों में दो भाग प्रमाण से चार नासियों से युक्त सौष्ठिक होता है। इसे 'भद्रसुन्दर' नाम से अभिहित किया गया है। पार्श्व भाग में इसी के विस्तार में सोलह भाग एवं लम्बाई में अट्ठारह भाग रक्खा जाता है। इसकी लम्बाई चौड़ाई से चतुर्थांश अधिक होती है। शेष भागों को आवश्यकतानुसार रखना चाहिये। इसका निर्माण एक या अनेक द्रव्यों से किया जाता है।।१०५-१०७।।

❋ षट्तलगोपुरम् ❋

एवं सप्ततलं ज्ञात्वा नाम्ना तत् त्रिविधं भवेत् ॥१०८॥
तदेवाधःस्थलं त्यक्त्वा षट्तलं यत्क्रमेण तु ।
सुबलं सुकुमारं च सुन्दरं चेति कीर्तितम् ॥१०९॥

छः तल का गोपुर—इस प्रकार सप्ततल गोपुर का वर्णन किया गया है। इसके तीन प्रकार होते हैं। इसी में निचले तल को छोड़ छः तल के गोपुर बनते हैं; जिन्हें क्रमशः सुबल, सुकुमार एवं सुन्दर कहा गया है।।१०८-१०९।।

❋ पञ्चतलगोपुरम् ❋

द्विसप्तविस्तारायामे द्वारतारं विशिष्यताम् ।
गृहपिण्डिं च गेहं च पूर्ववत् परिकल्पयेत् ॥११०॥

हारालिन्द्रं तु पञ्चार्धार्धांशेन परितः क्रमात्।
अलीन्द्रं बाह्यभित्तिं च भागेनांशेन योजयेत् ॥१११॥

अङ्गणे सौष्ठिकद्व्यंशं शालायामं षडंशकम्।
जलस्थलं त्रिभागेन कूटशालान्तरे विदुः ॥११२॥

विस्तारे वाःस्थलं द्व्यंशं महावारत्रयान्वितम्।
शेषं पूर्ववदुद्दिष्टं पञ्चभूमं यथाक्रमम् ॥११३॥

श्रीच्छन्दं श्रीविशालं च विजयं चेति कीर्तितम्।
नाम्नेदं त्रिविधं प्रोक्तं नानावयवशोभितम् ॥११४॥

पाँच तल का गोपुर—द्वार की लम्बाई एवं चौड़ाई चौदह भाग होनी चाहिये। गृह की भित्ति एवं गृह (मध्य कक्ष) पहले के समान होना चाहिये। उसके चारो ओर हार (बाह्य भित्ति) एवं अलिन्द्र क्रमशः पाँच तथा डेढ़ भाग से होनी चाहिये। अलिन्द्र एवं बाह्य भित्ति की चौड़ाई एक भाग होनी चाहिये। आँगन में दो भाग से सौष्ठिक एवं छः भाग लम्बी शाला होनी चाहिये। कूट एवं शाला के मध्य भाग में तीन भाग से जलस्थान होना चाहिये। विस्तार में जलस्थान दो भाग से हो एवं तीन महावार से युक्त हो। शेष अंगों का निर्माण पूर्ववर्णित रीति से करना चाहिये। पञ्चतल गोपुर को क्रमशः श्रीच्छन्द, श्रीविशाल एवं विजय कहा गया है। इस प्रकार विभिन्न अंगों से सुशोभित पञ्चतल गोपुर तीन प्रकार के कहे गये हैं।।११०-११४।।

❋ चतुस्तलगोपुरम् ❋

तदेव व्यासव्यायामे द्व्यंशेन परिवर्जिते।
महावारद्वयोपेतं कूटकोष्ठं च पूर्ववत् ॥११५॥

ललितं चैव कल्याणं कोमलं च त्रिधा मतम्।
नाम्ना चतुस्तलं चैव ग्रामादीनां च वेश्मनाम् ॥११६॥

चार तल का गोपुर—उस लम्बाई एवं चौड़ाई में से दो भाग छोड़ दिया जाय, दो महावारों से युक्त हो तथा कूट एवं कोष्ठ पहले के समान हो (तो वह चतुस्तल गोपुर होता है), यह ललित, कल्याण एवं कोमल—तीन प्रकार का होता है। ये चतुस्तल संज्ञक गोपुर ग्रामों एवं राजभवनों के लिये उपयुक्त होते हैं।।११५-११६।।

❋ सामान्यविधिः ❋

त्रिद्व्येकालीन्द्रयुक्तं वा सप्तभौमादिषु त्रिषु।
शेषं कुड्ये प्रयोक्तव्यं त्रित्रिकैरपि कारयेत् ॥११७॥

यथाबलं यथाशोभं तथा मण्डनमण्डितम् ।
स्तम्भायामं विशालं च प्रस्तरं पूर्ववद् भवेत् ॥११८॥

सामान्य नियम—सप्ततल आदि तीन गोपुरों में तीन अलिन्द्र, दो एवं एक अलिन्द्र होते हैं। शेष में भित्ति का प्रयोग करना चाहिये। इस प्रकार प्रत्येक के तीन भेद होते हैं एवं उनका अलंकरण इस प्रकार करना चाहिये, जिससे कि वे सुन्दर एवं दृढ़ रहें। स्तम्भ एवं प्रस्तर की चौड़ाई एवं लम्बाई पूर्ववर्णित रीति से रखनी चाहिये।

ऊर्ध्वभूमेरधोभूमेरवधिः प्रतिरिष्यते ।
प्रवेशदक्षिणे गर्भमारूढे भित्तिके भवेत् ॥११९॥

ऊपरी तल एवं निचले तल के मध्य के स्थान (या संरचना) को 'प्रति' कहते हैं। गर्भन्यास प्रवेशद्वार के दाहिनी ओर भित्ति के नीचे होना चाहिये।।११९।।

एकादिसप्तान्ततलानि युक्त्या त्रिसप्तभेदानि हि तानि नाम्ना ।
प्रोक्तानि विप्रादिचतुष्टयानां मयेन वेशायतनानि वासे ॥१२०॥

आद्यत्रयं सकलवर्णहितं तदेवै-
श्वर्योपयुक्तमनुजेषु विधीयते हि ।
ग्रामाग्रहारपुरपत्तनके द्वितीयं
सर्वं नृपेशभवने विहितं सुराणाम् ॥१२१॥

इति मयमते वस्तुशास्त्रे द्वारविधानं
नाम त्रिंशोऽध्यायः

ब्राह्मण आदि चारो वर्णों के निवास के लिये मय ने एक से लेकर सात तल तक गोपुरों का वर्णन किया है, जिनके इक्कीस भेद बनते हैं। इनमें से ब्राह्मण आदि को उपयुक्त गोपुर का चयन करना चाहिये। प्रारम्भिक तीन भेद सभी वर्णों के अनुकूल होते हैं; विशेष रूप से उन लोगों के लिये, जो मनुष्यों में समृद्धिशाली हैं। दूसरे ग्राम, अग्रहार, पुर, पत्तन के लिये एवं सभी राजभवन एवं देवालयों के लिये प्रशस्त होते है।।१२०-१२१।।

व्याख्यात्मक टिप्पणी

द्वारमान (श्लोक २-१०)

द्वारमान पर विभिन्न ग्रन्थों में प्रकाश डाला गया है—

१. बृहत्संहिता में चारो वर्णों के गृहों के द्वारों का विस्तार तथा आयाम इस प्रकार वर्णित है—

विप्रादीनां व्यासात् पञ्चांशोऽष्टादशाङ्गुलसमेतः।
साष्टांशो विष्कम्भो द्वारस्य त्रिगुण उच्छ्रायः।। (५३.२५)

२. मत्स्यपुराण (२७०.२१-२४) में मान की दृष्टि से दस प्रकार के द्वारों का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

त्रिपञ्चसप्तनवभिः शाखाभिर्द्वारमिष्यते।
कनिष्ठमध्यमं ज्येष्ठं यथायोगं प्रकल्पयेत्।।

अङ्गुलानां शतं सार्धं चत्वारिंशत्तथोन्नतम्।
त्रिंशद्विंशोत्तरं चान्यद् वान्यमुत्तममेव च।।

शतं चाशीतिसहितं वातनिर्गमने भवेत्।
अधिकं दशभिस्तद्वत्तथा षोडशभिः शतम्।।

शतमानं तृतीयं च नवत्याशीतिभिस्तथा।
दश द्वाराणि चैतानि क्रमेणोक्तानि सर्वदा।।

इसी मत की पुष्टि राजवल्लभमण्डन (५.२९) में भी प्राप्त होती है।

३. राजवल्लभमण्डन में उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ द्वार का प्रमाण इस प्रकार वर्णित है—

षष्ट्या वाऽथ शतार्धसप्ततियुतैर्व्यासस्य हस्ताङ्गुलै-
र्द्वारस्योदयको भवेच्च भवने मध्यः कनिष्ठोत्तमौ।
दैर्घ्यार्द्धेन च विस्तरः शशिकलाभागोऽधिकः शस्यते
दैर्घ्यं त्र्यंशविहीनमर्धरहितं मध्यं कनिष्ठं क्रमात्।। (५.१३)

द्वार का योगमान (श्लोक ११-१२)

द्वार के योगमान पर शिल्परत्न (पूर्वभाग) में इस प्रकार विचार प्राप्त होता है—

कुर्यात् सर्वसुरेषु शैलवसुनन्दाशांशितेऽघ्र्युछ्रये
द्वारोत्सेधमिहैकभागरहितं विस्तीर्णमात्मार्धतः।
योगौ स्तम्भसमाधिपालदलविस्तीर्णौ स्फुरद्राजनौ
विस्तारार्धघनौ भुवङ्गमपतङ्गाढ्यौ च मूलाग्रयोः।।

द्वारोत्सेधनियुक्तशेषचरणोत्सेधे शरांशीकृते
द्व्यंशेनाधरपट्टिकां मितघनां सार्धेन वाङ्कांशिते।
हीनं वाजनकेन योगविततां शिष्टांशतः पट्टिकाम्
ऊर्ध्वस्थामथ मङ्गलाढ्यफलकां युक्त्योर्ध्वपट्ट्यूर्ध्वतः।। (२२.३,२५)

गुल्फ (श्लोक १५-१७)

गुल्फ (भुवंगम, आधारपट्टिका) के विषय में शिल्परत्न (पूर्व.) में इस प्रकार कहा गया है—

द्वारोच्चे शेषपादोच्चे द्वादशांशविभाजिते।
शिरोन्मानं तु सप्तांशं पञ्चांशं गुल्फमिष्यते।। (२२.२६)

कपाटफलक के अलंकरण (श्लोक २६-२७)

कपाट-फलक के अलंकरणों का वर्णन तन्त्रसमुच्चय (२.३२), शिल्परत्न (पूर्व-२२.९५), मनुष्यालयचन्द्रिका (७.१५), ईशानशिवगुरुदेवपद्धति (क्रिया-३१) में भी प्राप्त होता है।

स्वतः सञ्चालित द्वार (श्लोक ३७)

द्वार के स्वयं खुलने एवं बन्द होने का प्रभाव बृहत्संहिता में इस प्रकार वर्णित है—

उन्मादः स्वयमुद्घाटितेऽथ पिहिते स्वयं कुलविनाशः।। (५३.७९)

द्वारवेध (श्लोक ३८-३९)

बृहत्संहिता (५३) में द्वारवेध का वर्णन प्राप्त होता है—

मार्गतरुकोणकूपस्तम्भभ्रमविद्धमशुभदं द्वारम्।
उच्छ्रायाद् द्विगुणमितां त्यक्त्वा भूमिं न दोषाय।।

रथ्याविद्धं द्वारं नाशाय कुमारदोषदं तरुणा।
पङ्कद्वारे शोको व्ययोऽम्बुनिःस्राविणी प्रोक्तः।।

कूपेनापस्मारो भवति विनाशश्च देवताविद्धे।
स्तम्भेन स्त्रीदोषाः कुलनाशो ब्रह्मणोऽभिमुखे।।
(५३.७६-७८)

द्वारस्थान (श्लोक ४४)

गृहरत्नविभूषण में भी इसी मत की पुष्टि की गई है—

पूर्वे जयेन्द्रयोरंशे याम्ये ज्ञेयं गृहक्षते।
गन्धर्वांशेऽपि सुशुभं पुष्पदन्तजलेशयोः।।

अंशे पश्चिमदिग् यद्वा सौम्ये भल्लाटसोमयोः।
अन्यांशे न शुभं ज्ञेयं क्वचिच्च वितथे शुभम्।।
(११४,११५)

गोपुर-प्रमाण (श्लोक ५५-६०)

गोपुरों के प्रमाण एवं भेद पर विश्वकर्मवास्तुशास्त्र (२८ अ.) तथा शिल्परत्न (पूर्व ४१ अ.) एवं अन्य वास्तुग्रन्थों में विस्तार से चर्चा की गई है।

अथैकत्रिंशोऽध्यायः

(यानाधिकारः)

❋ यानशयनभेदाः ❋

अथ वक्ष्ये यानानां शयनानां लक्षणं क्रमशः ।
शिबिका च रथं यानं पर्यङ्कादीनि शयनानि ॥१॥

अथ शयने तज्जातान्यपि पीठाद्यासनानि ततः ।

यान एवं शयन के भेद—अब मैं (मय) यानों (वाहनों) एवं शयनों के लक्षण को क्रमशः कहता हूँ। शिबिका (पालकी) एवं रथ यान हैं तथा पर्यङ्क (पलंग) आदि शयन हैं। शयन के अन्तर्गत उन्हीं से उत्पन्न (उन्हीं की शैली में निर्मित) पीठ आदि आसन आते हैं।।१।।

❋ शिबिकाभेदाः ❋

पीठेति च शिखरेति मौण्डीति मया त्रिधा मता शिबिका ॥२॥

व्यासायामसमस्ता भेदाः सत्र्यंशशिखरिभित्तिवशात् ।
व्यासायामोत्सेधान्यधुना वक्ष्ये पृथक् पृथक् तासाम् ॥३॥

शिबिका के भेद—मेरे (मय के) अनुसार पीठा, शिखरा और मौण्डी—ये तीन प्रकार की शिबिकायें होती हैं। इनकी लम्बाई एवं चौड़ाई समान होती है। इनमें भेद भित्ति (पार्श्व का किनारा), शिखर (छाजन) या अपने तीन स्तर के निर्माण के कारण होता है। अब मैं (मय) उनकी चौड़ाई, लम्बाई एवं ऊँचाई का अलग-अलग वर्णन करता हूँ।।२-३।।

❋ पीठा ❋

व्यासं त्रिवितस्तिः स्यादायामं पञ्चकैर्वितस्तिः स्यात् ।
अधमं त्रिवितस्तिः स्यान्मध्यं तस्मादङ्गुलाधिक्यम् ॥४॥

तस्मात् त्र्यङ्गुलमधिकमुत्तममेतत्तु कथ्यते मुनिभिः ।
विपुलाध्यर्धायामं स्वस्वव्यासं च कर्णमात्रं वा ॥५॥

पीठा—इसका विस्तार तीन बित्ता एवं लम्बाई पाँच बित्ता होनी चाहिये। अधम

(छोटा) पीठा का माप तीन बित्ता एवं मध्यम का माप उससे एक अंगुल अधिक होता है। उत्तम (सबसे बड़ा) उससे तीन अंगुल अधिक होता है—ऐसा मुनियों द्वारा कहा गया है। इसकी लम्बाई चौड़ाई से डेढ़ गुनी या दुगुनी होती है।।४-५।।

व्यासार्धं भित्त्युच्चं श्रेष्ठं तस्मात् त्र्यङ्गुलक्षयतः।
मध्यममधमं तस्मात् त्र्यङ्गुलहीनं त्रिधोत्तुङ्गम्।।६।।

व्यासायामोच्चवशात् त्रिविधोक्ता पैण्डिका शिबिका।
सैकत्रिंशतिमात्रैः सप्तत्रिंशत् सपञ्चकं त्रिंशत्।।७।।

मात्रैरथवा विपुलं दैर्घ्योच्चं पूर्वमेव तत्कार्यम्।

श्रेष्ठ (सबसे बड़े) पीठा की भित्ति की ऊँचाई चौड़ाई की आधी होती है। मध्यम पीठा की ऊँचाई उससे तीन अंगुल कम एवं अधम पीठा की ऊँचाई उससे (मध्यम से) तीन अंगुल कम होती है। इस प्रकार पीठा की ऊँचाई तीन प्रकार की होती है। चौड़ाई, लम्बाई एवं ऊँचाई के अनुसार पौण्डिका संज्ञक शिबिका तीन प्रकार की कही गई है। इनकी चौड़ाई इकतीस, पैंतीस एव सैंतीस अंगुल कही गई है। इनकी लम्बाई एवं ऊँचाई पूर्ववर्णित रीति से करनी चाहिये।।६-७।।

उत्कृष्टमध्यमाधमविपुलं पञ्चार्धयुगलमिति मात्रैः।।८।।

निजविपुलार्धोत्सेधं कर्तव्यं सम्यगीषिकायामम्।
पञ्चचतुस्त्र्यङ्गुलिभिर्विपुलं सार्धं तु तत्तीव्रम्।।९।।
सक्षुद्रपट्टिकाथ वाजननिम्नाब्जकं प्रयुतम्।

उत्तम, मध्यम एवं अधम प्रकार के ईषिका (चौखट, फ्रेम) की चौड़ाई पाँच, उसके आधी या दो अंगुल होनी चाहिये। उसकी ऊँचाई चौड़ाई की आधी एवं लम्बाई उचित (आवश्यकतानुसार) होनी चाहिये। (अथवा) इसकी चौड़ाई पाँच, चार या तीन अंगुल एवं मोटाई डेढ़ अंगुल होनी चाहिये। यह क्षुद्रपट्टिका, वाजन, निम्न एवं अब्जक (सभी अलंकरणों) से युक्त होती है।।८-९।।

द्व्यर्धं द्विमात्रसार्धैकाङ्गुलविपुलं च हस्तं स्यात्।।१०।।

व्यासं त्रिपादमर्धं तयोस्तु मध्यं च तत्तुङ्गम्।
गोलार्धाकृतिकं वा छत्राभं वाऽथ वेत्रभेदनिभम्।।११।।

हस्त (काष्ठनिर्मित पार्श्वभित्ति का ऊपरी भाग) की चौड़ाई ढ़ाई, दो या डेढ़ अंगुल चौड़ी तथा मोटाई तीन चौथाई या चौड़ाई की आधा होती है। इसकी आकृति आधी गोलाई लिये, छत्र के समान या वेत्र (वेंत) के समान होती है।।१०-११।।

हस्तेषिकयोर्मध्ये षड्भागैः कम्पकानि चत्वारि ।
सार्धद्व्यङ्गुलविपुलं द्व्यङ्गुलमध्यार्धमात्रविस्तारम् ॥१२॥

अर्धं त्रिपादाङ्गुलकमुत्सेधं ह्येव कम्पकानां तु ।
अधरोर्ध्वे चैकांशाङ्गुलिकं फलकाभिरपि युक्तम् ॥१३॥

मध्यमकम्पं त्यक्त्वा युक्तिवशान्मध्यभित्तिमाने तु ।
मध्ये द्व्यंशे फलका नरनारीचक्रवाकशोभयुतम् ॥१४॥

वल्लीचतुष्पदाद्यैः संयुक्ता नाटकादिकैरपि च ।
हस्ताधिकयोर्मध्ये व्यालस्थानं विधीयतेऽग्रे तु ॥१५॥

स्वव्यासकर्णमात्रमुदितं निर्गमनमुष्टिबन्धं स्यात् ।
तदधो वाङ्घ्रियुतं तदधोभागेन तुङ्गमेव स्यात् ॥१६॥

तत्समनिर्गमयुक्तं स्वव्यासार्धं तु कम्पकं पुरतः ।
नक्रमुखेन तु युक्तं लोहेनैवाथवेभदन्तेन ॥१७॥

भक्त्या विपुला दैर्घ्यशरसप्तकनन्दकाख्यदशरुद्राः ।
कम्पव्यासघनाभ्यां स्तम्भव्यासं तु बाहल्यम् ॥१८॥

हस्त एवं ईषिका के मध्य छः भाग करना चाहिये एवं वहाँ चार कम्पक (रचना-विशेष) निर्मित करना चाहिये। इनका विस्तार ढ़ाई, दो या डेढ़ अंगुल होना चाहिये। कम्पकों के ऊपर एवं नीचे एक अंगुल मोटा फलक होता है एवं इनकी ऊँचाई (हस्त एवं ईषिका के मध्य) छठे भाग के बराबर होती है। मध्य कम्प को छोड़कर (फलक की ऊँचाई) आवश्यकतानुसार रखनी चाहिये। मध्य भित्ति पर मध्य भाग के दो भाग में नर, नारी, चक्रवाक, लता, चार पैर वाले पशु, नाटक आदि के दृश्यों से अलंकरण होने चाहिये। हस्त एवं अधिक (सम्भवतः ईषिका) के मध्य में अग्रभाग में व्याल-स्थान होता है। निर्गमन के साथ मुष्टिबन्ध-माप चौड़ाई का दुगुना होता है (इन्हें हस्त एवं ईषिका के मध्य में स्थापित किया जाता है)। उसके नीचे अंघ्रि (स्तम्भ, पाद) होता है, जिसकी ऊँचाई अधोभाग (व्याल के नीचे के भाग) के बराबर होती है। उससे सम्बद्ध निर्गम उसके बराबर माप का या चौड़ाई के आधे माप का होता है एवं कम्पक सामने होता है। ये छोटे स्तम्भ धातुनिर्मित या गजदन्तनिर्मित होते हैं एवं नक्रमुख (मकराकृति) से सुसज्जित होते हैं। स्तम्भ का व्यास पाँच, सात या नौ भाग चौड़ा तथा नौ, दस या ग्यारह भाग लम्बा होता है। इन पादों की चौड़ाई एवं मोटाई कम्प की चौड़ाई एवं मोटाई के अनुरूप होती है।।१२-१८।।

दैर्घ्याधिकाग्रमूले कर्तव्या युक्तिबलवशात्तु शिखा ।
आत्तविशालं ह्रस्वैधितयोर्मूले तदग्रे च ॥१९॥

पञ्च चतुष्टयमात्रं निर्गमनं पद्मचित्रयुतम् ।
तत्कमलाग्रहस्तं च तन्मानं वा समानकर्णं वा ॥२०॥

बड़े काष्ठखण्ड (चौखट, फ्रेम) के अग्र भाग एवं मूल भाग (ऊपरी एवं निचले सिरे) पर दृढ़ एवं आवश्यकतानुसार शिखा (खूँटी जैसी आकृति) निर्मित करनी चाहिये, जिससे कि वह काष्ठ (फ्रेम के दूसरे फलक में) सरलता से स्थापित किया जा सके (दूसरे फलक में शिखा के अनुसार गड्ढा निर्मित होता है, जिसमें शिखा दृढ़ता से स्थापित की जाती है)। इसमें पाँच या चार अंगुल का निर्गम होता है, जिस पर पद्म, पद्म का अग्रहस्त एवं कोने पर उसी के माप का कमल या चौकोर आकृति निर्मित होती है।।१९-२०।।

ह्रस्वैधितोपरिष्टाद् विपुलं कम्पं च वा फलकम् ।
एकांशेन समोच्चं शोभार्थं वा फलार्थं स्यात् ॥२१॥

तत्रैव ह्रस्वपादैर्गुलिकाभिः शोभितं तदुक्त्यापि ।
अथवा मुखतो द्वारं पञ्चैवांशं गुणांशकं वा तु ॥२२॥

त्रिचतुर्मात्रविशालं षट्सप्ताष्टाङ्गुलोत्सेधम् ।
पादं यत्कुम्भं तदवलग्नं हीरकं सुवृत्तं च ॥२३॥

गुल्फायामसुपट्टैर्मतिभिः पट्टैस्तु कीलकं कुर्यात् ।
एवं प्रोक्ता शिबिका पैठिका नाम चित्राङ्गा ॥२४॥

छोटे-छोटे खण्डों के ऊपर विस्तृत कम्प या फलक होना चाहिये, जिसकी ऊँचाई एक भाग के बराबर होनी चाहिये। यह शोभा के लिये या आवश्यकतानुसार होता है। वहीं छोटे-छोटे स्तम्भ एवं गुलिकायें (गोलियाँ) शोभार्थ निर्मित होती हैं। अथवा सामने पाँच या तीन भाग के बराबर द्वार होना चाहिये, जिसका विस्तार तीन या चार अंगुल एवं ऊँचाई सात या आठ अंगुल होनी चाहिये। स्तम्भ कुम्भ, अवलग्न (स्कन्ध) तथा हीरक (आकृतिविशेष) से युक्त और सुन्दर गोल होना चाहिये। बुद्धिमान व्यक्ति को द्वार के गुल्फ को दृढ़तापूर्वक कील से जड़ देना चाहिये। इस प्रकार विभिन्न प्रकार से अलंकृत शिबिका को 'पैठिका' कहा गया है।।२१-२४।।

❁ अन्याः शिबिकाः ❁

स्वव्याससमेन तूत्सेधः स्वव्यासार्धं त्रिभागभित्तिश्च ।
पादसमेता शिखरोपेता सा शेखरीति सम्प्रोक्ता ॥२५॥

मौण्डी मुण्डाकारा शिखराभैरेव भित्तिभिर्युक्ता ।
व्याससमोत्सेधयुता मण्डपमिव मण्डपोदिताभिमता ॥२६॥

शिबिकाओं के अन्य प्रकार—(शेखरी) शिबिका की ऊँचाई उसकी चौड़ाई के बराबर एवं भित्ति चौड़ाई की आधी या तीन भाग के बराबर होती है। स्तम्भों से युक्त एवं शिखर से युक्त शिबिका को 'शेखरी' कहा गया है। 'मौण्डी' शिबिका मुण्ड के आकार की होती है एवं भित्तियाँ 'शेखरी' के समान होती हैं। इसकी चौड़ाई के समान ऊँचाई होती है। यह मण्डप के समान होता है एवं कहा जाता है।।२५-२६।।

पान्मध्यतस्तु मानं तासां सम्यक् प्रयोक्तव्यम् ।
शाकः कालस्तिमिशः पनसो निम्बार्जुनौ मधूकश्च ॥२७॥
याने शयने चैते प्रोक्ता वृक्षाः पुराणैस्तु ॥२७॥
श्रीनतसुखमधिरुह्य यानं श्रीमत्तत्प्रकटनिजात्मा स्यात् ।
तद्यानं तदपि शिबिकालक्षणयुक्तं तत्सम्पदे सहर्ध्या ॥२८॥

इति शिबिकाध्यायविधिः

इन शिबिकाओं का प्रमाण स्तम्भ के मध्य से लिया जाता है। यान एवं शयन के निर्माण के लिये प्राचीन मनीषियों के अनुसार प्रशस्त वृक्ष शाक (सागौन), काल, तिमिश, पनस (कटहल), निम्ब, अर्जुन एवं मधूक (महुआ) के होते हैं। श्रीयुक्त मनुष्य जब यान पर सवार होता है तब उसकी प्रसन्नता अभिव्यक्त होती है। इस प्रकार के लक्षणों से युक्त शिबिका उस व्यक्ति को सफलता एवं समृद्धि प्रदान करती है।।२७-२८।।

शिबिका-निर्माण का अध्याय समाप्त हुआ

❋ रथः ❋

द्विचक्रबाह्ये विस्तारं षट्सप्ताष्टवितस्तियुक् ।
चक्रनाभिद्वयान्ताभिगतमक्षोत्तरस्य तु ॥२९॥
हारबाह्यं च तावत् स्याद् विस्तारार्धाधिकायतम् ।

रथ—रथ का विस्तार दोनों चक्रों के बाहरी भाग से ग्रहण किया जाता है। यह छः, सात या आठ बित्ता होता है। यह माप चक्रों की दोनों नाभियों के अन्तिम भाग से या अक्ष (धुरी) के ऊपर रक्खे उत्तर (पट्टी) की लम्बाई से अथवा रथ के बाह्य भाग की चौड़ाई के अनुसार रक्खी जाती है। इसकी लम्बाई चौड़ाई से डेढ़ गुनी अधिक होती है।।२९।।

चतुस्त्रिद्व्यङ्गुलोत्सेधं बाहल्यं पञ्चभारकम् ॥३०॥
त्रिसप्तनवधा तत्र व्यासोत्सेधाश्च पूर्ववत् ।
आयामानुगतं तिर्यक् तुल्यकम्पं दृढीकृतम् ॥३१॥

रथ में पाँच भार (लम्बी पट्टियाँ) होती हैं, जिनकी मोटाई एवं ऊँचाई चार, तीन या दो अंगुल होती है। अथवा उनकी संख्या तीन, सात या नौ होती है तथा उनका विस्तार एवं ऊँचाई पूर्ववर्णित रक्खा जाता है। उन्हें लम्बाई के अनुसार रक्खा जाता है एवं उपयुक्त तिर्यक् कम्पों से दृढ़ किया जाता है।।३०-३१।।

मध्यभारोपरि तुलामध्यनिर्गमनाग्रतः ।
ललाटात्तु त्रिहस्तादि तदग्रं कुटिलाकृतिः ॥३२॥
मध्यभार इति प्रोक्तं कूर्परो युगभागभाक् ।
भारोपर्यङ्गुलघनफलकाप्रस्तरो भवेत् ॥३३॥

मध्य भार के ऊपर तुला होती है। इसके जोड़ से प्रारम्भ कर कूपर (रथ का दण्ड) होता है। इस कूपर का माप रथ के सामने के भाग से लिया जाता है, जिसका माप तीन हाथ से प्रारम्भ होता है एवं उसका अग्र भाग (छोर) मुड़ा होता है। इस कूपर को मध्यभार कहा जाता है। यह युग (जुआ) को सहारा प्रदान करता है। इसके ऊपर एक अंगुल मोटा फलका प्रस्तर (पट्टी) होता है।।३२-३३।।

अक्षमक्षोत्तरं चक्रपट्टं भारोपधानकम् ।
उत्सेधं पञ्चषट्सप्तबाहल्यं द्वित्रिमात्रकम् ॥३४॥
अष्टादशाङ्गुलं दैर्घ्यं पार्श्वे भारोपधानकम् ।
पोतिकाकारसंयुक्तमयःपट्टैर्दृढीकृतम् ॥३५॥

अक्ष, अक्षोत्तर, चक्रपट्ट एवं भारोपधानक (का वर्णन किया जा रहा है)। भारोपधानक (लम्बी पट्टी का सहारा) की ऊँचाई पाँच, छः या सात अंगुल; मोटाई दो या तीन अंगुल एवं लम्बाई अट्ठारह अंगुल होती है। ये पार्श्व में लगे होते हैं। इनकी आकृति पोतिका के समान होती है एवं लोहे की पट्टी से ये दृढ़तापूर्वक जड़ी होती हैं।।३४-३५।।

अक्षोर्ध्वोत्तरबाहल्यतुल्यच्छिद्रात्ममध्यमम् ।
तदधस्त्वक्षरक्षार्थं पार्श्वयोर्बन्धनं भवेत् ॥३६॥
उपधानविधानं तु तुल्यव्यासार्धतीव्रकम् ।
अक्षस्यावधि दैर्घ्यं स्याद् दारु चेच्चतुरस्रकम् ॥३७॥

अय:पट्टैश्च कीलैश्च स्वशिखाभिर्दृढीकृतम् ।
अक्षान्तेऽक्षोत्तरं बन्धं दारुकीलैः प्रयोजयेत् ॥३८॥

अक्ष के ऊपर उत्तर (क्रास बीम) के मध्य में एक छिद्र होता है, जिसकी चौड़ाई एवं गहराई बराबर होती है। इसे अक्ष की रक्षा के लिये निचले भाग में दोनों पार्श्वों से दृढ़तापूर्वक कसा जाता है। इसकी मोटाई चौड़ाई की आधी होती है, जो कि उपधान के बराबर होती है। इसकी लम्बाई अक्ष के बराबर होती है। यदि यह (उत्तर) काष्ठनिर्मित हो तो चौकोर होता है एवं लोहे की पट्टी, कील एवं उसी काष्ठ की शिखा (नुकीली लकड़ी) द्वारा दृढ़ किया जाता है। अक्ष के ऊपरी भाग में उत्तर को काष्ठ के कील से दृढतापूर्वक कसा जाता है।।३६-३८।।

अक्षोत्तरसमं चक्रं विस्तारं परिकीर्तितम् ।
नाभिर्दशाङ्गुलोत्सेधा वितस्त्यायामविस्तृता ॥३९॥
तत्पट्टनाभिमध्ये तु द्वात्रिंशद्वा त्रिरष्टकम् ।
अष्टाष्टकं तु वा तत्र युक्त्या संख्यासमन्वितम् ॥४०॥
अरारकर्णमूलाग्रं त्र्यङ्गुलं सार्धमात्रकम् ।
मूले क्षीणं यवाकारं मूलेऽग्रे शिखयान्वितम् ॥४१॥
रोहारोहघने चैव अक्षान्तरं तथाम्बकम् ।

चक्र का विस्तार अक्ष के उत्तर के बराबर कहा गया है। नाभि की ऊँचाई (घेरा) दस अंगुल एवं लम्बाई-चौड़ाई एक वितस्ति (बित्ता) होनी चाहिये। पट्ट एवं नाभि के बीच में बत्तीस, चौबीस या सोलह अथवा आवश्यकता के अनुसार संख्या में अरें (तिलियाँ) होती हैं। ये छोर पर तीन अंगुल चौड़ी होती हैं अथवा मूल भाग में सँकरी डेढ़ अंगुल माप की होती हैं। ये यव के आकार की एवं मूल तथा अग्र भाग (दोनों छोर) पर शिखा (नोक) से युक्त होती हैं। जब पहिया रोहारोह (ऊपर-नीचे) होता है, उस समय अक्ष का मध्य भाग आँख के सदृश प्रतीत होता है।।३९-४१।।

भारस्योदयं पट्टैश्च कीलकैः पट्टबन्धकैः ॥४२॥
योग्यं च द्व्यंशपादांशैरयःपट्टैश्च बन्धयेत् ।
तत्स्थाने चोपपीठे च गुह्यं युक्तिवशान्नयेत् ॥४३॥

भार (लम्बी पट्टी) को लोहे के पट्ट, कील एवं पट्टबन्ध आदि से जो जहाँ उचित हो, कसना चाहिये। लोहपट्ट की लम्बाई उसकी चौड़ाई से दुगुनी होनी चाहिये। उपपीठ एवं गोपनीय भाग को यथास्थान स्थापित करना चाहिये।।४२-४३।।

सार्धबन्धकरं पादोत्सेधं चक्रार्धमिष्यते।
पादोत्सेधद्विभागैकं भागं स्याच्चूलिकोच्छ्रयम् ॥४४॥

अग्रे पार्श्वे तले वा तु गुलिका पट्टिकान्तरे।
पृष्ठे पञ्चाङ्गुलोत्सेधं मुखपट्टिकयावृतम् ॥४५॥

अन्तरे कर्णपादस्य मुकुलाग्रोत्तरान्तिका।

स्तम्भों की ऊँचाई चक्र के आधे भाग के बराबर होती है। यह आधे भाग में हस्त (हत्था, रेलिंग) को सहारा देता है। चूलिका (ऊर्ध्वभाग की संरचना) की ऊँचाई स्तम्भ की ऊँचाई की आधी होती है। पट्टिकाओं के मध्य भाग में आगे, दोनों पार्श्वों में एवं तलभाग में गुलिकायें (गोली आकृतियाँ) होती हैं। पृष्ठ भाग पाँच अंगुल ऊँची मुखपट्टिका से घिरा होता है। कोने के स्तम्भों के मध्य भाग में उत्तर पर मुकुल (कमल-कलिका) अंकित होते हैं।।४५-४५।।

भारो भारोपधानं च अक्षमक्षोत्तरं तथा ॥४६॥

कूबरः कूबरस्याग्रो द्वयपट्टैश्च कीलकैः।
तत्तद्योगैश्च तत्स्थाने बन्धनाच्च भवेदपि ॥४७॥

अक्षमक्षोत्तरं मध्ये दारुकीलं प्रयोजयेत्।

भार, भारोपधान, अक्ष, अक्षोत्तर, कूबर (कूपर) एवं कूबर के छोर को लोहपट्टों एवं कीलों से इस प्रकार जोड़ना चाहिये, जिससे कि वे सही स्थान पर ठीक से जुड़ें। अक्ष एवं अक्षोत्तर के मध्य में लकड़ी की कील का प्रयोग करना चाहिये।।४६-४७।।

सर्वराजाधिपत्ये च राजयुद्धे महोत्सवे ॥४८॥

मङ्गले देवपूजायां सोमयागे तथैव च।
इत्येवं कर्मणादिष्टं रथारोहणमिष्यते ॥४९॥

रथ पर आरोहण सर्वराज पर अधिकार प्राप्त करने के समय (साम्राज्य का अधिपति बनने के समय), राज-युद्ध के समय, महोत्सव के समय, मंगलवेला में, देवपूजा तथा सोमयाग के समय तथा जिन कार्यों में कहा गया हो, उस समय करना चाहिये।।४८-४९।।

वासद्वित्रिगुणायामं चक्रं तारसमन्वितम्।
सप्ततालं तु वा दैर्घ्यं त्रिचतुर्मात्रविस्तृतम् ॥५०॥

स्वस्वपादवशात् तत्र पूर्ववच्चोत्तरादिकम्।
हारोपर्यन्तरोपेतं ह्रस्वपादान्तरान्वितम् ॥५१॥

चतुष्षष्टिकसंख्याभिः स्तम्भयुक्तसमन्वितम् ।
षट्सार्धपञ्चपञ्चैव तालेन चरणोदयम् ॥५२॥
एकद्वित्रितलोपेतमेकं वाऽथ चतुर्मुखम् ।
मण्डपाकारसंयुक्तं शालाकारशिरःक्रियम् ॥५३॥

चक्र का माप (परिधि) वास (गर्भगृह, रथ में बैठने का स्थान) की चौड़ाई का दुगुना या तीन गुना होता है। अथवा इसका माप सात ताल एवं विस्तार तीन या चार अंगुल होना चाहिये। (रथ के) स्तम्भ के माप के अनुसार उत्तर आदि का निर्माण पूर्ववर्णित विधि से करना चाहिये। हार (फ्रेम, चौखट) के ऊपर अन्तराल में चौंसठ छोटे स्तम्भ होते हैं और स्तम्भ से युक्त होते हैं। स्तम्भों का उदय छः, साढ़े पाँच या पाँच ताल का होता है। यह एक, दो या तीन तलों से युक्त एवं एक या चार मुख (प्रवेश) से युक्त होता है। इसका आकार मण्डप के समान एवं शिरोभाग शाला के समान (सीधा) होता है।।५०-५३।।

त्रिचतुष्पञ्चषट्सप्तहस्तं चक्रान्तमिष्यते ।
चक्रोत्सेधं चतुष्पञ्चषट्सप्ताष्टेष्टतीव्रकम् ॥५४॥
अक्षमक्षोत्तरं चैव भारोपधानकं यथा ।
इष्टेष्टविपुलोत्तुङ्गैर्दारुकीलैर्दृढीकृतम् ॥५५॥
एकद्वित्रितलोपेतं प्रासादवदलङ्कृतम् ।

(अथवा) चक्र का माप तीन, चार, पाँच, छः या सात हाथ एवं मोटाई उसका चार, पाँच, छः, सात या आठवाँ भाग होता है। अक्ष (धुरी), अक्षोत्तर (धुरी की पट्टी) तथा भारोपधान (लम्बी सहारा देने वाली बीम) की चौड़ाई एवं मोटाई आवश्यकतानुसार होनी चाहिये एवं काष्ठकीलों से दृढ़ किया जाना चाहिये। यह एक, दो या तीन तल से युक्त एवं प्रासाद (देवालय) के समान अलंकृत होना चाहिये।।५४-५५।।

षोडशस्तम्भसंयुक्तं दिग्दिक्षु मुखभद्रकम् ॥५६॥
सर्वालङ्कारसंयुक्तं रङ्गं तद्योजयेद् दृढम् ।
तथैव शिल्पिमानीय योजनीयं विचक्षणैः ॥५७॥

(अथवा) सोलह स्तम्भों से युक्त, सभी दिशाओं में मुखभद्र से युक्त, सभी प्रकार के अलंकरणों से युक्त रंग (रङ्गमञ्च की आकृति) को रथ में दृढ़तापूर्वक जोड़ना चाहिये। इस प्रकार विद्वानों के अनुसार शिल्प-विशेषज्ञ की इच्छानुसार रथ में (आकृति आदि का) संयोजन करना चाहिये।।५६-५७।।

पादुकं मिथुनांशकपद्मकं लेखिते चरणांशकमूर्तिकम्।
तुर्यकादिकृतपट्टिककल्पितं पञ्चबोधिरसकुड्मलमेव च ॥५८॥

लेखित (चित्रण) में पादुक (प्लिन्थ), (दूसरा) जोड़े सहित पद्म, (तीसरा) मूर्तियों सहित स्तम्भ, (चौथा) तुर्यक आदि से युक्त पट्टी, पाँचवाँ बोधि एवं छठवा कमलकलिका होती है।।५८।।

द्वित्रिपादकरनन्दवर्गकैर्विप्रभागमिति गण्यमिष्यते ॥५९॥

पद्मं तु पट्टीसहकर्णप्रस्तरं व्यालं तु नक्रक्रममेव शोभितम्।
कर्णांशपद्मं जगति प्रतिष्ठां नराप्रवेशं कुमुदं तु भागम् ॥६०॥

दो, तीन, चार, एक एवं नौ वर्गों से विप्रभाग की गणना की जाती है। पद्म, सहकर्ण के साथ पट्टी एवं व्याल तथा नक्र से सुशोभित प्रस्तर का निर्माण होना चाहिये। दो भाग से पद्म, जगती, प्रवेश का आधार एवं कुमुद एक-एक भाग से निर्मित होना चाहिये।।५९-६०।।

वस्वंशकर्णं गुणभागपट्टी शिवांशवेदी सकलं धरातलम्।
शरण्यपद्मं च तु कर्णवेदिका कर्णेन वेदी गलपक्षमंशम्।
प्रस्तरांशमुनिदेवसानकं नाट्यताल उपधानकल्पितम् ॥६१॥

इति मयमते वस्तुशास्त्रे यानाधिकारो नामैकत्रिंशोऽध्यायः

यदि सोलह भाग हों तो तीन भाग से पट्टी, एक भाग से वेदी, एक भाग से धरातल (आधार), पाँच भाग से पद्म, दो भाग से वेदिका, एक भाग से वेदी, एक भाग से गल, एक भाग से प्रस्तर एवं (शेष से) मुनि, देव, नाट्य दृश्य एवं उपधान आदि निर्मित होने चाहिये।।६१।।

व्याख्यात्मक टिप्पणी

शिविका (श्लोक २-३)

शिविका का वर्णन ईशानशिवगुरुदेवपद्धति (क्रिया. ४८) तथा कामिकागम (२.७८) में प्राप्त होता है। शिबिका के विषय में विश्वकर्मवास्तुशास्त्र (८४) में इस प्रकार कहा गया है—

कल्पनीयो देवयोग्यो मस्तकान्तासनान्वितः।
शिबिकां मानवैर्धार्यां पेटिकाकारसंयुताम्।। (८४.१८)

शिविका-भेद (श्लोक ८-१०)

इस श्लोक-वर्णन की तुलना ईशान. (क्रिया ४८.४९) के वर्णन से की जा सकती है—

कम्पपङ्कजनिम्नानि कुमुदं निम्नमेव च।
स्यात् क्षुद्रपट्टिका चेत्यमीषिकालंकृतिर्भवेत्।।

शिविका-काष्ठ (श्लोक २७)

इन काष्ठों का उल्लेख कामिका. (२.७८.१३३) में इस प्रकार प्राप्त होता है—

शाकस्कालश्च तिमिशः पनसो निम्बकार्जुनौ।
मधूकः खदिरो येऽन्ये सारवृक्षाः समीरिताः।।

रथ (श्लोक २९-३०)

रथ के विषय में कामिकागम (२.७८) मानसार (४३), ईशानशिवगुरुदेवपद्धति (क्रिया. ४८) आदि ग्रन्थों में विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। महाविश्वकर्मा में (ब्रूनो डेगेन्स का अनुवाद, पृ. ७२३ फुटनोट २२ में उद्धृत) इसका मान इस प्रकार वर्णित है—

एवं मानमिदं प्रोक्तं चक्रनाभिगतं तु वा।
भारबाह्यगतं वापि भारमध्यगतं तु वा।।

अभ्यन्तरगतं वापि विस्तरं तु प्रकल्पयेत्।
विस्तारात् पादमाधिक्यमर्धाधिक्यमथापि वा।।

त्रिपादं द्विगुणं चैव आयामं तु प्रकल्पयेत्।
विस्तारसममुत्सेधं भारोर्ध्वे वासनान्तकम्।।

रथभेद (श्लोक ४८-४९)

ईशान. (१८.८.९) में तीन प्रकार के रथों की चर्चा की गई है—

देवद्विजनरेन्द्राणां त्रिविधं रथमुच्यते।
देवानामुत्सवार्थं च द्विजानां यज्ञकर्मसु।।
राज्ञां युद्धार्थमेव स्यात्कल्पयेत् रथमुच्यते।

अथ द्वात्रिंशोऽध्यायः
(शयनासनाधिकारः)

❋ शयनानि ❋

त्रिवितस्तिकृतव्यासं पञ्चवितस्त्यायतं च शयनं स्यात्।
विस्तारायामाभ्यां त्रिःपञ्चममात्रमधिकं ज्येष्ठम् ॥१॥

चतुरङ्गुलेन पञ्चाङ्गुल्यैर्वा व्यासयुक्तमिषिकायाः।
व्यासार्धं बाहल्यं व्यासत्र्यंशेन मध्यपट्टं स्यात् ॥२॥

व्यासत्रिचतुर्भागं बाहल्यं चैषिकायास्तु।

शयन—(सबसे छोटे) शयन की चौड़ाई तीन बित्ता एवं लम्बाई पाँच बित्ता होती है। ज्येष्ठ (उससे बड़े शयन) की चौड़ाई तीन अंगुल एवं लम्बाई पाँच अंगुल अधिक होती है। ईषिका (पट्टी, दण्ड) की चौड़ाई चार अंगुल या पाँच अंगुल होती है। इसकी मोटाई चौड़ाई की आधी होती है। मध्य पट्ट व्यास के तीसरे भाग के बराबर होता है। (अथवा) ईषिका की मोटाई उसकी चौड़ाई के तीसरे या चौथे भाग के बराबर होती है।।१-२।।

पृष्ठललाटेऽधिकयोर्निर्गमनं व्यास एव कर्णे वा ॥३॥

पार्श्वेऽधिकाग्रमूले मध्यशिखा वा यथाबलं कुर्यात्।
एवं निर्गमनं स्यात् पादाधिकयोर्यथाबलं कुर्यात् ॥४॥

(शयन के) शीर्ष भाग एवं पृष्ठ (पैर की ओर दो लम्बी पट्टियाँ) या तो अन्त तक होती हैं या कोने पर समाप्त हो जाती हैं। पार्श्व की पट्टियाँ शीर्ष भाग से पृष्ठ भाग तक लम्बी होती हैं। इनके मध्य भाग में शिखा लगी होती है, जिससे कि ये दृढ़ रहें। बड़ी पट्टियों की लम्बाई इस प्रकार रखनी चाहिये, जिससे कि ये (शयन के) पाये में दृढ़तापूर्वक स्थापित की जा सकें।।३-४।।

श्रेष्ठकपादोद्गमनं सार्धवितस्तिर्वितस्तिरथ हीनम्।
स्वोद्गमचतुरंशो वा त्र्यंशो वा पादमेव विष्कम्भम् ॥५॥

पादशयनेऽभिहिता ऋजुपादव्याघ्रपादमृगपादाः।
ह्रस्वेऽधिकविन्द्धशिखा स्वनामसदृशप्रकाराः स्युः ॥६॥

शयन के पाद (पाये) की लम्बाई डेढ़ या एक बित्ता या उससे कम होनी चाहिये। इनकी चौड़ाई लम्बाई के चतुर्थांश या तीसरे भाग के बराबर होनी चाहिये। शयन के पाद सीधे, व्याघ्र के पैर या मृग के पैर के समान होने चाहिये। बड़े काष्ठखण्ड में लगायी गयी शिखा छोटे काष्ठ में स्थापित होनी चाहिये। शयनों की संज्ञा उनके (पैर, पाद) के आकार के अनुसार होती है।।५-६।।

पर्यङ्कः

फलका पर्यङ्को वा पट्टविचित्राऽपि वाऽधिका कार्या।
शयनविशालव्यासा तुङ्गं वै पादपट्टिकोपेता ॥७॥
तोरणमूर्ध्वोपमिता कुण्डलकीलार्धसार्धबकतुण्डा।
पर्यङ्कशिबिका कार्या विजयीविप्रादिप्रोष्टना किञ्चित् ॥८॥

पर्यङ्क, दीवान—पर्यंक का निर्माण फलक से या विभिन्न प्रकार की पट्टियों से किया जाना चाहिये। पाद एवं पट्टियों से युक्त पर्यंक की लम्बाई, चौड़ाई एवं ऊँचाई शयन के बराबर होनी चाहिये। 'पर्यंकशिबिका' (पर्यंक का प्रकार) के ऊर्ध्व भाग में तोरण होता है, जिस पर कुण्डल, कील एवं बक (बगुले) की चोंच के आकार की कील (आदि अलंकरण) निर्मित होते हैं। यह राजा-रानियों, ब्राह्मणों आदि के लिये प्रशस्त होता है।।७-८।।

पूर्वशिरः पर्यङ्कं दक्षिणमुखमनुवशमपि।
दक्षिणतः शिरसं वा पश्चिममुखमन्यदिङ् नेष्टम् ॥९॥
व्याघ्रमृगपादशयनं द्विजनृपयोः शेषयोस्तु भृशशेषम्।

यदि पर्यंक का सिर पूर्व की ओर हो तो लेटने वाले का मुख दक्षिण की ओर होना चाहिये। दक्षिण की ओर सिर होने पर मुख पश्चिम की ओर होना चाहिये। अन्य दिशायें इष्ट नहीं होती हैं। व्याघ्रपाद शयन एवं मृगपाद शयन ब्राह्मण एवं राजाओं के लिये प्रशस्त होते हैं। शेष अन्य वर्ण के लिये अनुकूल होते हैं।।९।।

आसनानि

नवसप्तपञ्चविंशत्यङ्गुलविस्तारतः समोत्सेधम् ॥१०॥

उत्कृष्टमध्यमाधमासनमृजुपादं शयनवत् कार्यम्।
समचतुरस्रं पीठं ह्यासनमिति सायतं प्रोक्तम् ॥११॥

अष्टांशाधिकदैर्घ्यं द्विगुणायतमेव विशालं तु।
सिंहेभभूतवृषयुग् देवानां विप्रनृपयोस्तु ॥१२॥

सिंहेभयुक्तमेव तत्तन्नाम्नाभिधानं स्यात्।

आसन—सीधे पाद वाले उत्तम, मध्यम एवं छोटे आसन को शयन के समान निर्मित करना चाहिये। इनकी चौड़ाई उन्तीस, सत्ताईस या पच्चीस अंगुल तथा ऊँचाई चौड़ाई के बराबर होती है। समान लम्बाई-चौड़ाई वाले आसन को 'पीठ' और आयताकार को 'आसन' कहते हैं। इसकी लम्बाई-चौड़ाई से आठवाँ भाग अधिक या दुगुनी होती है। देवों, ब्राह्मणों एवं राजाओं के आसन (के पाद का आकार) सिंह, गज, भूत (प्राणी, जीव) या वृष के समान होता है। सिंह एवं गज के समान (पाद से युक्त) आसन की संज्ञा उनकी आकृति के अनुसार होती है।।१०-१२।।

❋ सिंहासनम् ❋

सोत्तरमब्जकपोतमलिङ्गान्तरिताभिरभियुक्तम् ।।१३।।

नानाचित्रविचित्रं द्युसदां राज्ञां च वक्ष्येऽथ।
उपपीठयुक्तमेतद्युक्तेऽर्थे पद्मन्धयुतमे तत्।।१४।।

कर्णे मध्ये मध्ये स्तम्भमृगेन्द्रैर्विचित्रं स्यात्।

सिंहासन—अब (मैं, मय) देवों एवं राजाओं के (सिंहासन का) वर्णन करता हूँ, जो उत्तर, कमल, कपोत, मलिङ्ग आदि से युक्त एवं विभिन्न प्रकार के रंग-बिरंगे अलंकरणों से युक्त होता है। यह उपपीठ एवं पद्मबन्ध से युक्त होता है। यह कोनों एवं बीच-बीच में स्तम्भसिंह से अलंकृत होता है।।१३-१४।।

तदुपरि तोरणयुक्तं सविचिकमथ हेमरत्नाढ्यम्।।१५।।

सिंहासनमिदमुदितं मुनिभिर्यथाबलाङ्गसंयुक्तम्।
एतद्व्यासं चासनफलकमपि द्विगुणदैर्घ्यकं पादम्।।१६।।

पञ्चाङ्गुलान्तमुन्नतमुत्सेधार्थं तु वाजनं चोर्ध्वे।

सिंहासन इसके ऊपर होता है। यह तोरणयुक्त, लहरों (की आकृतियों) से सुसज्जित, सुवर्ण एवं रत्नों से अलंकृत होता है। इसके सभी अंग दृढ़ होते हैं, ऐसा मुनियों ने कहा है। इसके आसन-फलक की चौड़ाई सिंहासन के बराबर एवं लम्बाई चौड़ाई की दुगुनी होती है। उसके पाद (पाये) पाँच अंगुल से अधिक नहीं होने चाहिये। ऊँचाई के लिये ऊपर वाजन होता है।।१५-१६।।

अपरार्धमुत्तरं स्यात्तावद्व्यासं तदन्तरं खातम्।।१७।।

व्यासायामे मध्ये पञ्चांशैकांशमायतं च ततः।
विष्टरमिष्टोत्तरमायतनं चोत्तरमन्यथाशान्तम्।।१८।।

जात्युत्तमायतव्यासासनशयनी यथा तथा चेष्टाः ।
उक्तोत्सेधायामाः स्वस्वांशेनैव वर्धिता हीनाः ॥१९॥

इसके पिछले भाग में अर्ध-उत्तर होता है तथा उसके मध्य भाग में उसकी चौड़ाई के बराबर 'खात' होता है। मध्य भाग में एक विष्टर (कुशन) होता है, जिसकी चौड़ाई पाँच भाग एवं लम्बाई एक भाग (अधिक) होती है। आसन का पिछला भाग उचित माप का होना चाहिये। ऐसा न होने पर आसन प्रशस्त नहीं होता है। आसन एवं शयन की लम्बाई एवं चौड़ाई उत्तम होनी चाहिये एवं इच्छानुसार होनी चाहिये। इसकी लम्बाई-चौड़ाई (आसन के अनुसार) बढ़ाई-घटाई जाती है।।१७-१९।।

✵ पूजापीठम् ✵

आद्यं षडङ्गुलं स्याद् द्व्यङ्गुलवृद्ध्या करान्तमानं च ।
दशधा विस्तृतमुदितं चतुरङ्गुलविपुलमपि वदन्त्येके ॥२०॥

चतुरस्रमायतास्रं वृत्तं विपुलार्धमुत्तुङ्गम् ।
व्यासषडष्टांशं वा हरिचरणयुतं सकम्पवाजनकम् ॥२१॥

पूजापीठ—पूजा-पीठ की चौड़ाई छः अंगुल से प्रारम्भ होकर दो-दो अंगुल बढ़ाते हुये एक हाथ पर्यन्त दस प्रकार की होती है। कुछ विद्वानों के मतानुसार इसकी चौड़ाई चार अंगुल होती है। यह चौकोर, आयताकार या गोल होता है। इसकी ऊँचाई चौड़ाई की आधी, छठे या आठवें भाग के बराबर होती है। यह सिंह पाद, कम्प एवं वाजन से युक्त होता है।।२०-२१।।

तदुपरि पद्मदलं स्यात् कर्णिकयालङ्कृतं यथाशोभम् ।
शोभनमिदमिदमुदितं सर्वं देवेषु पूजितं ह्येव ॥२२॥

नानाचित्रसमेतं सुगृहार्चनपीठमेवमिदमुदितम् ।
न्यग्रोधोदुम्बरवटपिप्पलबिल्वामलसारदारुमयम् ।
ते सर्वे योग्याः स्युः पीठेऽस्मिन् सर्वसिद्धिकरणीये ॥२३॥

उसके ऊपरी भाग में कर्णिका से सुशोभित सुन्दर पद्मपुष्प की पंखुड़ियाँ होती हैं। इसे 'शोभन' कहते हैं; क्योंकि यह सभी देवों से पूजित होता है। विभिन्न चित्रों (वर्णों) से अलंकृत इस पीठ को पूजा-पीठ कहते हैं, जो गृह की पूजा के लिये होता है। इसे न्यग्रोध, उदुम्बर, वट, पिप्पल, बिल्व या आमलक के काष्ठ से निर्मित करते हैं। इन काष्ठों से निर्मित पीठ सभी कार्यों के योग्य होते हैं एवं सिद्धि प्रदान करते हैं।

✵ आयादि ✵

अष्टधनरश्मिरिभतुर्यग्रहवृद्ध्या
भानुदिशि सर्पभसनन्दऋषिहारैः ।

आयव्ययगुह्यमुड्वाय्वंशमितिवारै:
यानशयनविधिरथासनमिदं स्यात् ॥२४॥

इति मयमते वस्तुशास्त्रे शयनाधिकारो
नाम द्वात्रिंशोऽध्याय:

आयादि—आय को आठ से गुणा कर एवं बारह से भाग देकर प्राप्त किया जाता है। व्यय नौ से गुणा कर एवं दस से भाग देकर प्राप्त किया जाता है। गुह्य को तीन से गुणा कर एवं आठ से भाग देकर प्राप्त किया जाता है। उड्व एवं आयु को आठ से गुणा कर एवं सत्ताईस से भाग देकर तथा अंश को चार से गुणा कर एवं नौ से भाग देकर प्राप्त किया जाता है। वार का ज्ञान नौ से गुणा कर एवं सात से भाग देकर प्राप्त होता है। यान, शयन, रथ एवं आसन आदि का निर्माण इस प्रकार होता है।

व्याख्यात्मक टिप्पणी

शयन-प्रमाण (श्लोक १-६)

शयन के माप की चर्चा अन्य वास्तुग्रन्थों में इस प्रकार प्राप्त होती है—

१. कर्माङ्गुलं समुद्दिष्टं वितुषैरष्टभिर्यवै:।
अष्टोत्तरशतं तेषां शय्या ज्येष्ठा महीभुजाम्।।

मध्या महीभुजां शय्या शतं स्याच्चतुरुत्तमम्।
शतं कनीयसी प्रोक्ता नृपाणां विजयावहा।।

नवतिर्नृपपुत्रस्य मन्त्रिण: सा षडुज्झिता।
द्वादशोना बलपतेस्त्रिषट्कोणा पुरोधस:।।

※ ※ ※ ※ ※ ※ ※ ※ ※ ※

विप्राणां शस्यते शय्या दैर्घ्येणाङ्गुलसप्तति:।
द्वाभ्यां द्वाभ्यामङ्गुलाभ्यां हीना स्याच्छेषवर्णिनाम्।।
(समराङ्गण.-२९.९-११,१३)

२. कर्माङ्गुलं यवाष्टकमुदरासक्तं तुषै: परित्यक्तम्।
अङ्गुलशतं नृपाणां महती शय्या जयाय कृता।।

नवति: सैव षड्ना द्वादशहीना त्रिषट्कहीना च।
नृपपुत्रमन्त्रिबलपतिपुरोधसां स्युर्यथासंख्यम्।।

अर्धमतोऽष्टांशोनं विष्कम्भो विश्वकर्मणा प्रोक्तः।
आयामत्र्यंशसमः पादोच्छ्रायः सकुक्षिशिराः।।
(बृहत्संहिता-७९.८-१०)

३. मानसार (अ. ४४) में राजशय्या का मान अत्यन्त विस्तार से प्राप्त होता है।

४. राजवल्लभमण्डन के अनुसार—

शयनमथ नृपाणामङ्गुलानां शतैकं
नवतिरपि सुतानां मन्त्रिणः षड्विहीनः।
बलपतिगुणहस्तं त्र्यङ्गुलोनं गुरोश्च
तदनु युगलहीनं ब्राह्मणादेः प्रशस्तम्।। (८.१)

पर्यङ्कों के काष्ठ (श्लोक ७-१०)

शिल्परत्न (उत्तर-३३.३१-३४) में विविध प्रकार के काष्ठों से निर्मित पर्यङ्कों की चर्चा की गई है।

आसन (श्लोक १०-१२)

शिल्परत्न (उत्तर, ३३.-४-१४) में पूतासन, सुखासन, शय्यासन, लोहासन, मृदुशय्यासन आदि का वर्णन प्राप्त होता है।

समराङ्गणसूत्रधार (अ. २९.३६-३७,४५-४६) में काष्ठनिर्मित एवं गजदन्त निर्मित एवं स्वस्तिक आदि से अलंकृत आसनों की चर्चा की गई है।

सिंहासन (श्लोक १३-१९)

सिंहासन का वर्णन वास्तुग्रन्थों में इस प्रकार प्राप्त होता है—

१. शिल्परत्न (उत्तर) के अनुसार—

ईषत् समुन्नतं राज्ञां पृष्ठाधारासनं स्मृतम्।
रुचिरेण सुवर्णेन निर्मितं रत्नमण्डितम्।।

अष्टाभिः स्फाटिकैः सिंहैः मूर्धभिः सुविधारितम्।
अधः काञ्चनविन्यस्तरत्नवेदित्रयान्वितम्।।

आस्थानमण्डपे राज्ञां सिंहासनमिदं वरम्।
(३३.१३-१५)

२. राजवल्लभमण्डन (८.४-८) में उत्तम, मध्यम एवं कनिष्ठ सिंहासनों का मान, सिंहासन के पीठ, कर्ण, ग्रासपट्टी, गजथर, अश्वथर, नरथर, वेदी, तोरण, कक्षासन आदि के निर्माण का वर्णन मानसहित किया गया है।

३. मानसार (अ. ४५) में राजसिंहासन का वर्णन अत्यन्त विस्तार से प्राप्त होता है।

४. विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में सिंहासन-प्रकल्पन इस प्रकार वर्णित है—

एकहस्तं द्विहस्तं वा त्रिहस्तमथवा क्वचित्।
चतुष्कूटं चतुर्नेत्रं करपीठसमन्वितम्।।

तस्योच्छ्रायप्रमाणन्तु ज्ञेयं शिल्पविचक्षणैः।
तदर्धाधिकमानादि पञ्चहस्तावधिक्रियम्।।

प्रभायाः कल्पनं प्रोक्तं सशिखं मुकुटान्वितम्।
चन्द्रप्रभं वा शिविरं मण्डलं वा प्रभाकलम्।।

क्षुद्रान्धारिकसंयुक्तं बम्बरादिविराजितम्।
कौशेयास्तीर्णफलकं रत्नप्रत्युप्तपट्टिकम्।।

छत्रासनयुतं वापि छत्राकारमथापि वा।
हेमकिङ्किणिकाजालपरिमण्डितवाजनम् ।।
(१६.२७-३१)

पूजापीठ (श्लोक २०-२३)

पूजापीठ का वर्णन इस प्रकार अन्यत्र प्राप्त होता है—

१.पूजापीठं च देवानामाद्यं षण्मात्रविस्तृतम्।
१. द्विद्व्यङ्गुलविवृद्ध्यातः करान्ताद् दशधा यथा।।
(ईशान.-क्रिया.- ४८.९५)

२. शिल्परत्न (उत्तर, ३३ अ.) के अनुसार देवकार्य में पूतासन का प्रयोग करना चाहिये, जिनका निर्माण इस प्रकार वर्णित है—

चम्पकाम्रमधूकैर्वा पनसोदुम्बरादिभिः।
पीठानि कारयेद् विद्वान् सिंहयोन्यन्वितानि वा।।

गजयोन्यन्वितान्येवं ध्वजयोन्यन्वितानि वा।
आयतं चतुरस्रं च समं तुर्यस्रमेव वा।।

वृत्तं वा कच्छपाकारं कारयेत् पीठमुत्तमम्।
चतुष्पादसमायुक्तं पृष्ठाधारयुतं तु वा।।

यथोचितोन्नतोपेतं श्लक्ष्णं दृष्टिमनोहरम्।
फलकामयमेवं स्याद्वेत्रबन्धमथापि वा।।

एतत् पूतासनं देवकार्यादौ विहितं बुधैः। (३३.१-५)

अथ त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

(लिङ्गलक्षणम्)

❋ निष्कलादिलिङ्गभेदानि ❋

निष्कलं सकलं मिश्रं लिङ्गं चेति त्रिधा मतम् ।
निष्कलं लिङ्गमित्युक्तं सकलं बेरमुच्यते ॥१॥
मुखलिङ्गं तयोर्मिश्रं लिङ्गोच्चाकृतिसन्निभम् ।

निष्कल आदि लिङ्ग के भेद—लिङ्ग (देव-प्रतीक) के निष्कल, सकल एवं मिश्र—ये तीन भेद होते हैं। निष्कल (प्रतीक) को लिङ्ग एवं सकल (आकृतियुक्त) को बेर (प्रतिमा) कहते हैं। मुखलिङ्ग इन दोनों का मिश्रित स्वरूप होता है। इसकी ऊँचाई एवं आकृति लिङ्ग के समान होती है।।१।।

बिम्बमूर्तिः शरीराभा विश्वमूर्तिस्वरूपकैः ॥२॥
चिह्नदेहप्रतिच्छन्दप्रतिमाङ्कैस्तु नामभिः ।
दृश्यदेवः समाख्यातो निष्कलं वक्ष्यतेऽधुना ॥३॥

बिम्बमूर्ति (प्रतिमा) (मानव) शरीर के समान तथा विश्वमूर्तिस्वरूप (मूर्ति के सामान्य लक्षण एवं मानक) होती है। यह देवता के चिह्न, शरीर, प्रतिछन्द, प्रतिमा के प्रतीकों तथा नाम से होती है। इस प्रकार दृश्य देव (देवता की प्रतिमा) का वर्णन किया गया। अब निष्कल (प्रतीक, लिङ्गादि) का वर्णन किया जा रहा है।।२-३।।

❋ शिलालक्षणम् ❋

श्वेता रक्ता च पीता च विप्रादीनां हितासिता ।
एकवर्णा घना स्निग्धा शिला भूमिनिमग्नका ॥४॥
व्यासायामवती ग्राह्या यौवनातिमनोरमा ।

ब्राह्मण आदि (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) के लिये अनुकूल शिला (प्रतिमा-निर्माण हेतु क्रमशः) श्वेत, लाल, पीली एवं काली होती है। शिला को एक रंग की, ठोस, स्पर्श में कोमल एवं भूमि के भीतर अच्छी तरह गड़ी होनी चाहिये। इसकी उचित लम्बाई एवं चौड़ाई होनी चाहिये। यह देखने में सुन्दर एवं युवा (बहुत पुरानी न हो) होनी चाहिये।।४।।

वातातपानलालीढा मृद्वी क्षाराम्बुसंश्रिता ॥५॥

दुःस्थानस्थानरूक्षा च या कर्मान्तरयोजिता।
रेखाबिन्दुकलङ्काढ्या वृद्धा वक्रा च या शिला ॥६॥

सशर्करा विवर्णा च सत्रासायतनस्थिता।
निःस्वना सदरीभेदा सगर्भा निन्दिता वरैः ॥७॥

विद्वानों ने इन शिलाओं को गर्हित कहा है—वायु, धूप एवं अग्नि से क्षतिग्रस्त, अत्यधिक मृदु (जल्दी टूटने वाली), खारे जल के सम्पर्क वाली, निन्दनीय स्थान से प्राप्त, रूखी, किसी अन्य कार्य में प्रयुक्त, रेखा, बिन्दु या अन्य चिह्न से युक्त, वृद्धा (अत्यन्त पुरानी), टेढ़ी, शर्करा (कंकड़-बालू आदि से युक्त), जिसका रंग ठीक न हो, त्रास (चिटकी हुई), गृह में प्रयुक्त, (ठोंकने पर) स्वरहीन, टूटी हुई एवं गर्भयुक्त।।५-७।।

एकवर्णा घना स्निग्धा मूलाग्रादार्जवान्विता।
गजघण्टारवा या सा पुंशिलेति प्रकीर्तिता ॥८॥

स्थूलमूला कृशाग्रा या कांस्यतालसमध्वनिः।
स्त्रीशिला कृशमूलाग्रा स्थूला षण्डेति निःस्वना ॥९॥

एक रंग की, घन (ठोस), कोमल, मूल से अग्र भाग तक सीधी, गजघण्टा के समान स्वर वाली शिला को 'पुंशिला' (पुरुषशिला) कहते हैं। मूल भाग में मोटी एवं अग्र भाग में पतली, कांस्यताल के समान स्वर वाली शिला को 'स्त्रीशिला' तथा मूल एवं अग्र भाग में पतली एवं (मध्य भाग में) मोटी शिला को 'षण्डा' (नपुंसक) शिला कहते हैं।।८-९।।

सकलं निष्कलं मिश्रं कुर्यात् पुंशिलया सुधीः।
युञ्जीयात् स्त्रीशिलां सम्यङ् नारीबेरं च पिण्डिकाम् ॥१०॥

षण्डोपलेन कर्तव्ये ब्रह्मकूर्मशिले तथा।
नन्द्यावर्तशिला वाऽपि कर्तव्या तेन वर्त्मना ॥११॥

प्रासादतलकुड्यादि कर्म कुर्याद् विचक्षणः।

विद्वान् व्यक्ति को सकल, निष्कल एवं मिश्र (प्रतिमा) को पुंशिला से निर्मित करना चाहिये। नारी-प्रतिमा एवं पिण्डिका (मूर्ति की पिण्डका, आधार) के निर्माण में स्त्रीशिला का प्रयोग करना चाहिये। षण्डशिला से ब्रह्मशिला या कूर्मशिला का अथवा नन्द्यावर्त शिला का निर्माण करना चाहिये। इसी प्रकार बुद्धिमान मनुष्य को देवालय के तल एवं भित्ति आदि का भी निर्माण करना चाहिये।।१०-११।।

सा शिला त्रिविधा बाला मध्यमा स्थविरेत्यपि ॥१२॥

टङ्कघातादिमृद्वी या मन्दपक्वेष्टकोपमा ।
शिला बाला मता तज्ज्ञैः सर्वकर्मसु निन्दिता ॥१३॥

यह शिला (अवस्था की दृष्टि से) बाला, मध्यमा तथा स्थविरा होती है। बाला शिला कम पकी हुई ईंट के समान मृदु एवं टंक (टाँकी, छेनी) के आघात से टूटने वाली होती है। यह शिला सभी कार्यों के लिये त्याज्य होती है, ऐसा विद्वानों का मत है।।१२-१३।।

स्निग्धा गम्भीरनिर्घोषा सुगन्धा शीतला मृदुः ।
निबिडावयवा तेजःसहिता यौवना शिला ॥१४॥

मध्यमा सर्वयोग्या स्यात् सर्वकर्मार्थसिद्धिदा ।

यौवना (मध्यमा) शिला स्पर्श में कोमल, गम्भीर स्वर वाली, सुगन्धित, शीतल, मृदु, सघन अंगों वाली (ठोस) एवं तेजयुक्त (चमकदार) होती है। यह मध्यमा शिला सभी कार्यों में प्रयोग करने योग्य होती है एवं सभी कार्यों में सिद्धि प्रदान करने वाली होती है।।१४।।

मत्स्यमण्डूकशकला रूक्षा वृद्धा शिलाशिवा ॥१५॥

रेखाबिन्दुकलङ्काढ्या सा त्याज्या सर्वयत्नतः।

वृद्धा (स्थविरा) शिला मछली या मेढक के खाल के समान रूखी होने के कारण अप्रशस्त होती है। यह रेखा, बिन्दु एवं कलंक (दाग-धब्बों) से युक्त होती है। इस शिला का प्रयत्नपूर्वक त्याग करना चाहिये।।१५।।

छेदने तक्षणे यत्र मण्डलं दृश्यते यदि ॥१६॥

सा शिला गर्भिणी विद्वांस्तां प्रयत्नेन वर्जयेत् ।

काटते-छीलते समय यदि शिला में मण्डल दिखाई पड़े तो उसे 'गर्भिणी' शिला कहते हैं। विद्वान् व्यक्ति को उसका प्रयत्नपूर्वक त्याग करना चाहिये।।१६।।

मुखमुद्धरणेऽधोंऽशमूर्ध्वभागं शिरो विदुः ॥१७॥

शिलामूलमवाक् प्रत्यगङ्गाग्रं प्रागुदग्दिशि ।
अग्रमूर्ध्वमधोमूलं पाषाणस्य स्थितस्य तु ॥१८॥

नैर्ऋत्यैशानदेशाग्रा वह्न्यग्रा वह्निवायुगा ।

(भूमि से बाहर निकालते समय) शिला का मुख नीचे की ओर एवं शिर ऊपर

होता है। शिला का मूल भाग दक्षिण दिशा या पश्चिम दिशा एवं अग्र भाग उत्तर या पूर्व की ओर होता है। (भूमि में) जब शिला स्थित (खड़ी) हो तो अग्र भाग ऊपर एवं मूल भाग नीचे होता है। (दक्षिण-पश्चिम एवं उत्तर-पूर्व में लेटी स्थिति में) नैर्ऋत्य कोण में अग्र भाग एवं ईशान में (मूल) तथा (उत्तर-पश्चिम एवं दक्षिण-पूर्व में लेटी स्थिति की शिला का) अग्र भाग आग्नेय कोण में तथा (मूल भाग) वायव्य कोण में होता है।।१७-१८।।

✺ शिलासंग्रहणम् ✺

उत्तरायणमासे तु शुक्लपक्षे शुभोदये ॥१९॥
प्रशस्तपक्षनक्षत्रे मुहूर्ते करणान्विते ।
गच्छेल्लिङ्गं समुद्दिश्य वनं चोपवनं गिरिम् ॥२०॥
अथवा शुद्धदेशं तु भूमग्नोपलसंयुतम् ।
ऐन्द्राशायां तु सौम्यायामैशान्यां वा विशेषतः ॥२१॥

शिला-संग्रह—(सूर्य के) उत्तरायण मास में, शुक्ल पक्ष में, शुभ उदय काल में, शुभ पक्ष, नक्षत्र एवं करण से युक्त मुहूर्त में लिंग-निर्माण (हेतु प्रस्तर लेने के लिये) वन, उपवन, पर्वत अथवा शुद्ध स्थान पर जाना चाहिये, जहाँ भूमि में प्रस्तर प्राप्त होता हो। यह क्षेत्र विशेष रूप से पूर्व, उत्तर या ईशान दिशा में होना चाहिये।

निमित्तः शकुनैर्योग्यैः सह मङ्गलशब्दकैः ।
स्थापकः स्थपतिः कर्ता कृतकौतुकमङ्गलः ॥२२॥
स्थापकः स्थपतिश्चैव सितवस्त्रपरिच्छदौ ।
श्वेतगन्धानुलेपौ तौ सितवस्त्रोत्तरीयकौ ॥२३॥
सितपुष्पशिरोयुक्तौ प्राप्तपञ्चाङ्गभूषणौ ।

स्थापक, स्थपति एवं कर्ता तीनों को मंगल कृत्य करने के पश्चात् शुभ शकुनों एवं मंगलध्वनि के साथ (प्रस्थान करना चाहिये), स्थापक एवं स्थपति श्वेत को वस्त्र धारण कर, श्वेत सुगन्ध एवं लेप धारण कर तथा श्वेत वस्त्र का उत्तरीय (ऊपर ओढ़ने का चादर) ओढ़कर, सिर पर श्वेत पुष्प धारण कर एवं पाँच अंगों में आभूषण धारण कर (शिला प्राप्त करनी चाहिये)।।२२-२३।।

गन्धैः पुष्पैश्च धूपैश्च मांसेन रुधिरेण च ॥२४॥
पायसौदनमत्स्यैश्च भक्ष्यैश्चापि पृथग्विधैः ।
अर्चयेदीप्सितान् वृक्षानुपलान् वनदेवताः ॥२५॥

भूतक्रूरबलिं दत्त्वा कर्मयोग्यां वरेच्छिलाम्।
स्थपतिर्वरवेषाढ्यो मन्त्रयेत् प्राङ्मुखो वरः ॥२६॥

गन्ध, पुष्प, धूप, मांस, रक्त, दूध, भात, मछली एवं विविध प्रकार के भोज्य पदार्थों से अभीष्ट वृक्षों, प्रस्तरों तथा वनदेवता की पूजा करनी चाहिये। भूतों एवं क्रूर देवों को बलि प्रदान कर कार्य के अनुकूल श्रेष्ठ शिला का चयन करना चाहिये। श्रेष्ठ स्थपति उचित वेष धारण कर पूर्वाभिमुख होकर मन्त्र-पाठ करे।।२४-२६।।

अयं मन्त्रः—

ॐ अपक्रामन्तु भूतानि देवताश्च सगुह्यकाः।
युष्मभ्यं तु बलिर्भूयात् क्रूराश्च वनदेवताः ॥२७॥
कर्मैतत् साधयिष्यामि क्रियतां वस्तुपर्ययः।

मन्त्र इस प्रकार है—भूत एवं गुह्यकों के साथ देवगण तथा क्रूर वनदेवता यहाँ से दूर चले जायँ। आप सबको बलि प्राप्त हो। मैं इस कार्य को करूँगा। आप निवासस्थान बदल दें।।२७।।

एवमुक्त्वा नमस्कृत्य शिलाश्छेत्तुं समारभेत्॥२८॥
तत्रैव स्थापको युक्त्या जुहुयात् तदुदग्दिशि।
हेमसूच्यष्ठीलाभ्यां तु शोधयेत् प्रथमं पुनः ॥२९॥
तीक्ष्णशस्त्रेण महताप्यष्ठीलेन प्रहारयेत्।

इस प्रकार कहने के पश्चात् प्रणाम कर शिला-छेदन प्रारम्भ करे। उसी समय स्थापक उसके (शिला के) उत्तर दिशा में नियमपूर्वक हवन करे। तत्पश्चात् सोने की सूई एवं अष्ठील (गोल पत्थर) से पहले शोधन करना चाहिये (अर्थात् शिला पर निशान बनाना चाहिये)। तदनन्तर तीक्ष्ण शस्त्र से तथा बड़े पत्थर से उस पर प्रहार करना चाहिये।।२८-२९।।

इष्टायामविशालाभ्यामधिकं ग्राह्य यत्नतः ॥३०॥
चतुरस्रसमं कृत्वा मुखभागं विचिन्त्य च।

वाञ्छित लम्बाई एवं चौड़ाई से प्रयत्नपूर्वक अधिक शिला (का माप) लेकर उसे चौकोर बनाकर उसके मुखभाग का निर्णय करना चाहिये।।३०।।

शुद्धिं कृत्वार्चयित्वा तु गन्धाद्यैर्विधिपूर्वकम्॥३१॥
लिङ्गं वा पिण्डिकां बेरमौपलं वार्क्ष्मेव वा।
वस्त्रैरावेष्टयित्वा तु रथे संस्थाप्य यत्नतः ॥३२॥

सर्वमङ्गलसंयुक्तमानीयात् कर्ममण्डपे ।
यथोक्तविधिना सम्यक् कुर्यादन्तरितेन च ॥३३॥

इसे शुद्ध कर एवं गन्ध आदि से विधिपूर्वक पूजा करके लिङ्ग, पिण्डका (लिङ्ग का आधार) या मूर्ति के लिये प्रस्तर या काष्ठ को वस्त्र से लपेट कर रथ पर सावधानी से रखकर सभी मङ्गल (कृत्यों एवं पदार्थों) के साथ कर्ममण्डप (जहाँ निर्माण करना हो) में लाना चाहिये। वहाँ छिपे रूप से (सबकी आँखों से बचाकर) वर्णित विधि से भली-भाँति कार्य करना चाहिये।।३१-३३।।

यथोक्तविधिना नैव लभ्यते यदि पण्डितः ।
गृहीत्वान्यत्र पूर्वोक्तविधिना तदुदग्दिशि ॥३४॥
नीत्वा तत्र खनित्वा तु शुभर्क्षमुहूर्तके ।
गृहीत्वा विधिवद्धुत्वा शुद्धिं कृत्वाम्भसा ततः ॥३५॥
गन्धाद्यैरर्चयित्वा तु सर्वमङ्गलघोषणैः ।
आनीयात्पूर्ववत्तत्र दिशां दोषैर्विमुच्यते ॥३६॥

यदि विद्वान् को कही गई विधि से (शिलादि) न प्राप्त हो तो अन्य स्थान से शिलादि ग्रहण करना चाहिये। उसके उत्तर दिशा में पूर्वोक्त विधि से (हवन आदि करके) वहाँ उत्खनन कर, प्रशस्त नक्षत्र एवं मुहूर्त में लाकर, विधिपूर्वक हवन कर एवं जल से शुद्ध करके गन्ध आदि से पूजन कर सभी प्रकार की मंगलध्वनियों के साथ पूर्ववर्णित विधि से (कर्ममण्डप तक) लाना चाहिये। इससे उचित दिशा न होने का दोष समाप्त हो जाता है।।३४-३६।।

❁ लिङ्गप्रमाणम् ❁

❁ लिङ्गस्थानम् ❁

लिङ्गमानाद् विमानं वा लिङ्गं वा हर्म्यमानतः ।
गर्भमध्ये तु सूत्रात्तु वामेऽर्चालिङ्गमेव वा ॥३७॥
स्थापयेत् किञ्चिदीशानमाश्रयित्वा विचक्षणः ।

लिङ्ग का स्थान—लिङ्ग के मान से विमान (देवालय) का प्रमाण अथवा देवालय के प्रमाण से लिङ्ग के मान का निर्धारण करना चाहिये। विद्वान् व्यक्ति को गर्भ के मध्यसूत्र से वाम भाग में कुछ ईशान कोण का आश्रय लेते हुये पूजा किये जाने वाले लिङ्ग को स्थापित करना चाहिये।।३७।।

त्रिःसप्तांशे कृते द्वारे ब्राह्मेंऽशं मध्यमं भवेत् ॥३८॥

कृत्वा षडंशकं तच्च वामे द्व्यंशं व्यपोह्य च।
तदंशमग्रं नीत्वा तु प्रागुदग्गतसूत्रकम् ॥३९॥
तद् ब्रह्मसूत्रमित्युक्तं तत्सूत्रं शिवमध्यमम्।

द्वार की चौड़ाई के इक्कीस भाग करने चाहिये। ब्रह्मा के भाग में इसका मध्य भाग होता है। मध्यम भाग के छः भाग करने चाहिये। इसके वाम भाग में दो भाग छोड़कर उस भाग से सूत्र को पूर्व-उत्तर की ओर ले जाना चाहिये। इस सूत्र को ब्रह्मसूत्र कहते हैं तथा वह सूत्र शिव के मध्य भाग को निर्दिष्ट करता है।।३८-३९।।

नागरलिङ्गम्

गर्भार्धमध्यमं श्रेष्ठं पञ्चत्र्यंशं शिवायतम् ॥४०॥
भवन्ति नव लिङ्गानि तयोर्मध्येऽष्टभाजिते।
श्रेष्ठमध्यकनिष्ठानि त्रित्रिभेदानि तानि हि ॥४१॥
नागरे नागरस्योक्तं मानं लिङ्गस्य मन्दिरे।
विकारांशे तदायामे भूतगङ्गाग्निविस्तरम् ॥४२॥
जयदं पौष्टिकं सार्वकामिकं नागरे विदुः।

नागर शिवलिङ्ग—नागर मन्दिर में नागरप्रमाण से लिङ्ग का मान कहा गया है। गर्भ-गृह के (चौड़ाई के प्रमाण से) आधे प्रमाण से सबसे छोटा शिवलिङ्ग होता है। श्रेष्ठ (बड़ा) शिवलिङ्ग (गर्भगृह की चौड़ाई के) पाँच भाग करने पर तीन भाग के बराबर होता है। इन दोनों के मध्य में आठ भाग करने पर नौ शिवलिङ्ग निर्मित होते हैं। शिवलिङ्ग के श्रेष्ठ, मध्यम एवं कनिष्ठ भेद होते हैं तथा इनके भी (प्रत्येक के) तीन-तीन भेद होते हैं। इन लिङ्गों की चौड़ाई उनकी ऊँचाई के सोलह भाग में पाँच, चार या तीसरे भाग के बराबर होती है। इन्हें नागरभेद में जयद, पौष्टिक एवं सार्वकामिक कहा जाता है।।४०-४२।।

द्राविडलिङ्गम्

गर्भे त्रिसप्तभागे तु दशांशं द्राविडेऽधमम् ॥४३॥
त्रयोदशांशकं श्रेष्ठं मध्येऽष्टांशे तु पूर्ववत्।
त्रिःसप्तांशे निजायामे षट्पञ्चचतुरंशकम् ॥४४॥
जयदादिविशालं तत् पूर्ववद् द्राविडे मतम्।

द्राविड शिवलिङ्ग—द्राविड गर्भगृह के इक्कीस भाग करने पर दसवें भाग के बराबर सबसे छोटे द्राविड लिङ्ग की ऊँचाई होती है एवं श्रेष्ठ लिङ्ग की ऊँचाई तेरह

भाग के बराबर होती है। इन दोनों के मध्य के अन्तर को उपयुक्त प्रकार से बाँटना चाहिये। द्रविड वर्ग के जयद आदि की ऊँचाई इक्कीस भाग में छः, पाँच एवं चार भाग के बराबर रक्खी जाती है।।४३-४४।।

❋ वेसरलिङ्गम् ❋

वेसरे पञ्चपञ्चांशे गर्भागारे विमानके ।।४५।।

त्रयोदशांशकं हीनं श्रेष्ठं स्यात् षोडशांशकम् ।
तयोर्मध्येऽष्टभागे तु नव लिङ्गानि पूर्ववत् ।।४६।।

पञ्चपञ्चांशके दैर्घ्ये वसुधातुरसांशकम् ।
वेसरस्योदितं व्यासं पूर्ववज्जयदादिकम् ।।४७।।

वेसर शिवलिङ्ग—वेसर देवालय के पच्चीस भाग करने पर तेरह भाग से सबसे छोटा लिङ्ग निर्मित होता है। सबसे बड़ा लिङ्ग सोलह भाग के बराबर ऊँचा होता है। उनके मध्य भाग के आठ भाग करने पर पहले के समान नौ लिङ्ग निर्मित होते हैं। वेसर लिङ्ग के जयद आदि भेदों की ऊँचाई आठ, सात, छः (पच्चीस भाग में से) भाग के बराबर रक्खी जाती है।।४५-४७।।

विकारपरिधौ भूतव्यासः सर्वत्र कीर्तितः ।
गर्भमानमिदं प्रोक्तं हस्तमानं तु वच्म्यहम् ।।४८।।

सभी प्रकार के लिङ्गों की चौड़ाई की परिधि सोलह में पाँच भाग के बराबर रक्खी जाती है। ये प्रमाण गर्भगृह के अनुसार कहे गये हैं। अब उनके हस्तप्रमाण को कहता हूँ।।४८।।

❋ हस्ततो लिङ्गमानानि ❋

आरभ्यैककरं नन्दहस्तान्तं षट्षडङ्गुलैः ।
वृद्ध्यायतास्त्रयस्त्रिंशत्संख्या लिङ्गस्य कीर्तिताः ।।४९।।

पञ्चारत्नि विमानाद्या द्वादशक्ष्माद्यसद्मनः ।
क्रमेणैव त्रयस्त्रिंशत्संख्या तासां विधीयते ।।५०।।

केचित् त्र्यङ्गुलवृद्ध्या तु वदन्त्येकादिहस्ततः ।

लिङ्गों का हस्तप्रमाण—एक हाथ से प्रारम्भ कर छः-छः अंगुल बढ़ाते हुये नौ हाथ पर्यन्त लिङ्ग के तैंतीस भेद होते हैं। यदि देवालय बारह या उससे अधिक तल से युक्त हो तो ये तैंतीस भेद पाँच हाथ से प्रारम्भ कर पूर्वोक्त (छः-छः अंगुल) वृद्धि करते हुये निर्मित करना चाहिये। कुछ विद्वानों के मतानुसार एक हाथ से प्रारम्भ कर तीन-तीन अंगुल बढ़ाना चाहिये।।४९-५०।।

आयादिसम्पदामर्थं मानादेकाङ्गुलक्षयात् ॥५१॥
प्रवृद्ध्योत्तुङ्गमात्तव्यं तत्र दोषो न विद्यते।
पञ्चपञ्चाङ्गुलं मूलाद् वृद्ध्याष्टककलाङ्गुलैः ॥५२॥
वृद्ध्या लिङ्गीयते शस्ते प्रत्येकं नवमानिकम्।
क्षुद्राल्पमध्यमोत्कृष्टहर्म्यानामुदितं क्रमात् ॥५३॥

यदि लिङ्ग के प्रमाण में ऊपर दिये मान से एक अंगुल कम या अधिक हो और ऐसा आयादि की दृष्टि से किया गया हो तो वह दोषपूर्ण नहीं होता है। छोटे, मध्यम एवं बड़े देवालय के लिये लिङ्ग के नौ मान होते हैं। ये पच्चीस अंगुल से प्रारम्भ होकर आठ या सोलह अंगुल बढ़ाते हुये होते हैं।।५१-५३।।

❋ द्वारादितो मानानि ❋

द्वारोदयसमं श्रेष्ठं त्रिभागोनं कनिष्ठकम्।
स्तम्भोत्सेधे नवांशे तु मुनिभूतांशकोदयम् ॥५४॥
तत्तन्मध्येऽष्टधा भक्ते नवलिङ्गोदयाः स्मृताः।
नागरादिषु सौधेषु प्रोक्तव्यासानि पूर्ववत् ॥५५॥

द्वार आदि के अनुसार प्रमाण—श्रेष्ठ लिङ्ग की ऊँचाई द्वार की ऊँचाई के बराबर तथा कनिष्ठ लिङ्ग की ऊँचाई उससे तीन भाग कम होती है। (अथवा) श्रेष्ठ लिङ्ग की ऊँचाई स्तम्भ की ऊँचाई के नौ भाग करने पर सात भाग के बराबर होती है। कनिष्ठ लिङ्ग नौ भाग में से पाँच भाग के बराबर होता है। उनके (ज्येष्ठ एवं कनिष्ठ के) मध्य के अन्तर को आठ भाग में बाँटना चाहिये। इससे नौ प्रकार के लिङ्गों की ऊँचाई बनती है। नागर आदि देवालय के लिङ्गों का व्यास पूर्ववर्णित मान के अनुसार रखना चाहिये।।५४-५५।।

प्रासादशिखरग्रीवस्थूप्यधिष्ठानमानकैः।
केचिद् वदन्ति मुनयः कुम्भयोन्यादयो वराः ॥५६॥
गृहीतोत्सेधमानं तु मानाङ्गुलैर्विभाजयेत्।
वृद्ध्या हान्याङ्गुलिच्छेदं परिहृत्य विचक्षणः ॥५७॥

कुछ श्रेष्ठ ऋषियों के अनुसार कुम्भयोनि के बारे में कहा गया है कि देवालय की ऊँचाई अधिष्ठान से शिखर, ग्रीवा या स्तूपिकापर्यन्त मान को अंगुल-प्रमाण से विभाजित करना चाहिये (एवं उसके अनुसार लिङ्ग का मान निर्धारित करना चाहिये)। एक बार ऊँचाई का निर्णय कर लेने के पश्चात् उसमें अंगुल की वृद्धि या हानि नहीं होनी चाहिये।।५६-५७।।

✵ आयादि ✵

उत्सेधेऽष्टगुणैः सप्तविंशद्भिर्हरणे ततः।
शेषमश्वयुजाद्यं तु नक्षत्रं तु चतुर्गुणे॥५८॥

नवभिर्हरणे शिष्टमंशकं तस्करादिकम्।
भुक्तिः शक्तिर्धनं राजषण्डश्चाभयकं विपत्॥५९॥

समृद्धिरिति विख्यातान्यंशकानि नव क्रमात्।
तस्करं च विपत् षण्डं निन्दितं वस्तुपारगैः॥६०॥

आयादि—ऊँचाई में आठ का गुणा करना चाहिये एवं उसमें सत्ताईस का भाग देना चाहिये। शेष एक से सत्ताईस तक नक्षत्र का ज्ञान होता है। एक से अश्वयुज् नक्षत्र होता है। ऊँचाई में चार का गुणा करना चाहिये। गुणनफल में नौ का भाग देना चाहिये। शेष से तस्कर आदि 'अंशक' प्राप्त होते हैं। इनमें (प्रथम तस्कर) अन्य भुक्ति, शक्ति, धन, राज, षण्ड, अभय, विपत् एवं समृद्धि—ये नौ क्रमशः अंशक होते हैं। इनमें तस्कर, विपत् एवं षण्ड वास्तुविदों द्वारा निन्दनीय हैं।।५८-६०।।

उत्तुङ्गवसुनन्दाग्निगुणैरर्कदशाष्टभिः।
शिष्टं धनमृणं चैव योनिकं स्याद्यथाक्रमम्॥६१॥

धनाधिकमृणं क्षीणं मानं तत् सम्पदां पदम्।
योनिषु ध्वजसिंहश्च वृषो हस्ती शुभावहाः॥६२॥

ऊँचाई को आठ, नौ एवं तीन से गुणा करे एवं (प्राप्तांक) में बारह, दस एवं आठ से (क्रमशः) भाग देना चाहिये। शेष से धन, ऋण एवं योनि का ज्ञान होता है। यदि धन अधिक हो एवं ऋण कम हो तो चयन किया गया प्रमाण सम्पत्तिकारक होता है। योनियों में ध्वज, सिंह, वृष एवं गज शुभ होते हैं।।६१-६२।।

तुङ्गं नवगुणं कृत्वा सप्तभिः क्षपयेत्ततः।
शेषं सूर्यादिवारं स्यात् क्रूरास्तत्र विवर्जिताः॥६३॥

ऊँचाई को नौ से गुणा करना चाहिये। गुणन-फल में सात से भाग देना चाहिये। शेष से सूर्य आदि सात दिन का ज्ञान होता है। इनमें क्रूर दिनों को छोड़ देना चाहिये।

ग्रामादीनां च कर्तुश्च नक्षत्रेणाविरोधि यत्।
तल्लिङ्गं देशदेशेशदेहिनां शुभकारणम्॥६४॥

लिङ्ग के नक्षत्र का विरोध ग्राम या कर्ता के नक्षत्र से नहीं होना चाहिये। वह लिङ्ग देश, देश के स्वामी एवं उस देश की जनता के लिये शुभ होता है।।६४।।

लिङ्गतक्षणम्

इष्टायामविशालेन चतुरस्त्रीकृतं समम्।
जातिरूपं तु तद् बिम्बं छेदनीयं यथोचितम्॥६५॥
छन्दमष्टास्त्रकं षोडशास्त्रं नाम्ना विकल्पकम्।
वृत्तमाभासकं लिङ्गं तच्छेद्यं स्यात्त्रयात्मकम्॥६६॥

लिङ्ग का तक्षण = छेदन, कटाई—अभीप्सित लम्बाई एवं चौड़ाई से (शिला को) चौकोर बनाना चाहिये। इसके पश्चात् यथोचित देवता की आकृति उत्कीर्ण करनी चाहिये। इसे 'जाति' रूप कहते हैं। 'छन्द' रूप अष्टकोण या षोडशकोण होता है। वृत्ताकार लिङ्ग 'आभास' होता है। इस प्रकार लिङ्ग का छेदन तीन प्रकार का होता है।।६५-६६।।

त्रिधा कृत्वायतं मूले ब्रह्मांशं चतुरस्त्रकम्।
अष्टास्त्रं वैष्णवं मध्ये वृत्तमूर्ध्वांशमैशकम्॥६७॥

लिङ्ग की ऊँचाई के तीन भाग करना चाहिये। मूल में ब्रह्मा का भाग होता है, जो चौकोर होता है। मध्य का अष्टकोण भाग वैष्णव होता है। ऊर्ध्व भाग वृत्ताकार होता है तथा यह ईशभाग होता है।।६७।।

इष्टविष्कम्भमानेन चतुरस्त्रीकृतं समम्।
कर्णायतार्धकर्णाभ्यामिष्टमष्टास्त्रकं कृतम्॥६८॥
चतुस्त्र्यंशकयोर्मध्यं मध्यपट्टमिति स्मृतम्।
व्यासे सप्तांशके त्र्यंशं मध्यपट्टं त्रिधोदितम्॥६९॥

अष्टकोण बनाने की तीन विधियाँ हैं। अभीष्ट मान (लिङ्गमान) से एक सम चतुरस्त्र (चौकोर) निर्मित करना चाहिये। अर्धकर्णों से दो रेखायें (कोण तक) खींचनी चाहिये तथा चतुरस्त्र के मध्य से रेखायें खींचनी चाहिये। इस प्रकार अष्टकोण निर्मित होगा। (द्रष्टव्य २५.५२)। चतुरस्त्र के एक चतुर्थांश एवं तीन भाग के बीच में मध्य पट्ट होता है। चौकोर की चौड़ाई के सात भाग करने पर तीसरे भाग में मध्य पट्ट होता है। इस प्रकार (अष्टकोण) तीन प्रकार से कहा गया है।।६८-६९।।

कोणान्तात् पट्टसूत्रेऽङ्के तिर्यक्सङ्गतसूत्रकम्।
पट्टार्धेनाङ्कितं यत्तु षोडशास्त्रं तदुच्यते॥७०॥
एवस्त्रान्तरे धीमान् योजयेत्तु विचक्षणः।
कोटिच्छेदेन वृत्तं स्यान्निम्नं नैवोन्नतं यथा॥७१॥

अब षोडशास्त्र का लक्षण कहते हैं। कोण के अन्त से पट्टसूत्र-रेखा में तिलछे मिले सूत्र को पट्टार्ध से जो अंकित हो तो उसे षोडशास्त्र कहते हैं। इस प्रकार षोडशास्त्र के मध्य में कोटि छेदन से बुद्धिमान को वृत्त बनाना चाहिये, जो न ही ऊँचा होता है और न ही नीचा होता है।

❋ सर्वतोभद्रादिलिङ्गप्रमाणम् ❋

आद्यं तु सर्वतोभद्रं द्वितीयं वर्धमानकम्।
शिवाधिकं तृतीयं स्याच्चतुर्थं स्वस्तिकं भवेत् ॥७२॥

अथ जगदमराणां सर्वतोभद्रमिष्टं
सुखदमवनिपानां वृद्धिदं वर्धमानम्।
धनदमिह विशां वै शम्भुभागाधिकं य-
च्छुभदमथ परेषां स्वस्तिकं तच्चतुर्णाम् ॥७३॥

सर्वतोभद्र आदि लिंगों का प्रमाण—प्रथम प्रकार का लिङ्ग 'सर्वतोभद्र', दूसरा 'वर्धमान', तीसरा 'शिवाधिक' एवं चौथा 'स्वस्तिक' होता है। 'सर्वतोभद्र' लिङ्ग ब्राह्मण के लिये प्रशस्त होता है। 'वर्धमान' राजाओं को सुख एवं वृद्धि प्रदान करता है। 'शम्भुभागाधिक' वैश्यों को धन प्रदान करता है एवं 'स्वस्तिक' चतुर्थ वर्ण के लिये प्रशस्त होता है।।७२-७३।।

त्रिंशद्भागे सर्वतोभद्रलिङ्गे मूले मध्येऽग्रे दशांशं क्रमेण।
वृत्तं तुल्यं सर्वतः शम्भुभागं विप्राणां तद् भूपतीनां प्रशस्तम् ॥७४॥

सर्वतोभद्र लिङ्ग को तीस भागों में बाँटना चाहिये। दस भाग निचले भाग के लिये तथा उतना ही भाग मध्य एवं ऊर्ध्व भाग के लिये होना चाहिये। शम्भुभाग पूर्णतः गोल होता है। यह ब्राह्मणों एवं राजाओं के लिये प्रशस्त होता है।।७४।।

वेदभूतरसभागिकैरधो भूतषण्मुनिपदैरधः परम्।
षट्कसप्तवसुभागया ततः सप्तनागनवभागया पुनः ॥७५॥

वर्धमानमुदितं चतुर्विधं ब्रह्मविष्णुशिवभागतः क्रमात्।
सर्वसम्पदुदयं जयप्रदं पुत्रवृद्धिदमिदं महीभृताम् ॥७६॥

वर्धमान लिङ्ग चार प्रकार के होते हैं। इसका निर्धारण ब्रह्मा, विष्णु एवं शिवभाग की ऊँचाई से होता है। निचले भाग से प्रारम्भ करते हुये चार भाग (ब्रह्मा का), पाँच भाग (विष्णु का) एवं छः भाग शिवतत्त्व का होता है। (अथवा) पाँच, छः एवं सात भाग होता है। (अथवा) छः, सात या आठ भाग होता है। (अथवा अनृतः) सात, आठ एवं नौ भाग होता है। यह लिङ्ग राजाओं को सभी प्रकार की सम्पत्तियाँ,

विजय एवं पुत्रों की वृद्धि प्रदान करता है।।७५-७६।।

सप्तसप्तवसुभागया ततः पञ्चपञ्चकषडंशकैरपि ।
वेदवेदशरभागया ततो बन्धबन्धयुगभागया पुनः ।।७७।।
उक्तमत्र हि मया चतुर्विधं तच्छिवाधिकमजादिभागिके ।
सर्ववस्तुदमिदं विशामलं सर्ववर्णयमिनामुदीरितम् ।।७८।।

शिवाधिक लिङ्ग चार प्रकार का होता है। ब्रह्मा से प्रारम्भ कर तीन तत्त्व सात-सात एवं आठ भाग (या) पाँच, पाँच, छः भाग (अथवा) चार, चार, पाँच भाग एवं (अन्ततः) तीन, तीन, चार भाग होते हैं। यह लिङ्ग वैश्यों को सभी प्रकार की समृद्धि प्रदान करता है, जो संयमी हैं। ऐसा (विद्वानों द्वारा) कहा गया है।

उक्तायामे स्वस्तिके नन्दभागे मूले द्व्यंशं मध्यभागे गुणांशम् ।
पूजाभागे चातुरंशं क्रमेण चोक्तं शूद्रे सर्वकामप्रदं तत् ।।७९।।

स्वस्तिक लिङ्ग की ऊँचाई के नौ भाग करने चाहिये। इनमें दो भाग मूल के लिये, तीन भाग मध्य के लिये एवं चार भाग पूजा के लिये (ऊर्ध्व भाग) होता है। यह शूद्रों के लिये सभी कामनाओं को प्रदान करने वाला होता है।।७९।।

❋ सुरार्चितादिलिङ्गभेदाः ❋

लिङ्गं सुरार्चितं धारालिङ्गं साहस्रलिङ्गकम् ।
त्रैराशिकं तु सर्वेषां सर्वकामफलप्रदम् ।।८०।।

सुरार्चित आदि लिङ्गों के भेद—सुरार्चित लिङ्ग, धारालिङ्ग, साहस्रलिङ्ग एवं त्रैराशिक लिङ्ग सभी के कामनाओं को पूर्ण करता है।।८०।।

इष्टायामसमोपेतं स्वायामार्धार्धविस्तरम् ।
शेषं पूर्ववदुद्दिष्टं नाम्ना सुरगणार्चितम् ।।८१।।

(सुरगणार्चित) लिङ्ग की चौड़ाई उसकी लम्बाई के चौथे भाग के बराबर होती है एवं शेष पहले के समान होता है। इस लिङ्ग को सुरार्चित कहते हैं।।८१।।

धारालिङ्गं सर्वलिङ्गे मतं तन्मूलेऽष्टास्रं वा कलास्रं युगास्रम् ।
तस्मादूर्ध्वं द्वैगुणं स्यात् सधारं धारालिङ्गं सर्ववर्णे प्रशस्तम् ।।८२।।

धारालिङ्ग सभी लिङ्गों के समान होता है। इसका मूल भाग आठ, सोलह या चार कोणों वाला होता है। इसका ऊपरी भाग दुगुना होता है। यह धारायुक्त धारालिङ्ग सभी वर्णों के लिये प्रशस्त होता है।।८२।।

पूजाभागे सर्वतोभद्रलिङ्गे धारा कार्या पञ्चपञ्चक्रमेण ।
एकैकस्यामष्टपञ्चोपरिष्टात् साहस्रं तद्रेखया लिङ्गमुक्तम् ।।८३।।

सर्वतोभद्र लिङ्ग में पूजाभाग में पच्चीस धारायें क्रमशः निर्मित की जायँ तथा प्रत्येक पर चालीस (लिङ्ग) निर्मित किये जायँ तो इस प्रकार सहस्र लिङ्ग निर्मित होते हैं एवं इसे साहस्रलिङ्ग कहते हैं।।८३।।

रसमुनिवसुभागे वृत्तकेऽष्टास्रकेऽन्ते
परिधिरथ नवांशे लिङ्गतुङ्गे तु भूयः।
त्रिभिरथ गुणभागैश्च त्रिभिस्तुङ्गमानं
ह्यजहरिहरभागे तत्तु त्रैराशिकं स्यात् ॥८४॥

त्रैराशिक लिङ्ग में वृत्ताकार भाग की परिधि सम्पूर्ण ऊँचाई के नौ भाग में छः भाग के बराबर होती है। अष्टास्र भाग की परिधि नौ में सात भाग के बराबर एवं चौकोर भाग की परिधि नौ में आठ भाग के बराबर होती है। अज (ब्रह्म) के भाग की ऊँचाई नौ में तीन भाग के बराबर, हरि (विष्णु) भाग की ऊँचाई नौ में तीन भाग तथा हर (शिव) भाग की ऊँचाई नौ में तीन भाग के बराबर होती है।।८४।।

❋ आर्षलिङ्गम् ❋

सस्थूलमूललिङ्गं यवमध्यं वा पिपीलिकामध्यम्।
लिङ्गं तु शिरः स्थूलं ह्यार्षं लिङ्गं चतुर्भेदम् ॥८५॥
निजविपुलाष्टांशघ्नं मूले मध्ये तथा तदग्रे च।
विष्णवजभागो सम्यक् चतुरस्रं चार्षके लिङ्गे ॥८६॥

आर्ष = ऋषि के अनुकूल लिङ्ग—ऋषियों के अनुकूल चार प्रकार के लिङ्ग होते हैं—सस्थूलमूल (तल में अधिक चौड़ा) लिङ्ग, यवमध्य (मध्य भाग में यव के समान) लिङ्ग, पिपीलिकामध्य (मध्य भाग में चींटी के समान) लिङ्ग तथा शिरः-स्थूल (ऊपरी भाग में स्थूल) लिङ्ग। आवश्यकतानुसार तल, मध्य या ऊपरी भाग का विस्तार वाञ्छित विस्तार से आठ भाग कम होता है। आर्ष लिङ्ग में ब्रह्मा एवं विष्णु का भाग भली-भाँति चौकोर होता है।।८५-८६।।

❋ स्वयम्भुलिङ्गम् ❋

लिङ्गं फलकाकारं द्व्यस्रं पञ्चास्रकं त्रिकोणं च।
एकादशनवषट्सप्तास्रं च द्वादशास्रं च ॥८७॥
पूर्वोदितेतरास्रं शूलाग्रं शृङ्गसदृशशिरः।
अन्यदपि भेदयुक्तं सशिरः सूत्रेतरं न मानयुतम् ॥८८॥
निम्नोन्नतझर्झरकं वैवर्ण्ययुतं च पूजानिम्नोन्नतं यथा।
वक्रमवक्रयुतं वा वालुकरेखाकलङ्कबिन्दुयुतम् ॥८९॥

अथवैकरेखमेतान्युदितान्येव स्वयम्भुलिङ्गानि ।
नैवैतेषां मूलं लिङ्गानां शोधयेन्मतिमान् ॥९०॥
अज्ञानादपि मोहात् संशोध्य मूलमेव दोषकरम् ।

स्वयं प्रकट शिवलिङ्ग—स्वयम्भु लिङ्ग का आकार फलक के समान, द्विकोण, पञ्चकोण, त्रिकोण, ग्यारह, नौ, छः, सात तथा बारह कोण अथवा पूर्वोक्त से पृथक् कोण हो सकते हैं। इसका अग्र भाग शूल के समान एवं शृङ्ग के समान शिर हो सकता है। इसके शिरोभाग अन्य प्रकार के भी हो सकते हैं। ये मानयुक्त नहीं होते एवं प्रमाणसूत्र से पृथक् होते हैं (अर्थात् इनका कोई निर्धारित प्रमाण नहीं होता है)। ये ऊँचे-नीचे, झर्झर के समान छिद्रयुक्त, विवर्ण (अस्पष्ट वर्ण के) तथा पूजाभाग ऊँचा-नीचा हो सकता है। ये टेढ़े या सीधे, बालूयुक्त (प्रस्तर के), रेखा, चिह्न तथा बिन्दु से युक्त या एक रेखा से युक्त होते हैं। ये ही स्वयम्भु लिङ्ग कहलाते हैं। बुद्धिमान व्यक्ति को इन लिङ्गों के मूल स्वरूप का शोधन नहीं करना चाहिये। अज्ञानता से अथवा मोहवश मूल लिङ्गों का संशोधन दोषकारी होता है।।८७-९०।।

❋ शिरोवर्तनम् ❋

आस्थापनमथो लिङ्गं पूजाभागं तु पीठसमम् ॥९१॥
वृत्तं वाऽथ सधारं पूजाभागं तु मोक्षदं यमिनाम् ।
शिरसो वर्तनमधुना लिङ्गानां वक्ष्यते क्रमशः ॥९२॥

शिरोभाग की गोलाकार कटाई—स्थापना के समय लिङ्ग का (निचला) पूजा भाग पीठ के बराबर होना चाहिये। पूजाभाग वृत्ताकार या धारायुक्त हो सकता है। यह पूजक को मुक्ति प्रदान करने वाला होता है। अब क्रमानुसार लिङ्गों के शिरोभाग की गोलाकृति (निर्माण, कटाई) के विषय में कहा जा रहा है।।९१-९२।।

छत्राभा त्रपुषाभा कुक्कुटकाण्डार्धचन्द्रसदृशाभा ।
बुद्बुदसदृशा पञ्चैवोद्दिष्टा वर्तना मुनिभिः ॥९३॥

मुनियों के अनुसार (लिङ्ग के शिरोभाग की) गोलाई पाँच प्रकार की होती है—छत्र के समान, त्रपुष (ककड़ी) के समान, कुक्कुट (मुर्गी के) अण्डे के समान, अर्ध-चन्द्र के समान या बुद्बुद के समान।।९३।।

व्यासे षोडशभागे लिङ्गस्यैकद्विगुणयुगांशेषु ।
संलम्ब्याधोभागानुभयोरपि पार्श्वयोः क्रमशः ॥९४॥

छत्राभानि शिरांसि च चत्वारीह प्रवर्तते विधिना ।
समलिङ्गे प्रथमे द्वे शैवाधिकलिङ्गके तृतीयं स्यात् ॥९५॥

चतुरंशेषु यदुक्तं तत् प्रोक्तं वर्धमानस्य।
सङ्करमन्योन्यं वाप्यशुभं स्याद् वर्तनानां च ॥९६॥

छत्राभ शिरोभाग की (गोलाई की ऊँचाई) चौड़ाई के सोलह भाग के बराबर या दो, तीन या चार भाग के बराबर होनी चाहिये। शीर्ष भाग से प्रारम्भ कर नीचे तक गोलाई दोनों पार्श्वों में उचित अनुपात में होनी चाहिये। प्रथम दो माप लिङ्गों के लिये सामान्य होते हैं। शैवाधिक लिङ्ग के लिये तीसरा माप होता है। वर्धमान लिङ्ग के लिये चार भाग का माप कहा गया है। मापों को एक-दूसरे में मिलाकर गोलाई का निर्माण अशुभ होता है।।९४-९६।।

त्रपुषाभानुषडंशे सार्धद्व्यंशेन कर्तव्या।
उच्चार्धं कुक्कुटजं त्र्यंशैकांशेन्दुखण्डनिभम्।
बुद्बुदसदृशं सार्धं त्र्यंशं व्यासेऽष्टभागे तु ॥९७॥

त्रपुषाकार लिङ्ग के गोलाई की ऊँचाई लिङ्ग की चौड़ाई के छः भाग में ढाई भाग के बराबर रक्खी जाती है। कुक्कुटाण्ड की ऊँचाई आधे माप से, अर्धचन्द्र की ऊँचाई तीसरे भाग के बराबर एवं बुद्बुद की ऊँचाई आठ भाग में साढ़े तीन भाग माप से रक्खी जाती है।।९७।।

सर्वेषामपि चैता सामान्यास्तत्र लिङ्गानाम्।
शिरसो वर्तनभागं त्र्यंशैकं चाधिरोप्य निजतुङ्गे ॥९८॥

लिङ्गायामे षट्षड्भागयुते तेन सार्धमतः।
इन्द्वश्विनिगुणभागाः प्रोक्ताः सर्वेष्वपि क्रमशः।
अवरे मध्यमलिङ्गे श्रेष्ठे लिङ्गे ततः शिरोमानम् ॥९९॥

सभीं प्रकार के लिङ्गों का सामान्य नियम इस प्रकार है। लिङ्गों की गोलाई का माप लिङ्ग के ऊपरी भाग का तीसरा भाग होता है। (अथवा) सभी लिङ्गों के ऊपरी भाग का माप बराबर होता है। लिङ्ग की ऊँचाई छत्तीस भाग करने पर उसके एक, दो या तीन भाग के बराबर होती है। यह शिरोमाप क्रमशः कनिष्ठ, मध्यम एवं श्रेष्ठ लिङ्ग का होता है।।९८-९९।।

लिङ्गानां शिरसीप्सितांशमुभयोः संलम्ब्य तत्पार्श्वयोः
कृत्वा मत्स्ययुगं तदास्यजघनान्निष्क्रान्तसूत्रद्वये।
तस्माद्यत्र च संयुतिर्मतिमता बिन्दुत्रयाढ्यं यथा
कर्तव्यं बहुवर्तनास्वभिमतं सोपायमीशोदितम् ॥१००॥

लिङ्ग के शिरोभाग के अभीष्ट भाग को दोनों पार्श्वों में (बराबर) रखना चाहिये।

उस पर चार मत्स्याकृति निर्मित करनी चाहिये। प्रत्येक आकृति के मुख एवं पूँछ तक दो रेखायें खींचनी चाहिये। जहाँ उनका संयोग हो, वहाँ तीन बिन्दु लगाना चाहिये। इस प्रकार प्रयत्नपूर्वक शिवलिङ्ग की वर्तना करनी चाहिये।।१००।।

लक्षणोद्धरणम्

वक्ष्येऽहं लिङ्गानां सर्वेषां लक्षणोद्धरणम्।
शाणाभिस्तनुवालुकसहितैर्गोवालरज्ज्वाद्यैः ॥१०१॥

उद्धृष्ट्या सकृदेव हि युक्त्या चिह्नं परीक्ष्य यत्नेन।
शुभतरमङ्कं दृष्ट्वा चारभेल्लक्षणोद्धरणम् ॥१०२॥

लक्षणों का उद्धरण—अब मैं सभी लिङ्गों का लक्षणोद्धरण कहता हूँ। लिङ्गों की घिसाई चिकने पत्थर, महीन बालू के साथ गाय के बाल की रस्सी आदि से एक बार में करनी चाहिये एवं सावधानीपूर्वक लिङ्ग के चिह्नों की परीक्षा करनी चाहिये। इसके पश्चात् शुभ लक्षणों को देखकर लक्षणों का उद्धरण प्रारम्भ करना चाहिये।

प्रासादस्य समीपे मण्डपके चित्रवस्त्रशोभाढ्ये।
शाल्यादिभिरपि युक्ते तण्डुलके स्थण्डिले रम्ये ॥१०३॥

तल्पोपरि सितवस्त्रप्रस्तरशयने न्यसेल्लिङ्गम्।
आचार्यः स्थपतिश्चाहतवस्त्रैर्हेमपुष्पाद्यैः ॥१०४॥

पञ्चाङ्गभूषणैरप्यलमतिशोभैरलंकृत्य।
सितपुष्पालेपनसोष्णीषाद्यैः शोभनं कुर्यात् ॥१०५॥

मन्दिर के निकट रंग-विरंगे वस्त्रों से अलंकृत मण्डप में शालि आदि धान्यों से युक्त सुन्दर स्थण्डिल पर आसन के ऊपर प्रस्तर-शयन पर, जो कि श्वेत वस्त्र से सज्जित हो, लिङ्ग की स्थापना करनी चाहिये। आचार्य एवं स्थपति नवीन वस्त्र, सुवर्ण एवं पुष्पादि से तथा पाँचों अंगों में अलंकारों से सुसज्जित होकर तथा श्वेत पुष्प, लेप आदि से एवं उष्णीष (पगड़ी) आदि धारण कर सुन्दर बनें।।१०३-१०५।।

नेत्रमन्त्रमनुस्मरन्नजसूत्रं पार्श्वसूत्रं च।
हाटकनिर्मितसूच्या आचार्यः संलिखेद् रेखाम् ॥१०६॥

आचार्य नेत्र-मन्त्र का स्मरण करते हुये सोने की सूई से अजसूत्र, पार्श्वसूत्र तथा रेखा का लेखन करें।।१०६।।

पश्चाद्धेममयेनैवारभ्यास्त्रेण च स्थपतिः।
पुनरपि लघुतरशस्त्रैर्लघुहस्तैराज्यदुग्धमधुसहितम् ॥१०७॥

सम्यग् रेखा लिखिता निर्झरकमयं यथाशोभम्।

सुवर्ण अस्त्र से रेखाङ्कन प्रारम्भ कर स्थपति पुनः छोटे शस्त्र से हाथ में घी, दूध एवं मधु के साथ उचित रेखा बनाये, जिससे सुन्दर झरने का रूप बने।।१०७।।

सितवस्त्रेणाच्छाद्याखिलधान्यान् गोद्विजवत्साद्याः ॥१०८॥
दर्शयितव्या कन्या युक्त्या शेषं नयेन्मतिमान्।

श्वेत वस्त्र से सभी अन्नों को ढँककर गाय, ब्राह्मण, गोवत्स तथा कन्या आदि को दिखाये तथा शेष को उचित रीति से बुद्धिमान को करना चाहिये।।१०८।।

✵ नागरलिङ्गलक्षणोद्धरणम् ✵

प्रथमे नागरलिङ्गे षोडशभागीकृते शिवायामे ॥१०९॥

षड्भूतवेदभागान् त्यक्त्वोर्ध्वे कन्यसाद्युदयम्।
एवं त्रिकमुत्सेधं बुद्ध्वाऽथ त्र्यंशकात्तु सर्वेषाम् ॥११०॥

विष्ण्वंशाभिमुखे द्वे सूत्रे संलेखयेत् पार्श्वे।
पृष्ठे तयोर्युतिः स्याद्धीने वेदाग्निपक्षेषु ॥१११॥

मध्ये भूतवनानलपक्षेषु यतिस्तयोः पृष्ठे।
श्रेष्ठे षड्भूतवनानलपक्षेषूदिता तु युतिः ॥११२॥

तेषु गृहीत्वैकांशं त्रिद्व्यंशं सूत्रविष्कम्भम्।
यावदधः कृष्णांशं ह्युक्तोत्सेधे नयेत्तु समम् ॥११३॥

एवं नागरलिङ्गे सूत्रं सम्यङ् मयेनोक्तम्।

नागर शिवलिङ्ग का लक्षणोद्धरण—प्रथम प्रकार के नागर लिङ्ग में शिव-भाग की ऊँचाई के सोलह भाग करने चाहिये। छोटे लिङ्ग में छः भाग, (मध्यम लिङ्ग में) चार भाग एवं (बड़े लिङ्ग में) तीन भाग ऊपरी भाग में एवं निचले भाग में तीन भाग छोड़ देना चाहिये। इस प्रकार सभी लिङ्गों की तीन प्रकार की ऊँचाई होती है। विष्णुभाग में पार्श्व में दो रेखायें खींचनी चाहिये। छोटे लिङ्गों में ये रेखायें चार, तीन एवं दो भाग से होती हुई पृष्ठ भाग में मिलती हैं। मध्यम लिङ्ग में ये रेखायें पाँच, चार, तीन एवं दो भाग से होती हुई पीछे मिलती हैं। श्रेष्ठ लिङ्ग में ये रेखायें छः, पाँच, चार, तीन एवं दो भाग से होती हुई पीछे मिलती हैं। लिङ्ग की चौड़ाई (लम्बाई की) दो तिहाई होती है। या लिङ्ग की चौड़ाई पूरी लम्बाई तक समान एवं एक कृष्णल भाग (विशेष माप) कम होती है। इस प्रकार मय ने नागरलिङ्ग के सूत्र का भली-भाँति वर्णन किया।।१०९-११३।।

✵ द्राविडलिङ्गलक्षणोद्धरणम् ✵

त्रिःपञ्चभागिकेऽस्मिन् द्राविडलिङ्गे शिवायामे ॥११४॥

नन्ददशरुद्रांशा हीनाद्युदयाः समुद्दिष्टाः ।
मुनिवसुनवभागे ह्यंशैः संलम्बयेत् सूत्रे ॥११५॥

युगगुणनयनेष्वन्त्ये मध्ये शरवेदवह्नियुगलेषु ।
रसशरयुगबन्धेषु प्रोक्ता श्रेष्ठे तयोस्तु युतिः ॥११६॥

द्राविडलिङ्गे सूत्रव्यासं स्वांशार्धतः प्रोक्तम् ।

द्राविडलिङ्ग का लक्षणोद्धरण—द्राविड लिङ्ग के शिवतत्त्व की ऊँचाई को पन्द्रह भाग में बाँटना चाहिये। सूत्र की लम्बाई हीन (छोटे) आदि क्रम से (मध्यम एवं श्रेष्ठ) नौ, दस या ग्यारह होनी चाहिये। आठ, नौ या दसवें भाग से सूत्र लटकाना चाहिये। इनका पृष्ठ भाग में संयोग चार, तीन या दो पर (गोलाई बनाते हुये) होता है। यह माप छोटे लिङ्ग के लिये कहा गया है। पाँच, चार, तीन एवं दो मध्यम लिङ्ग के लिये तथा छः, पाँच, चार, तीन एवं दो भाग श्रेष्ठ लिङ्ग के कहा गया है। द्राविड लिङ्ग के सूत्र की चौड़ाई (शिवभाग की ऊँचाई की) आधी होती है।।११४-११६।।

✵ वेसरलिङ्गलक्षणोद्धरणम् ✵

वेसरलिङ्गे पूजाभागे त्रिःपञ्चभागे तु ॥११७॥

दशभागं सूत्रोच्चं वस्वंशात् सम्यगारभ्य ।
लम्बनमथ भूतवनानलपक्षांशेषु सूत्रयुतिः ॥११८॥

व्यासे द्विरष्टभागे विष्कम्भांशो वरः प्रोक्तः ।

वेसरलिङ्ग का लक्षणोद्धरण—वेसर लिङ्ग के पूजाभाग की ऊँचाई को पन्द्रह भागों में बाँटना चाहिये। सूत्र की ऊँचाई को आठवें भाग से प्रारम्भ कर दस भाग तक रखना चाहिये। सूत्रों का संयोग पाँच, चार एवं तीन भाग पर (गोलाई बनाते हुये) होना चाहिये। सूत्र की चौड़ाई लिङ्ग की परिधि के सोलहवें भाग के बराबर होनी चाहिये। यह श्रेष्ठ वेसर-लिङ्ग का प्रमाण है।।११७-११८।।

आयामे वसुभागे वेदांशैरुच्छ्रितस्तु ततः ॥११९॥

गुणभागादारभ्य द्व्यंशे चैकांशके तयोस्तु युतिः ।
व्यासे गृहीतभागैकैकं विभजेत् त्रिधा द्व्यंशम् ॥१२०॥

एवं मध्यममिष्टं द्वादशभागीकृते तुङ्गे ।
शेषं पूर्ववदुद्दिष्टं विष्कम्भं भागयोः प्रोक्तम् ॥१२१॥

गदितं कन्यसमेवं वेसरलिङ्गे तु सूत्रं तत्।

मध्यम लिङ्ग के (शिवतत्त्व) की ऊँचाई को आठ भागों में बाँटना चाहिये। सूत्र की ऊँचाई चार भाग होनी चाहिये। सूत्र तीन भाग से प्रारम्भ होकर दो या एक भाग पर संयुक्त होता है। सूत्र की चौड़ाई पौन भाग के बराबर होती है। छोटे वेसर लिङ्ग की (शिवभाग की) ऊँचाई को बारह भागों में बाँटना चाहिये। शेष प्रक्रिया पहले के समान होती है। सूत्र की चौड़ाई (शिवभाग के) दो भाग के बराबर होती है।

❋ सूत्रव्यासगाम्भीर्ये ❋

आत्तांशे नवभागे भागेन व्यासगम्भीराः ॥१२२॥
रेखाविकर्कशोक्ता सर्वेषामेव लिङ्गानाम्।
अष्टौ यवान् गृहीत्वा नवधा विभजेत्समं दृढतरधीः ॥१२३॥
एकांशेनैककरोत्तुङ्गे लिङ्गे विधातव्या।
एकैकभागवृद्ध्या नवहस्तान्ते तु लिङ्गे तु ॥१२४॥
अष्टयवान्तरगाढा सा रेखा सम्यगुद्दिष्टा।

रेखाओं की चौड़ाई एवं गहराई—सभी प्रकार के लिङ्गों में प्राप्त भाग (निश्चित किये गये भाग) में नौ भाग करने पर एक भाग से रेखाओं की चौड़ाई एवं गहराई निर्मित करनी चाहिये। ये रेखायें स्पष्ट एवं नियमानुसार होती हैं। दृढ़मति व्यक्ति को आठ यवों को लेकर (आठ यव के माप से) नौ भागों में बाँटना चाहिये। एक हाथ ऊँचे लिङ्ग में एक भाग से रेखा बनानी चाहिये। एक-एक भाग बढ़ाते हुये नौ हाथपर्यन्त लिङ्ग में आठ यव के माप से गहरी एवं लम्बी रेखा बनती है।

अर्धयवेनाप्युदिता रेखार्धयवेन पूर्ववद् वृद्धिः ॥१२५॥
सार्धचतुर्यवतारावनतिः श्रेष्ठे तु लिङ्गे तु।
मध्यमसूत्रव्यासादर्धततिः पक्षयोस्तु पृथक् ॥१२६॥
सर्वेषां रेखाणां व्यासावनतिः समा एव।

(अथवा एक हाथ के लिङ्ग में) आधे यव के माप से रेखायें निर्मित होनी चाहिये तथा श्रेष्ठ लिङ्ग में साढ़े चार यवमाप से रेखाओं की चौड़ाई एवं गहराई रखनी चाहिये। (इसके मध्य प्रत्येक हाथ माप पर) आधे यव के माप को जोड़ते जाना चाहिये। मध्य सूत्र (रेखा) की चौड़ाई की आधी पार्श्व सूत्रों की चौड़ाई होती है। अन्य सभी रेखायें समान चौड़ाई एवं माप की होती हैं।।१२५-१२६।।

❋ सामान्यविधिः ❋

अथ नागरादिकानां वक्ष्ये सामान्यलक्षणोद्धरणम् ॥१२७॥

षोडशभागे पूजाभागोच्चेऽधो विहाय नयनांशम्।
उपरिष्टाच्चतुरंशं दशभागं साग्रकं सूत्रम्॥१२८॥
मणिरेखा भ्रमणीयाधस्ताद् द्व्यंशं विहाय कं मुकुलात्।
पृष्ठे तयोर्युतिः स्यान्मुकुलव्यासं तु भागेन॥१२९॥

सामान्य नियम—अब मैं (मय) नागर आदि लिङ्गों के लक्षणोद्धरण के सामान्य नियमों का वर्णन करता हूँ। पूजा भाग की ऊँचाई के सोलह भाग करने चाहिये। इसमें नीचे दो भाग तथा ऊपर चार भाग छोड़ देना चाहिये। अग्र भागसहित सूत्र के दस भाग होते हैं। मणि रेखा दो भाग छोड़कर (पूजाभाग के) नीचे से प्रारम्भ करनी चाहिये। मुकुल को एक भाग छोड़कर वे रेखायें पृष्ठ भाग में जुड़ती हैं। मुकुल की चौड़ाई एक भाग के बराबर होनी चाहिये।।१२७-१२९।।

अथवा षोडशभागेऽधोंऽशं त्यक्त्वा दशांशके नालम्।
शेषं पूर्ववदुक्तं सामान्यं सर्वलिङ्गानाम्॥१३०॥

अथवा लिङ्ग (के शिवभाग) की ऊँचाई के सोलह भाग करने चाहिये। नीचे एक भाग छोड़कर दस भाग नाल के लिये ग्रहण करना चाहिये। शेष कार्य पूर्व-वर्णित होना चाहिये। यह नियम सभी लिङ्गों के लिये सामान्य होता है।।१३०।।

द्वादशभागे रौद्रे त्यक्त्वोर्ध्वेऽधो द्विभागमेकांशम्।
नवभागे साग्रं तच्छेषं पूर्वोक्तवत् कार्यम्॥१३१॥

अथवा शिवभाग के बारह भाग करने चाहिये। दो भाग ऊपर एवं एक भाग नीचे छोड़ना चाहिये तथा नौ भाग (सूत्र तथा) अग्र भाग (मुकुल) के लिये ग्रहण करना चाहिये। शेष पूर्ववर्णित रीति से करना चाहिये।।१३१।।

द्विर्नवभागे शैवेऽधोर्ध्वे द्व्यंशं शरांशं च।
रुद्रांशैरजसूत्रं मुकुलं भागेन पूर्ववच्छेषम्॥१३२॥

अथवा शिवभाग के अट्ठारह भाग करने चाहिये। दो भाग नीचे एवं पाँच भाग ऊपर छोड़ देना चाहिये। ग्याहर भाग अजसूत्र के लिये लेना चाहिये, जिसमें एक भाग मुकुल के लिये होता है। शेष पूर्ववत् होता है।।१३२।।

शैवे द्विरष्टभागेऽधोर्ध्वे द्वांशं युगांशकं नीत्वा।
दशभागं सूत्रोच्चं तदंशकस्त्वष्टांशकात् समारभ्य॥१३३॥
शररसमुनिवसुभागेष्वेवं लम्बपक्षयोः सूत्रे।
पृष्ठे तयोर्युतिः स्याद् भागं त्यक्त्वा पुरोक्तवच्छेषम्॥१३४॥

अथवा शिवभाग के सोलह भाग करने चाहिये। दो भाग नीचे एवं चार भाग ऊपर छोड़कर दस भाग से सूत्र की ऊँचाई रखनी चाहिये। दो सूत्र आठवें भाग से प्रारम्भ कर पाँच, छः एवं आठ भाग से ले जाते हुये पृष्ठ भाग में एक भाग पर संयुक्त करना चाहिये। शेष सभी पहले के समान होता है।।१३३-१३४।।

सूत्रेण भस्मनैव प्रथमं सूत्रं प्रवर्त्य सूत्राग्रम्।
घटिकाग्रेण विलिख्य तु पार्श्वे सूत्रेण लक्षणं कुर्यात् ॥१३५॥

सूत्र को पहले भस्म लगे सूत्र के साथ लपेटना चाहिये। इसके घटिकाग्र (सूत्र का अग्र भाग) से चिह्न बनाकर पार्श्व भाग में सूत्र से लक्षण अङ्कित करना चाहिये।।१३५।।

❋ सूत्राग्रलक्षणम् ❋

सूत्राणां सर्वेषां कर्तव्या वर्तना तदग्रे तु।
लिङ्गानां शिरसि यथा सामान्यं स्यात्तथा समुद्दिष्टम् ॥१३६॥

अश्वत्थपत्रसदृशं कदलीमुकुलोपमं यवाभं च।
अम्बुजकुड्मलसदृशं सामान्यं सर्वलिङ्गेषु ॥१३७॥

सूत्राग्रमात्तभागैकांशं व्यासोन्नतं हि मतम्।

सूत्र के अग्र भाग का लक्षण—सभी सूत्र के अग्र भाग पर गोला बनाना चाहिये। इसे लिङ्ग की आकृति के अनुसार या सामान्य नियम के अनुसार बनाना चाहिये। गोल आकृति सभी लिङ्गों में सामान्य है। यह पीपल के पत्ते के सदृश, कदली (केला) के मुकुल (कली) के समान, जौ के समान या कमलपुष्प की कली के समान होती है।

सूत्र के अग्र-भाग की चौड़ाई (शिवतत्त्व के) भाग एक भाग के बराबर एवं ऊँचाई चौड़ाई के बराबर होती है।।१३६-१३७।।

लिङ्गानामाहत्यं सूत्राग्रं वक्ष्यते विधिना ॥१३८॥

छत्राभाग्रे लिङ्गे कुञ्जरनयनोपमं तु सूत्राग्रम्।
खण्डेन्दुनिभे लिङ्गे शूलाग्रं बुद्बुदाभे च ॥१३९॥

त्रपुषाभे लिङ्गाग्रे सूत्राग्रं कुक्कुटाण्डनिभम्।
छत्राभं सूत्राग्रं लिङ्गे स्यात् कुक्कुटाण्डनिभे ॥१४०॥

सूत्र के अग्रभाग का आकार लिङ्ग (के आकार) के अनुसार कहा जा रहा है। लिङ्ग के अग्रभाग की आकृति छत्र के समान होने पर सूत्राग्र गज-नेत्र के समान होता है। लिङ्ग का अग्र भाग अर्धचन्द्र के समान एवं बुद्बुद के समान होने पर सूत्र का अग्र

भाग शूल के अग्र भाग के समान होता है। लिङ्ग का अग्र भाग त्रपुषाभ (ककड़ी) होने पर सूत्राग्र कुक्कुट (मुर्गी) के अण्डे के समान होता है। कुक्कुट के अण्डे के समान लिङ्ग के अग्र-भाग के होने पर सूत्राग्र छत्र के समान होता है।।१३८-१४०।।

नाहे सप्तदशांशेष्वेकं गृह्य त्रिधा द्व्यंशम्।
मध्यमसूत्रव्यासं तस्यार्धे पक्षयोः सूत्रे ॥१४१॥
लिङ्गायामे योज्यं सामान्यं सर्वमेतत् स्यात् ॥१४२॥

मध्यम सूत्र की चौड़ाई लिङ्ग की परिधि के सत्रह भाग करने पर दो-तिहाई के बराबर होती है तथा पार्श्वसूत्र चौड़ाई में उसके आधे होते हैं। लिङ्ग की लम्बाई में सामान्य सभी नियम उसी प्रकार होते हैं।।१४१-१४२।।

लिङ्गायामं विस्तृतं स्वस्वभेदैर्नाम्नैवैषां सम्यगुष्णीषमानम्।
छत्राभाद्युष्णीषसूत्रं मयेह प्रोक्तं युक्त्या नागरादिक्रमेण ॥१४३॥

लिङ्गों की लम्बाई एवं चौड़ाई उनके नाम एवं भेदों के साथ, उष्णीष (शिरोभाग) का मान, छत्र के समान आदि (अन्य आकृतियाँ) एवं उष्णीषसूत्र का वर्णन मैंने (मय ने) यहाँ नागर आदि क्रम से आवश्यकतानुसार किया।।१४३।।

स्फाटिकलिङ्गम्

वक्ष्येऽहं स्फाटिकं लिङ्गं नीचमध्योत्तमक्रमात्।
एकाङ्गुलं समारभ्यैवाङ्गुल्यङ्गुलवर्धनात् ॥१४४॥
षडङ्गुलान्तमुत्सेधं पूजांशं कन्यसं मतम्।
सप्ताङ्गुलं समारभ्य यावद् द्वादशमात्रकम् ॥१४५॥
पूजाभागोदयं लिङ्गे मध्यमे तु प्रकीर्तितम्।
सैकार्काङ्गुलमारभ्य चाङ्गुलाङ्गुलवर्धनात् ॥१४६॥
अष्टादशाङ्गुलं यावत् पूजांशोच्चं षडुत्तमे।
तद्घनादर्धमात्रेण वृद्ध्यैकादशसंख्यया ॥१४७॥
श्रेष्ठमध्यपरे लिङ्गे त्रयस्त्रिंशत् समुन्नतम्।

स्फटिक शिवलिङ्ग—अब मैं (मय) छोटे, मध्यम एवं उत्तम स्फटिकलिङ्ग का क्रमशः वर्णन कर रहा हूँ। छोटे लिङ्ग के पूजा-भाग की ऊँचाई एक अंगुल से प्रारम्भ होकर एक-एक अंगुल बढ़ाते हुये छः अंगुल तक जाती है। मध्यम लिङ्ग के पूजा भाग की ऊँचाई सात अंगुल से प्रारम्भ होकर बारह अंगुल तक जाती है। उत्तम लिङ्ग के पूजा भाग की ऊँचाई छः प्रकार की होती है। यह तेरह भाग से प्रारम्भ होकर

एक-एक अंगुल बढ़ाते हुये अट्ठारह भाग तक जाती है। (अथवा) ऊँचाई में डेढ़-डेढ़ अंगुल की वृद्धि करनी चाहिये। इस प्रकार (सभी लिङ्गों में) ग्यारह संख्याभेद प्राप्त होते हैं। श्रेष्ठ, मध्यम एवं कनिष्ठ लिङ्गों के तैंतीस ऊँचाई-मान (इस प्रकार) प्राप्त होते हैं।।१४४-१४७।।

पूजांशार्धत्रिभागैकं गाढं वा स्फाटिकं मतम् ॥१४८॥

समं त्रिपादमर्धं वा पूजांशोच्चस्य विस्तृतम्।
साधारं वाऽथ वृत्तं वा स्फाटिकानामथाकृतिः ॥१४९॥

वर्तना शिरसस्तस्य नागरादिषु वै यथा।
मध्ये वरे तु लिङ्गे तु ब्रह्मसूत्रं तु पूर्ववत् ॥१५०॥

ब्रह्मसूत्रं विना ह्येतत् तेजोद्रव्यं वरप्रदम्।

(पीठिका में स्थापित होने वाला) स्फटिकलिङ्ग के (अधोभाग के) पूजा भाग की ऊँचाई के आधे भाग या तीसरे भाग के बराबर होती है। पूजाभाग की चौड़ाई इसकी ऊँचाई के बराबर, तीन चौथाई या आधी होती है। स्फटिकलिङ्गों की आकृति धारा वाली या गोल होती है। इसके शिर की गोलाई नागर आदि लिङ्गों के सदृश होती है। मध्यम एवं श्रेष्ठ लिङ्ग गें ब्रह्मसूत्र पूर्ववर्णन के अनुसार होना चाहिये। विना ब्रह्मसूत्र के यह वर-प्रदाता होता है।।१४८-१५०।।

स्वव्यासद्विगुणं सार्धं द्विगुणं त्रिगुणं तु वा ॥१५१॥

पीठस्य मण्डनं नालं युक्त्या तत्र प्रयोजयेत्।
पूजांशोच्चसमं वाऽथ त्रिभागं पिण्डिकोदयम् ॥१५२॥

(लिङ्ग के पीठ की) चौड़ाई (लिङ्ग की) दुगुनी, ढाई गुनी या तीन गुनी होती है। पीठ का मण्डन (किनारा, घेरा) एवं नाल उचित रीति से निर्मित होना चाहिये। पिण्डिका (पीठ) की ऊँचाई पूजाभाग के बराबर या उसके तीन-चौथाई होनी चाहिये।

❋ मृण्मयादिलिङ्गानि ❋

मृद्वृक्षरत्नलोहैश्च कुर्यात् स्फाटिकवद् दृढम्।
मृण्मयं युक्तितः पक्वमपक्वं वा यथेष्टतः ॥१५३॥

वृक्षजं दोषनिर्मुक्तं लोहजं घनमिष्यते।
घनं साङ्गमनङ्गं वा लोहेन सकलं मतम् ॥१५४॥

लोहेन पूजितं कल्प्य भुक्तिमुक्तिफलप्रदम्।
लिङ्गं शिलेतरं सर्वं मणिलिङ्गमिति स्मृतम् ॥१५५॥

मृत्तिका-निर्मित एवं अन्य शिवलिङ्ग—लिङ्ग का निर्माण मृत्तिका, काष्ठ, रत्न एवं लौह (धाड) से स्फटिक के समान दृढ़ करना चाहिये। मृत्तिकानिर्मित लिङ्ग इच्छानुसार पक्का या कच्चा हो सकता है। काष्ठलिङ्ग दोषरहित (काष्ठ से) निर्मित होना चाहिये। धातु-निर्मित लिङ्ग घना (ठोस) होना चाहिये। लोहलिङ्ग घना होना चाहिये। लोहनिर्मित लिङ्ग अङ्गसहित मूर्ति अथवा अङ्गरहित (लिङ्गरूप) होता है। धातुनिर्मित लिङ्ग पूजित होने पर भोग एवं मुक्ति प्रदान करता है। शिला से भिन्न लिङ्ग को मणिलिङ्ग कहते हैं।।१५३-१५५।।

स्वयोन्या वाऽथ लोहेन स्फाटिकादिषु पिण्डिका।
स्वस्वयोग्यानि लोहानि स्फाटिकान्येषु पीठकम् ॥१५६॥
स्थाप्यते लोहपीठे तु रत्नजं तु स्थितिर्यथा।
सङ्कल्पकवशादत्र ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ॥१५७॥
युक्त्या योज्यं बुधैर्लिङ्गं भुक्तिमुक्तिप्रसिद्धये।

अपनी जाति की वस्तु से अथवा लोहे से अथवा स्फटिक आदि धातु या रत्न से तत्तत् लिङ्गों की रचना करनी चाहिये। स्फटिक से भिन्न वस्तु में पीठस्थान बनाना चाहिये। इस प्रकार लौहपीठ में रत्ननिर्मित प्रतिमा की स्थापना की जाती है। संकल्प के अनुसार ब्रह्मा, विष्णु एवं शंकर के लिङ्ग की युक्तिपूर्वक स्थिति भोग एवं मोक्ष प्रादान करने वाली होती है।।१५६-१५७।।

बाणलिङ्गं यथालाभं तत्तत् सम्यङ् निधापयेत् ॥१५८॥
पञ्चत्रिभागमुच्चार्धं त्रिद्व्यंशं वार्चनार्हकम्।
भागं शेषांशकं पीठबन्धं स्याद् बाणलिङ्गके ॥१५९॥

बाणलिङ्ग (स्वयम्भूलिङ्ग) को पीठिका में जिस प्रकार स्थित हो, उस प्रकार स्थापित करना चाहिये। इसका पूजाभाग पाँच में से तीन भाग, आधा या इसकी ऊँचाई का दो तिहाई होता है। शेष भाग बाणलिङ्ग में पीठबन्ध (पीठ से सम्बद्ध) होता है।।१५८-१५९।।

रेखाबिन्दुकलङ्काद्यैर्वैवर्ण्यैर्मक्षिकापदैः।
त्रासैस्तु शर्कराभिस्ते मणयो वर्जिता भृशम् ॥१६०॥

(मणिलिङ्ग के लिये) पूर्णतः त्याज्य मणियाँ इस प्रकार हैं—रेखा, बिन्दु एवं कलङ्क आदि से युक्त, विवर्ण (रङ्ग का साफ न होना), मक्षिका (चिह्न) से युक्त (काक) पद के चिह्न से युक्त, दरार-युक्त एवं शर्करा (बालुका) युक्त मणियाँ।।१६०।।

* लिङ्गस्थापनम् *

लिङ्गं महत्त्वधिष्ठाने चार्धे स्थिते च मध्यमम्।
संमाप्ते च विमाने स्यात् कन्यसं स्थापयेद् बुधैः ॥१६१॥

लिङ्ग की स्थापना—बुद्धिमान व्यक्ति को बड़े लिङ्ग की स्थापना अधिष्ठाननिर्मित होने पर, मध्यम लिङ्ग की स्थापना देवालय के आधा निर्मित होने पर तथा छोटे लिङ्ग की स्थापना देवालय के पूर्ण होने पर करनी चाहिये।।१६१।।

* लिङ्गस्थापनफलम् *

एवं स्थाप्यं लिङ्गमुक्तप्रकारं श्रीसौभाग्यारोग्यभोग्यप्रदायि।
उक्तादन्यद्यत्कृतं तद्विपत्त्यै पत्युर्नित्यं रोगशोकप्रदं स्यात् ॥१६२॥

इति मयमते वस्तुशास्त्रे लिङ्गलक्षणं
नाम त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

लिङ्ग-स्थापना का फल—वर्णित विधि से स्थापित लिङ्ग श्री, सौभाग्य, आरोग्य एवं भोग प्रदान करता है। कही गई विधि से स्थापना न करने पर स्वामी (स्थापक) के लिये विपत्तिकारक तथा नित्य रोग एवं शोक प्रदान करने वाला होता है।।१६२।।

व्याख्यात्मक टिप्पणी

लिङ्गनिर्माण (श्लोक १)

श्लोक में वर्णित भाव अगस्त्य ऋषि-प्रणीत ग्रन्थ सकलाधिकार में भी प्राप्त होता है—

सकलनिष्कलमिश्रविभागतस्त्रिविधमेव वपुः परमेष्ठिनः।
विधिमिमं सकलस्य यथोदितं शशिधरेण तथा कथयाम्यहम्।। (१.१)

लिङ्गनिर्माण हेतु शिला (श्लोक ४)

मानसार में शिलाओं का वर्णन इस प्रकार वर्णित है—

श्वेतं रक्तं च पीतं च शिलाकृष्णं यथाक्रमात्।
द्विजातीनां च वर्णानां कुर्याल्लिङ्गादिना बुधः।।
सर्वेषामपि वर्णानां सा शिला कृष्णमेव वा।
(५२.९८-९९)

लिङ्गनिर्माण हेतु त्याज्य शिला (श्लोक ५-६)

मानसार में त्याज्य शिला-लक्षणों का वर्णन इस प्रकार प्राप्त होता है—

पत्रावलीढकाश्मं चानलावटे कदाश्मना।
आतपेनावलीढं चेत् वर्जयेत्सा शिला भवेत्।। (५२.८३)

सर्वेषां वर्णपाषाणे कृष्णरेखां विसर्जयेत्।
श्वेतं च स्वर्णरेखं च सर्वसम्पत्करं शुभम्।।
(५२.९९-१००)

रेखाबिन्दुकलङ्काङ्कं वर्जयेत्तद् विशेषत:।
सौवर्णबिन्दुरेखाढ्यं सर्वसम्पच्छुभायतम्।। (५२.११६)

पुं-स्त्री-नपुंसक शिला (श्लोक ८-९)

पुंशिला, स्त्रीशिला एवं षण्डशिला का वर्णन मानसार में इस प्रकार वर्णित है—

दिक्षु दीर्घशिला सर्वा: पुंशिलानां प्रकीर्तितम्। (५२.८७)
चतुष्कोणेषु दीर्घं स्याच्छिलाषण्ड: प्रकीर्तित:। (५२.८८)
मूलमग्रं च मध्यं च समाकारं तु पुंशिला। (५२.९०)
स्थूलमूलं कृशाग्रं स्यात् स्त्रीशिला तु प्रकाशिता।
स्थूलाग्रं च कृशं मध्ये स्थूलं नपुंसकं शिला।।

चतुरस्रं पुंशिला प्रोक्तं वृत्तं स्याद् वनिता शिला।
(५२.९१-९२)

लिङ्गप्रमाण (श्लोक ३१)

ईशानशिवगुरुदेवपद्धति (क्रिया. ३६.७३) में श्लोक का भाव इस प्रकार वर्णित है—

इष्टप्रमाणं द्वित्वा तु चतुरस्रं समं शुभम्।
मुखमूलशिर:पृष्ठान्यङ्कयित्वाम्बरावृतम् ।।

शिवलिङ्ग-भेद (श्लोक ४१-४५)

शिवलिङ्ग के नागर, द्राविड एवं वेसर भेद तथा प्रत्येक के श्रेष्ठ, मध्यम एवं कनिष्ठ भेद मानसार में विस्तार से वर्णित हैं—

नागरं द्राविडं चैव वेसरं च त्रिधा मतम्। (५२.३९)
श्रेष्ठादीनि कनिष्ठान्तं प्रत्येकं त्रित्रिमानकम्। (५२.८)

प्रस्तर लिङ्ग का प्रमाण (श्लोक ४९-५१)

१. रूपमण्डन ग्रन्थ के अनुसार प्रस्तर-लिङ्ग का प्रमाण एक हाथ से लेकर एक-एक हाथ की वृद्धि करते हुये नौ हाथ-पर्यन्त होता है—

हस्तादिनवहस्तान्तं शैलं लिङ्गं विधीयते।
हस्तवृद्ध्या नवैव स्युर्मध्ये वृद्धिर्यदृच्छया।। (५.५२)

२. अपराजितपृच्छा (२०१.१-२) में भी इसी मत की पुष्टि प्राप्त होती है—

हस्तादि नवान्तं लिङ्गनवकं हस्तवृद्धितः।
हस्ताधश्च न कर्तव्यं लिङ्गं शैलमयं तथा।।

द्वारमान (श्लोक ५४-५५)

अग्निपुराण (५४ अ.) के अनुसार द्वार-मान से लिङ्ग के तीन भेद होते हैं—

द्वारमानात् त्रिसंख्याकं नवधा गर्भमानतः। (५४.९)

लिङ्ग-निर्माण के विषय में अन्यत्र इस प्रकार प्राप्त होता है—

१. अग्निपुराण (५४ अ.) के अनुसार—

तेषां कोणार्धकोणस्थैश्छिन्द्यात् कोणानि सूत्रकैः।
विस्तारं मध्यतः कृत्वा स्थाप्यं वा मध्यतस्त्रयम्।।

विभागादूर्ध्वमष्टास्रो द्व्यष्टास्रः स्याच्छिवांशकः।
पादाज्जान्वन्तको ब्रह्मा नाभ्यन्तो विष्णुरित्यतः।।

मूर्धान्तो भूतभागेशो व्यक्तेऽव्यक्ते च तद्वति।
पञ्चलिङ्गव्यवस्थायां शिरोवर्तुलमुच्यते।।
(५४.३२-३४)

२. मत्स्यपुराण में लिङ्ग-निर्माण इस प्रकार वर्णित है—

नाभ्यर्धमष्टभागेन विभज्याथ समं बुधैः।
भागत्रयं परित्यज्य विष्कम्भं चतुरस्रकम्।।

अष्टास्रं मध्यमं ज्ञेयं भागं लिङ्गस्य वै ध्रुवम्।
विकीर्णे चेत् ततो गृह्य कोणाभ्यां लाञ्छयेद् बुधः।।

अष्टास्रं कारयेत् तद्वदूर्ध्वमप्येवमेव तु।
षोडशास्रीकृतं पश्चात् वर्तुलं कारयेत्ततः।।

आयामं तस्य देवस्य नाभ्यां वै कुण्डलीकृतम्।
माहेश्वरं त्रिभागं तु ऊर्ध्ववृत्तं त्ववस्थितम्।।

अधस्ताद् ब्रह्मभागस्तु चतुरस्रो विधीयते।
अष्टास्रो वैष्णवो भागो मध्यस्तस्य उदाहृतः।।

एवं प्रमाणसंयुक्तं लिङ्गं वृद्धिप्रदं भवेत्।
(२६३.१२-१७)

३. रूपमण्डन में लिङ्गविभाग इस प्रकार वर्णित है—

ब्रह्मांशश्चतुरस्रोऽधो मध्येऽष्टास्रस्तु वैष्णव:।
पूजाभाग: सुवृत्त: स्यात् पीठोर्ध्वं शङ्करस्य च।। (४.६६)

धारालिङ्ग, साहस्रलिङ्ग के विषय में अन्य ग्रन्थों में इस प्रकार प्राप्त होता है—

१. समराङ्गणसूत्रधार में साहस्रलिङ्ग का वर्णन इस प्रकार है—

भवेत् सहस्रं लिङ्गानां सैकमित्यसमै: पदै:।
सहस्रलिङ्गमित्युक्तं पञ्चाङ्कव्यङ्कमेवता।। (७७.१४)

२. धारालिङ्ग, साहस्रलिङ्ग के विषय में मानसार का मत इस प्रकार है—

एकानेकं चोक्तलिङ्गे शिवांशे कुर्याद्धारां षोडशादिद्वयेन।
वृद्ध्या धारा यत् सहस्रावधानं धारालिङ्गे चैवमुक्तं तन्त्रै:।। (५२.६१)

स्वयम्भू लिङ्ग (श्लोक ८७-९०)

स्वयम्भू लिङ्ग के विषय में अन्यत्र इस प्रकार वर्णन प्राप्त होता है—

१. ईशानशिवगुरुदेवपद्धति के अनुसार—

अथ स्वयम्भुलिङ्गानि झर्झराणि कृशानि च।
ह्रस्वानि चाति दीर्घाणि फलकासदृशानि च।।

अनेकाग्राणि गोकर्णमातुलुङ्गनिभान्यपि।
षट्पञ्चत्रिदशाग्राणि मानोन्मानादिभिर्विना।।

शृङ्गाग्राण्यपि वक्राणि नानावर्णाकृतानि च।
सपीठान्यप्यपीठानि सालयान्यगृहाणि वा।।

वनपर्वतनद्यब्धितीर्थक्षेत्रगतान्यपि।
दर्शनस्पर्शनार्चाभिरेषां सिद्धिरनुत्तमा।।

विद्यात् स्वयम्भुलिङ्गानि येषु नित्यं स्थित: शिव:।
मूलं न शोधयेत् तेषां शोधनं सर्वनाशकृत्।।

अमीमांस्यानि तान्याहु: पूजान्येव यथास्थिति।
नैषां मूर्तिविभागोऽस्ति न च स्यान्मन्त्रशङ्कर:।।

मानुषेष्वेव लिङ्गेषु मन्त्रमूर्त्यादिशङ्कर:। (३८.४-१०)

२. जबकि रूपमण्डन में स्थूल, खण्डित, छिद्रयुक्त, शूल, बिन्दु एवं चक्रयुक्त तथा मध्यहीन आदि बाण लिङ्ग (स्वयम्भू लिङ्ग) वर्जित कहा गया है—

स्थूलं खण्डञ्च (खर्वञ्च) दीर्घञ्च स्फुटितं छिद्रसंयुतम्।
विन्दुयुक्तं च शूलाग्रं कृष्णं च चिपिटं तथा।।

चक्रञ्च (वक्रञ्च) मध्यहीनञ्च बहुवर्णञ्च यद् भवेत्।
वर्जयेन्मतिमाँल्लिङ्गं सर्वदोषकरं यतः।।(४.७५-७६)

वहीं ग्रन्थान्तर-मत भी प्राप्त होता है—

महानदीसमुद्भूतं सिद्धक्षेत्रादिसम्भवम्।
पाषाणं परया भक्त्या लिङ्गवत् पूजयेत् सुधीः।।

सदोषं गुणसंयुक्तं वाणं पूज्यं हि नित्यशः।
बलाल्लक्ष्मीं समाकृष्य भुज्यते वाणलिङ्गतः।।(४.७७-७८)

लिङ्ग के शिरोभाग (श्लोक ९३)

लिङ्ग के शिरोभाग का वर्णन अन्य ग्रन्थों में इस प्रकार है—

१. अग्निपुराण के अनुसार—

पञ्चलिङ्गव्यवस्थायां शिरो वर्तुलमुच्यते।
छत्राभं कुक्कुटाभं वा बालेन्दुपुरुषाकृतिः।
एकैकस्य चतुर्भेदैः कामभेदात्फलं वदे।।
(५४.३४-३५)

२. लिङ्ग के शिरोविधान के विषय में रूपमण्डन में इस प्रकार प्राप्त होता है—

त्रपुषाभं विस्तरार्धं कुक्कुटाण्डं शिरो मतम्।
त्रिभागे लिङ्गविस्तारे एकांशेनार्धचन्द्रकम्।।

सार्धत्र्यंशेन तुल्यं स्यादष्टांशे बुद्बुदाकृतिः।
ऊर्ध्वाधोमध्यहीनं यल्लिङ्गं नाशकरं भवेत्।।(४.६९-७०)

३. रूपमण्डन का यही भाव अपराजितपृच्छा (२०२.३३-३६) में भी प्राप्त होता है—

पूजाभाग ऊर्ध्वतः स्याद्रुद्रांशो वृत्तसंज्ञकः।।

विस्तारं चास्य लिङ्गस्य तदन्तमुपलक्षयेत्।
विभक्तिर्मस्तके तेषां लिङ्गानां पञ्चधा भवेत्।।

छत्राकारमष्टमांशे सार्धद्व्यंशं षडंशके।
त्रपुषाभं वेदभक्ते द्विभागं कुक्कुटाण्डभम्।।

विभक्ते लिङ्गविस्तारे चैकांशमर्धचन्द्रकम्।
सार्धत्र्यंशेन तुल्यं स्यादष्टांशे बुद्बुदाकृतिः।।

स्फटिक-निर्मित लिङ्ग (श्लोक १४४)

रूपमण्डन के अनुसार स्फाटिक लिङ्ग सर्वकामप्रद है—

स्फटिकं सर्वकामदम्। (४.४१)

इसकी पीठिका रजतमय होनी चाहिये—

ताम्रजं पुष्परागस्य स्फटिकस्य तु राजितम्। (४.४३)

स्फाटिक लिङ्ग का वर्णन ईशानशिवगुरुदेवपद्धति, क्रियापाद में भी प्राप्त होता है।

मृण्मयादि से निर्मित लिङ्ग (श्लोक १५३-१६०)

मृण्मयादि लिङ्गों के विषय में अग्निपुराण का मत इस प्रकार है—

पक्वापक्वं मृन्मयं स्यादपक्वात्पक्वजं परम्।।

ततो दारुमयं पुण्यं दारुजाच्छैलजं वरम्।
शैलाद्वरं तु मुक्ताजं ततो लौहसुवर्णजम्।।

राजतं कीर्तितं ताम्रं पैत्तलं भुक्तिमुक्तिदम्।
रत्नजं रसलिङ्गं च भुक्तिमुक्तिप्रदं वरम्।।

रसजं रजलोहादिरत्नगर्भं तु बन्धयेत्।
मानादि लौष्टे सिद्धादिस्थापितेऽथ स्वयंभुवि।।

बाणे च स्वेच्छया तेषां पीठप्रासादकल्पना।। (५४.२-६)

रूपमण्डन (अ. ४) में लिङ्गवर्णन इस प्रकार प्राप्त होता है—

स्थिरलक्ष्मीप्रदं हैमं राजतञ्चैव राज्यदम्।
प्रजावृद्धिकरं ताम्रं वङ्गमायुर्विवर्धनम्।।

विशेषकारकं कास्यं पित्तलं भुक्तिमुक्तिदम्।
सीसकं वंशकृल्लिङ्गमायसं पुरिनाशनम्।।

अष्टलोहमयं लिङ्गं कुष्ठरोगक्षयापहम्।
त्रिलोहसम्भवं लिङ्गमन्तर्धानप्रसिद्धिदम्।।

आयुष्यं हीरकं लिङ्गं भोगदं मौक्तिकोद्भवम्।
सुखकृत् पुष्परागोत्थं वैदूर्यं शत्रुमर्दनम्।।

श्रीप्रदं पद्मरागञ्च इन्द्रनीलं यशःप्रदम्।
लिङ्गं मणिमयं पुष्ट्यै स्फटिकं सर्वकामदम्।।(४.३७-४१)

अथ चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

(पीठलक्षणम्)

निष्कलानां तु लिङ्गानां सकलानामथाधुना ।
सामान्येन विधानेन वक्ष्येऽहं पीठलक्षणम् ॥१॥

पीठ-लक्षण—अब मैं (मय) निष्कल (जिसमें देवों के अंग न निर्मित हों) लिङ्गों एवं सकल (देवमूर्तियों) के पीठ (आधार) के सामान्य नियमों के अनुसार लक्षणों का वर्णन कर रहा हूँ।।१।।

❋ पीठद्रव्याणि ❋

जात्यैकया विधातव्यं नेष्टमन्योन्यसङ्करम् ।
आहुः शैले द्रुमे केचित् पीठं पक्वेष्टकामयम् ॥२॥

लोहजं मणिलिङ्गानां लोहजानां तु पैण्डिकम् ।
आदाय स्त्रीशिलां सम्यक् पीठं लिङ्गस्य निर्मितम् ॥३॥

पीठों के द्रव्य—(पीठ एवं लिङ्गादि का) निर्माण एक ही जाति के द्रव्य से करना चाहिये। कई द्रव्यों का मिश्रण प्रशस्त नहीं होता है। कुछ विद्वान् प्रस्तर एवं काष्ठनिर्मित लिङ्गादि में पकी ईंट से निर्मित पीठ के विषय में कहते हैं। मणिलिङ्गों एवं धातुनिर्मित लिङ्गों में धातुनिर्मित पिण्ड होना चाहिये। स्त्री-शिला को लेकर लिङ्ग के पीठ का भली-भाँति निर्माण करना चाहिये।।२-३।।

❋ पीठप्रमाणम् ❋

पूजांशं द्विगुणं हीनं श्रेष्ठं लिङ्गोन्नतेः समम् ।
नवैते पीठविस्तारास्तयोर्मध्येऽष्टभाजिते ॥४॥

उत्तमा मध्यमा हीनास्त्रित्रिभेदाः प्रकीर्तिताः ।

पीठ का प्रमाण—कनिष्ठ पीठ (लिङ्ग के) पूजाभाग का दुगुना होता है एवं श्रेष्ठ पीठ लिङ्ग की ऊँचाई के बराबर होता है। इन दोनों के मध्य आठ भाग करने पर नौ प्रकार के पीठ-विस्तार प्राप्त होते हैं। उत्तम, मध्यम एवं हीन के तीन-तीन भेद कहे गये हैं।।४।।

अथवा लिङ्गतुङ्गार्धं हीनं पादोनकं वरम् ॥५॥
तयोर्मध्येऽष्टभागे तु पीठव्यासादि पूर्ववत् ।

अथवा हीन (सबसे छोटा) पीठ लिङ्ग की ऊँचाई का आधा एवं श्रेष्ठ पीठ लिङ्ग की ऊँचाई से चतुर्थांश कम होता है। इन दोनों के मध्य आठ भाग करने पर पीठ का व्यास पूर्ववर्णन के अनुसार होता है।।५।।

विष्कम्भं त्रिगुणं वाऽथ नाहतुल्यविशालकम् ॥६॥
गर्भागारं त्रिभागैकं चतुर्भागकमेव वा ।
विष्कम्भकर्णाद्विगुणं सार्धं च त्रिगुणं तु वा ॥७॥

पीठ की चौड़ाई लिङ्ग की परिधि की तीन गुनी, परिधि के बराबर या गर्भगृह के तीसरे भाग के बराबर या चौथे भाग के बराबर अथवा लिङ्ग की चौड़ाई की दुगुनी, ढाई गुनी या तीन गुनी होनी चाहिये।।६-७।।

पीठविस्तारमुद्दिष्टं स्वाष्टांशोनमथोपरि ।
मण्डनाय स्वविस्ताराष्टांशोनैवाधिकं ततः ॥८॥
सर्वेषामपि पीठानां जन्मान्तं मूलविस्तृतम् ।
अग्रव्यासं महापट्टिकान्तं सम्यक् प्रकीर्तितम् ॥९॥
विष्णुभागसमोत्सेधं सपादं सार्धमेव वा ।

पीठ के विस्तार को आठ भाग कम रखना चाहिये। इसके ऊपर सजावट होती है। विस्तार को या तो आठ भाग कम रखना चाहिये या आठ भाग बढ़ाकर रखना चाहिये। सभी पीठों के मूल भाग (नीचे का) विस्तार जन्मभाग तक होता है एवं ऊपरी भाग का विस्तार महापट्टिका तक होता है। यह विष्णुभाग के बराबर, सवा भाग या डेढ़ भाग अधिक होता है।।८-९।।

पीठाकारः

चतुरस्त्रं च वस्वस्त्रं षडस्त्रं द्वादशास्त्रकम् ॥१०॥
द्विरष्टास्त्रं सुवृत्तं च तेषामेवायतान्यपि ।
त्रिकोणमर्धचन्द्रं च चतुर्दशनिभानि वै ॥११॥

पीठ की आकृति—पीठ की आकृति चौकोर, अष्टकोण, षट्कोण, बारहकोण, सोलह कोण, वृत्ताकार या उन्हीं में आयताकार हो सकती है। यह त्रिकोण या अर्धचन्द्र भी हो सकती है। इस प्रकार इसकी चौदह आकृतियाँ हो सकती हैं।।१०-११।।

समानि यानि लिङ्गस्य तानि पीठानि संज्ञया।
सायतान्यासनानीति सकलानां वदन्ति वै ॥१२॥
त्रिकोणमर्धचन्द्रं च निष्कले सकले क्रमात्।

सम पीठ लिङ्गों के अनुकूल होते हैं। आयत पीठ सकल (मूर्तियों) के लिये होते हैं। त्रिकोण एवं अर्धचन्द्र पीठ क्रमशः निष्कल (लिङ्ग) एवं सकल (मूर्ति) के अनुकूल होते हैं।।१२।।

✵ पीठनामानि ✵

भद्रपीठं च पद्मं च वज्रपीठं महाम्बुजम् ॥१३॥
श्रीकरं पीठपद्मं च महावज्रं च सौम्यकम्।
श्रीकाम्याख्यमिति प्रोक्ता नाम्नैता नव पीठिकाः ॥१४॥
स्वाम्नाकृतियुक्त्या तु त्रिकोणार्धेन्दुसंयुते।

पीठों के नाम—नौ पीठों के नाम इस प्रकार कहे गये हैं—भद्रपीठ, पद्मपीठ, वज्रपीठ, महाम्बुज, श्रीकर, पीठपद्म, महावज्र, सौम्यक एवं श्रीकामाख्य। त्रिकोण एवं अर्धचन्द्र पीठ अपने नाम के अनुरूप होते हैं।।१३-१४।।

पीठिकानामलङ्कारं क्रमशो वक्ष्यतेऽधुना।
गृहीतोत्सेधमानांशवशेन विविधेन च ॥१५॥

अब ऊँचाई एवं अनेक भागों के अनुसार पीठों के सजावटों का वर्णन किया जा रहा है।।१५।।

✵ भद्रपीठम् ✵

त्रिःपञ्चांशे द्व्यंशि जन्मं युगांशं वप्रं सार्धं पद्मकं तद्दृगर्धम्।
कुम्भं द्व्यंशं क्षेपणं चार्धमूर्ध्वे ग्रीवं सार्धं पूर्ववत् क्षेपणोच्चम् ॥१६॥
द्व्यंशं पट्टं स्नेहवार्यर्धभागं तत् सामान्यं भद्रपीठं सुहृष्टम्।
विप्रोर्वीभृद्वैश्यकानां परेषां श्रीसौभाग्यारोग्यभोग्यप्रदायि ॥१७॥

भद्रपीठ—पीठ की ऊँचाई के पन्द्रह भाग किये जाते हैं। इसमें दो भाग से जन्म (प्लिन्थ), चार भाग से वप्र, डेढ़ भाग से पद्मक, आधे भाग से कुम्भ, दो भाग से क्षेपण, ऊर्ध्व भाग में आधे भाग से ग्रीव तथा उसी प्रकार क्षेपण की ऊँचाई होती है। दो भाग से पट्ट एवं आधे भाग से स्नेहवारी होती है। ये भद्रपीठ के सामान्य वैशिष्ट्य हैं, जो प्रसन्नता प्रदान करते हैं। ये ब्राह्मणों, राजाओं, वैश्यों एवं दूसरों को श्री, सौभाग्य, आरोग्य एवं भोग प्रदान करते हैं।।१६-१७।।

॥ पद्मपीठम् ॥

द्विरष्टभागेऽश्विनिबाणनेत्रैर्युगांशनेत्रेन्दुभिरत्र पट्टम्।
पद्मं च वृत्तं च दलं च पट्टं स्यात् पद्मपीठं घृतवारियुक्तम् ॥१८॥

पद्मपीठ—पद्म पीठ की ऊँचाई को सोलह भागों में बाँटना चाहिये। दो भाग से पट्ट, पाँच भाग से पद्म, दो भाग से वृत्त, चार भाग से दल, दो भाग से पट्ट एवं एक भाग से घृतवारि होना चाहिये।।१८।।

॥ वज्रपद्मपीठम् ॥

द्विःसप्तांशे सार्धमर्धं गुणार्धं जन्मं निम्नं पङ्कजं तत्क्रमेण।
पट्टं निम्नं चार्धमर्धं तु भागं वज्रं निम्नं कम्पकं पूर्ववत् स्यात् ॥१९॥
त्र्यंशं पद्मं निम्नमर्धं तदूर्ध्वेऽध्यर्धार्धांशा पट्टिकाज्यार्थभागा।
एतत्पीठं वज्रपद्मं हि नाम्ना सामान्यं तत्सर्वलिङ्गेषु शस्तम् ॥२०॥

वज्रपीठ—पीठ की ऊँचाई के चौदह भाग होते हैं। जन्म डेढ़ भाग से, निम्न आधा भाग से, पद्म साढ़े तीन भाग से क्रमशः होते हैं। पट्ट एवं निम्न आधे-आधे भाग से तथा वज्र, निम्न एवं कम्पक पहले के समान होते हैं। तीन भाग से पद्म, आधे भाग से निम्न, उसके ऊपर डेढ़ भाग से पट्टिका होती है। हवन के लिये आधे भाग से पीठ का निर्माण करना चाहिये। इस पीठ का नाम वज्रपीठ है एवं यह सभी लिङ्गों के लिये प्रशस्त होता है।।१९-२०।।

॥ महाब्जपीठम् ॥

त्रिःषड्भागे द्व्यर्धवेदांशकार्धैः सार्धद्व्यर्धार्धार्धकार्धानलांशैः।
अर्धाध्यर्धार्धांशकैर्जन्ममब्जं पट्टं निम्नं पङ्कजं वृत्तमब्जम् ॥२१॥
निम्नं पट्टं पङ्कजं स्यात्तदूर्ध्वे श्रीपट्टं तत्स्नेहभारं क्रमेण।
एतन्नाम्ना सम्यगुक्तं महाब्जं चित्रं सद्भिः पौरुषे चार्षकेऽपि ॥२२॥

महाब्ज पीठ—पीठ की ऊँचाई के अट्ठारह भाग करने चाहिये। जन्म ढाई भाग से, अब्ज चार भाग से, पट्ट आधे भाग से, निम्न डेढ़ भाग से, पङ्कज ढाई भाग से, वृत्त आधे भाग से, अब्ज आधे भाग से, निम्न आधे भाग से, पट्ट तीन भाग से, पंकज आधे भाग से निर्मित होते हैं। श्रीपट्ट डेढ़ भाग से एवं उसका स्नेह-भार आधे भाग से होता है। इस पीठ की संज्ञा महाब्ज होती है एवं यह मनुष्यों तथा ऋषियों द्वारा निर्मित लिङ्ग के लिये प्रशस्त होता है।।२१-२२।।

॥ श्रीकरपीठम् ॥

लब्ध्योत्सेधे षोडशांशेंऽशिजन्म त्र्यंशं वप्रं पद्मतुङ्गं युगांशम्।
हृद्भागार्धं द्व्यंशिवृत्तं धृगर्धं पद्मं त्र्यंशं पट्टिका सार्धभागा ॥२३॥

अर्धांशं तत् स्नेहवार्यर्धखातं तावद्व्यासं त्र्यंशकं वा युगांशम्।
नालव्यासं निर्गमं तत् त्रियंशं कुर्यादग्रं श्रीकरं श्रीकरं तत् ॥२४॥

श्रीकर पीठ—पीठ की ऊँचाई के सोलह भाग करने चाहिये। एक भाग से जन्म, तीन भाग से वप्र, चार भाग से पद्म, आधे भाग से ह्रद्, दो भाग से वृत्त, आधे भाग से धृग्, तीन भाग से पद्म, डेढ़ भाग से पट्टिका, स्नेहवारि आधे भाग से तथा उसकी चौड़ाई भी उतने ही भाग से होती है। नाल का व्यास तीन या चार भाग से एवं इसका निर्गम तीन भाग से होता है। इसका अग्र श्रीप्रदान करने वाला होता है एवं यह पीठ श्रीकर संज्ञक होता है।।२२-२४।।

❋ पीठपद्मपीठम् ❋

अध्यर्धार्धद्व्यर्धकार्धार्धकार्धैः पक्षार्धैर्द्व्यर्धैः खुरं निम्नमब्जम्।
पट्टं निम्नं पट्टमब्जं तु निम्नं पट्टं निम्नं पीठपद्मं दशांशे ॥२५॥

पीठपद्म पीठ—पीठपद्म पीठ की ऊँचाई को दस भागों में बाँटा जाता है। खुर डेढ़ भाग, निम्न आधा भाग, अब्ज ढाई भाग, पट्ट आधा भाग, निम्न आधा भाग, पट्ट आधा भाग, अब्ज ढ़ाई भाग, निम्न आधा भाग, पट्ट डेढ़ भाग एवं निम्न आधा भाग से निर्मित होता है।।२५।।

❋ महावज्रसौम्यपीठे ❋

त्रिःपञ्चांशे लब्धतुङ्गे च सार्धं चार्धं वेदद्व्यर्धसार्धेन्दुभागैः।
अर्धद्व्यर्धाध्यर्धकार्धैः क्रमेण जन्मं निम्नं पट्टकं तत्क्रमेण ॥२६॥

जन्मं निम्नं पङ्कजं पट्टकं तद्वज्रं वृत्तं क्षेपणं कञ्जमूर्ध्वे।
पट्टं निम्नं तन्महावज्रमुक्तं नाम्ना सौम्यं सर्वसम्पत्करं स्यात् ॥२७॥

वज्रं वृत्तं तुङ्गनाम्ना तदेव सौम्यं पीठं सम्पदायुष्करं स्यात्।

महावज्र एवं सौम्य पीठ—पीठ की ऊँचाई को पन्द्रह भागों में बाँटना चाहिये। जन्म डेढ़ भाग से, निम्न एक भाग से, पट्ट चार भाग से अथवा जन्म डेढ़ भाग से, निम्न एक भाग से, पङ्कज चार भाग से, वज्र ढाई भाग से, वृत्त डेढ़ भाग से, कञ्ज ढाई भाग से, उसके ऊपर पट्ट डेढ़ भाग से एवं निम्न आधे भाग से होता है। इस सौम्य पीठ को महावज्र कहते हैं। यह सभी प्रकार की सम्पत्तियाँ प्रदान करता है। वहीं जब वृत्त वज्राकार हो तो उस सौम्य पीठ को तुङ्ग कहते हैं। यह सम्पत्ति एवं आयु प्रदान करता है।।२६-२७।।

❋ श्रीकाम्यपीठम् ❋

द्विःषड्भागे चन्द्रनेत्रार्धभागैः सार्धार्धार्धैः सार्धसार्धार्धकार्धैः ॥२८॥

अध्यर्धेनार्धेन जन्मं तु वप्रं निम्नं पद्मं धृग्दलं वृत्तमब्जम्।
धृक्पद्मं तत्पट्टिकानिम्नपट्टं श्रीकाम्यं तल्लब्धतुङ्गे मयोक्तम्॥२९॥

श्रीकाम्य पीठ—पीठ की ऊँचाई को बारह भाग में बाँटा जाता है। जन्म एक भाग से, वप्र दो भाग से, निम्न आधे भाग से, पद्म डेढ़ भाग से, धृग्दल डेढ़ भाग से, वृत्त डेढ़ भाग से, अब्ज डेढ़ भाग से, धृक् आधे भाग से, पद्म आधे भाग से, पट्टिका डेढ़ भाग से एवं निम्न आधे भाग से होता है। इसे श्रीकाम्य पीठ कहते हैं, जिसका वर्णन मैंने (मय ने) किया।।२८-२९।।

पीठसामान्यलक्षणम्

धाम्नि प्रोक्तान्यप्यधिष्ठानकानि।
तान्यप्यस्मिन्मण्डनीयानि युक्त्या॥३०॥
यथाबलं यथाशोभं यथायुक्ति प्रवेशनम्।
निर्गमं सर्वपीठानामङ्गानां परिकल्पयेत्॥३१॥

पीठ के सामान्य लक्षण—भवनों के अधिष्ठान इस प्रकार होने चाहिये, जिससे कि उसके अलंकरण उस (भवन) के अनुसार हों अर्थात् भवन एवं अधिष्ठान (अथवा पीठ) में एकलयता हो। सभी पीठों के अंगों के प्रवेश एवं निर्गम इस प्रकार निर्मित होने चाहिये कि जिससे पीठ दृढ़, सुन्दर एवं उचित लगे।।३०-३१।।

पीठव्यासत्रिभागैकं चतुर्भागैकमेव वा।
निर्गमं मूलविस्तारं प्रणालस्य प्रकल्पयेत्॥३२॥
मूलादर्धं त्रिपादं वा त्रिभागैकांशमेव वा।
प्रणालस्याग्रविस्तारं त्रिपादं वा घनं समम्॥३३॥

पीठ के प्रणाल का मूल-विस्तार एवं लम्बाई क्रमशः पीठ के विस्तार के तीसरे भाग तथा चौथे भाग के बराबर होती है। प्रणाल के अग्रभाग का विस्तार मूल के विस्तार के आधे, दो तिहाई या तीसरे भाग के बराबर होता है। इसकी मोटाई इसकी चौड़ाई के तीन चौथाई के बराबर होती है।।३२-३३।।

गजोष्ठसदृशाकारं गोमुखाकारमेव वा।
मूलाग्रविपुलत्र्यंशव्यासं स्यात् खातनिम्नकम्॥३४॥
इष्टदिङ्मुखलिङ्गस्य पीठमध्यं तदेव हि।
नालं वामे प्रकर्तव्यं सधारं वा यथारुचि॥३५॥

प्रणाल की आकृति हाथी के ओष्ठ के समान या गाय के मुख के समान होनी

चाहिये। इसके निम्न खात (गड्डा) की चौड़ाई प्रणाल की चौड़ाई के तीसरे भाग के बराबर मूल एवं अग्र भाग में होनी चाहिये। अभीष्ट दिशा में लिङ्ग होने पर पीठ के मध्य के वाम भाग में प्रणाल होता है। इसे आधारयुक्त बनाना चाहिये।।३४-३५।।

अग्रपट्टस्य विस्तारं स्वोच्छ्रयेण समन्वितम्।
सपादं वाऽथ सार्धं वा त्रिपादं वा यथाबलम्॥३६॥

तत्पट्टस्य घनं खातं तन्मूले कारयेद् बुधः।
क्रमेणोन्नतिमल्लिङ्गसङ्गमं परिकल्पयेत्॥३७॥

शिवभागमधःपीठात् किञ्चिदप्यवलम्बनम्।
उन्नतं यदि चेन्नित्यं सर्वेषामशुभं भवेत्॥३८॥

अग्र पट्ट की चौड़ाई इसकी लम्बाई के बराबर या सवा भाग, आधा या तीन चौथाई इसकी दृढ़ता के अनुसार रखनी चाहिये। मुनियों के अनुसार उस पट्ट का गर्त पट्ट की मोटाई के बराबर गहरा बनाना चाहिये। इस खात के तल को इस प्रकार निर्मित करना चाहिये, जिससे कि उसका तल क्रमशः बढ़ते हुये लिङ्ग से मिले। शिवतत्त्व का मूल पीठ के ऊपरी तल से थोड़ा नीचा होना चाहिये। यदि यह उससे ऊँचा होगा तो सभी का अशुभ होता है।।३६-३८।।

ज्याकारमर्धचन्द्रस्य प्रकुर्याद् द्वारसम्मुखम्।
पीठस्यास्य त्रिकोणस्य ऋज्वंशं द्वारसम्मुखम्॥३९॥

पीठास्त्रं द्वारसूत्रस्य वेधकं नेष्यते बुधैः।

अर्धचन्द्र पीठ का धनुषाकार भाग द्वार के सामने होना चाहिये तथा त्रिकोण पीठ का सीधा भाग द्वार के सम्मुख होना चाहिये। विद्वानों के अनुसार पीठ के कोण को द्वार-सूत्र का वेध नहीं करना चाहिये।।३९।।

दृषदैकेन कर्तव्यं पीठं निःसन्धिकं शुभम्॥४०॥

एकालाभेऽपि कर्तव्यमेकयैवोर्ध्वमण्डनम्।
क्षुद्रे महति मध्येषु चागतं सन्धिमण्डितम्॥४१॥

एक ही पत्थर से विना सन्धि के निर्मित पीठ शुभ होता है। यदि एक ही पत्थर न प्राप्त हो तो पीठ का ऊपरी भाग एक पत्थर का होना चाहिये। छोटे एवं बड़े पीठ में मध्य भागों में सन्धि नहीं होनी चाहिये।।४०-४१।।

उपर्युपरि पीठानां सन्धिरङ्गावसानके।
नालमध्येऽर्धमध्ये च कर्णे सन्धिं न सन्धयेत्॥४२॥

ऊपरी भाग में पीठ के भागों की सन्धि अन्त में होनी चाहिये। प्रणाल के मध्य में, (पीठ के) आधे भाग के मध्य में एवं कोणों पर सन्धि नहीं होनी चाहिये।।४२।।

युञ्जीयाद् दक्षिणे वामे दीर्घादीर्घं यथाक्रमम्।
त्रिखण्डं वाप्यनेकं वाधोगतं युक्तितो न्यसेत्॥४३॥

लम्बे एवं छोटे भागों के दक्षिण एवं वाम भाग को नियमानुसार जोड़ना चाहिये। पीठ के निचले भाग को तीन खण्ड़ों में अथवा आवश्यकतानुसार बनाना चाहिये।।४३।।

❋ ब्रह्मशिला ❋

लिङ्गायामसमव्यासा श्रेष्ठा ब्रह्मशिलापरा।
पूजांशद्विगुणाष्टांशे तयोर्मध्ये तु भाजिते॥४४॥

पूर्ववन्नवधा व्यासा स्वव्यासार्धोन्नता वरा।
व्यासार्धार्धघना हीना तयोर्मध्ये तु पूर्ववत्॥४५॥

ब्रह्मशिला—ब्रह्मशिला की सबसे बड़ी चौड़ाई लिङ्ग की ऊँचाई के बराबर होती है। सबसे छोटा माप लिङ्ग के पूजा भाग की ऊँचाई का दुगुना होता है। इन दोनों के मध्य के अन्तर को आठ भागों में बाँटते हैं। इस प्रकार विस्तार के नौ प्रकार बनते हैं। इसकी सबसे अधिक मोटाई विस्तार की आधी होती है एवं सबसे कम मोटाई चौड़ाई की चतुर्थांश होती है। इन दोनों के मध्य के भेद को पहले के समान बाँटते हैं।।४४-४५।।

अथवा लिङ्गविष्कम्भद्विगुणा श्रेष्ठविस्तरा।
अध्यर्धं कन्यसी प्रोक्ता स्वव्यासार्धत्रिपाद्घना॥४६॥

व्यासोत्सेधेषु तेष्वेवं पूर्ववन्नवधा भवेत्।

अथवा ब्रह्मशिला की श्रेष्ठ चौड़ाई लिङ्ग की परिधि की दुगुनी होती है। सबसे कम चौड़ाई (लिङ्ग की परिधि) डेढ़ गुनी होती है। इसकी मोटाई चौड़ाई की तीन चौथाई होती है। सबसे कम माप चौड़ाई की आधी होती है। व्यास एवं मोटाई (या ऊँचाई) के दोनों मापों के मध्य के भेद पहले के समान नौ भेद बनते हैं।।४६।।

आकृतिर्ब्रह्मभागस्य संस्थानं तु यथा तथा॥४७॥

लिङ्गव्याससमं व्यासं मध्ये खातं प्रकल्पयेत्।
स्वव्यासार्धं तु वाष्टांशं गम्भीरं लिङ्गमूलवत्॥४८॥

न्यस्तरत्नयुतं सम्यक् श्लिष्टं तल्लिङ्गमूलतः।
नपुंसकाश्मना तत्र कर्तव्या ब्रह्मणः शिला॥४९॥

(लिङ्ग के) ब्रह्म भाग को स्थापित करने के लिये (ब्रह्मशिला) के मध्य में ब्रह्मतत्त्व के आकार के अनुसार गड्ढा बनाना चाहिये। गर्त की गहराई उसकी चौड़ाई के आधी होती है अथवा लिङ्ग के निचले भाग की ऊँचाई के आठवें भाग के बराबर होती है। इसमें रत्नों को रखना चाहिये एवं इसमें लिङ्ग के मूल भाग को भली-भाँति दृढ़तापूर्वक स्थापित करना चाहिये। ब्रह्मशिला को नपुंसक शिला से निर्मित करना चाहिये।

❋ नन्द्यावर्तशिलाः ❋

पीठब्रह्माश्मनोर्नन्द्यावर्ताभा मध्यमे शिलाः ।
चतस्रस्ताः प्रयोक्तव्याः प्रादक्षिण्यक्रमेण तु ॥५०॥

नन्द्यावर्त शिलायें—चार शिलायें प्रदक्षिणक्रम से ब्रह्मशिला एवं पीठ के मध्य के अवकाश में नन्द्यावर्त आकृति निर्मित करती हैं।।५०।।

❋ प्रतिमापीठानि ❋

स्थानकासनयुक्तानां प्रतिमानां परेऽपरे ।
एकद्वित्रिचतुःपञ्चषण्मात्रं वाधिकं ततः ॥५१॥

आसनानां स्वविस्तारादष्टभागाधिदैर्घ्यकम् ।
द्विगुणान्तं निजायामं मण्डनं पैण्डिके यथा ॥५२॥

प्रतिमाओं के पीठ—मूत्तियों की पीठों में कुछ स्थानक (खड़ी) एवं कुछ आसन (बैठी) प्रतिमाओं के अनुकूल होती हैं। आसन-प्रतिमाओं के (पीठ की चौड़ाई) (उन प्रतिमाओं से) एक, दो, तीन, चार, पाँच या छः अंगुल अधिक होती है। इसकी लम्बाई उसकी चौड़ाई से आठ भाग अधिक होती है। पीठ की चौड़ाई (प्रतिमा की) चौड़ाई के दुगुने से अधिक नहीं होनी चाहिये।।५१-५२।।

त्रिचतुःपञ्चभागोच्चे बेरायामे यथक्रमम् ।
शयने चासने भागं स्थानके विष्टरोदयम् ॥५३॥

यथोचितं तथा दैर्घ्यव्यासं स्याच्छयनेऽपि च ।

पीठ की ऊँचाई प्रतिमा की ऊँचाई के तीसरे भाग के बराबर होती है, यदि शयन-प्रतिमा हो। आसन-प्रतिमा में चौथे भाग एवं स्थानक प्रतिमा में पाँचवें भाग के बराबर पीठ होता है। शयन प्रतिमा के (पीठ की) लम्बाई एवं चौड़ाई यथोचित (पूर्ववर्णित) रीति से ग्रहण करनी चाहिये।।५३।।

ब्रह्मादीनां तु देवानां देवीनामासनं मतम् ॥५४॥

सोपपीठं गुहाङ्घ्रिस्थसिंहं सिंहासने मतम् ।
त्रिपक्षे वीचिसंयुक्ते नानामण्डनमण्डिते ॥५५॥

सिंहासनविधिं दृष्ट्वा विधेया तदलङ्कृतिः ।

ब्रह्मा आदि देवों एवं देवियों के आसन को सिंहासन कहते हैं। जब इसे पीठ पर स्थापित किया जाता है, तब इसके पाद सिंह के सदृश होते हैं। इसके तीन ओर तरङ्गे निर्मित होती हैं एवं यह विभिन्न अलंकरणों से सुसज्जित होता है। इस सिंहासन की निर्माणविधि को देखकर इसका अलंकरण करना चाहिये।।५४-५५।।

पीठमानतः प्रासादमानानि

बाणलिङ्गादिलिङ्गानामार्षाणां च स्वयम्भुवाम् ।।५६।।
पीठं प्रासादरूपं च यथेष्टं कारयेद् बुधः ।
पूर्वोक्ते पौरुषे लिङ्गे पीठव्यासादि पूर्ववत् ।।५७।।
तन्मानेन विमानानां विस्तारं सम्यगुच्यते ।
पीठस्य द्विगुणं गेहं चतुःपञ्चगुणं तु वा ।।४८।।
नालीगेहस्य विस्तारं पूर्ववद्वा विधीयते ।
त्रिभागेनैकमर्धं वा दृढं वा भित्तिविस्तृतम् ।।५९।।
सान्धारं वा निरन्धारं कूटकोष्ठादि पूर्ववत् ।
लिङ्गमानवशात् सौधं प्रोक्तं पूर्ववदुच्छ्रयम् ।।६०।।

पीठ के प्रमाण के अनुसार प्रासाद का प्रमाण—बाणलिङ्ग आदि के, ऋषियों द्वारा निर्मित लिङ्गों के तथा स्वयम्भू लिङ्गों के पीठों का निर्माण बुद्धिमान व्यक्ति इच्छानुसार प्रासाद की आकृति का कर सकता है। पूर्ववर्णित पुरुषनिर्मित लिङ्गों के पीठ के विस्तार आदि के माप पहले कहे गये नियमों के अनुसार होने चाहिये। पीठों के प्रमाण के अनुसार विमान (देवालयों) के विस्तार का सम्यक् प्रकार से वर्णन किया जा रहा है। नालीगेह (गर्भगृह) का विस्तार पीठ का दुगुना, चौगुना या पाँच गुना होना चाहिये या पहले के समान (माप के अनुसार) निर्मित करना चाहिये। इसकी भित्ति की मोटाई इसके तीसरे भाग या आधे के बराबर होती है। यह अन्धार (परिक्रमा-मार्ग) से युक्त या विना अन्धार के हो सकती है। कूट एवं कोष्ठ आदि पहले के सदृश (निर्मित) होते हैं। प्रासाद का वर्णन लिङ्ग के प्रमाण के अनुसार किया गया, जिसकी ऊँचाई पहले के समान होती है।।५६-६०।।

बेरमानतः प्रासादमानानि

गृहीतभवनस्तम्भद्वारमानवशादपि ।
यथाजातं तथा बेरवशात् सौधं प्रकल्पयेत् ।।६१।।

तथैव सकलस्यापि प्रासादं परिकल्पयेत्।
बेरायामसमं गेहमध्यर्धं द्विगुणं मतम् ॥६२॥
बेरायामे त्रिभागे तु द्व्यंशाधिकविशालकम्।
गर्भगेहस्य विस्तारे चतुर्भागे त्रिभागिके ॥६३॥
द्विभागे चन्द्रभागं तु स्वविशालार्धमानकम्।

बेर = प्रतिमा के मान के अनुसार देवालय का प्रमाण—देवालय का निर्माण जिस प्रकार भवन के स्तम्भ एवं द्वार के प्रमाण के अनुसार होता है, उसी प्रकार प्रतिमा के प्रमाण के अनुसार भी होता है। इसी प्रकार आकारयुक्त प्रतिमा के अनुसार भी देवालय का निर्माण करना चाहिये। (गर्भ) गृह का विस्तार बेर की लम्बाई के बराबर, उससे डेढ़ गुना या दुगुना होना चाहिये। (अथवा) बेर के पाँच भाग में तीन भाग के बराबर विस्तार रखना चाहिये। (अथवा) बेर (की लम्बाई) गृह के विस्तार के चार भाग, तीन भाग या आधे के बराबर एवं (गर्भगृह की चौड़ाई) (उसकी ऊँचाई) की आधी होनी चाहिये।।६१-६३।।

❋ अष्टबन्धसंग्रहणम् ❋

लाक्षागुलमधूच्छिष्टगुग्गुलूनां समांशकाः ॥६४॥
एतेषां द्विगुणं भागं ग्राह्यं सर्जरसं तदा।
गैरिकाचूर्णकं तस्मादर्धं तु घनचूर्णकम् ॥६५॥
सर्वेषामर्धतस्तैलं निक्षिपेल्लोहभाजने।
लोहदर्व्या चलं कुर्यात् पाचयेन्मृदुवह्निना।
अष्टबन्धमिति प्रोक्तमश्मवद् दृढबन्धनम् ॥६६॥

अष्टबन्ध = गारा का संग्रह—लाक्षा (लाख), गुड़, मधु, उच्छिष्ट गुग्गुल की समान मात्रा एवं इसका दुगुना सर्जरस (साल वृक्ष का रस) लेना चाहिये। इसमें गैरिकचूर्ण एवं इसका आधा घनचूर्ण (सम्भवतः ईंट का चूर्ण) लेना चाहिये। इन सभी का आधा तेल लेकर लोह (धातु) के पात्र में डालना चाहिये। इन सभी को लोह (धातु) के कलछुल से चलाकर (मिलाकर) धीमी आँच पर पकाना चाहिये। इसे अष्टबन्ध कहते हैं। यह प्रस्तर के समान दृढ़ता से जोड़ता है।।६४-६६।।

❋ गर्भगृहे बेरस्थानानि ❋

स्थापनीयमिह कर्तुरिच्छया लिङ्गमेकमथवाप्यनेककम्।
यत्र यत्र परितस्तु मध्यमे भित्तितस्त्वपि च येन केन वा ॥६७॥

एकधाम्नि बहुधाम्नि वा ततः शूललिङ्गभवनं महत्तरम्।
शेषमत्र विधिनोहनीयकं शिल्पविद्दृढतरेण बुद्धिना ॥६८॥

गर्भगृह में बेर के स्थान—(देवालय) कर्ता की इच्छा के अनुसार एक या अनेक लिङ्गों की स्थापना करनी चाहिये। इसे मध्य में, भित्ति के पार्श्वों में या जहाँ-जहाँ चारो ओर चाहें, स्थापित किया जा सकता है। देवालय एक या कई हो सकते हैं। इनमें शूल एवं लिङ्ग वाला भवन अन्य भवनों से बड़ा होना चाहिये। शेष भवनों को बुद्धिमान स्थपति को उससे हीन बनाना चाहिये।।६७-६८।।

गर्भागारे सप्तसप्तांशकेंऽशं
मध्ये ब्राह्मं दैविकं चाष्टभागम्।
मानुष्यं तत् षोडशांशं बहिष्ठात्
पैशाचांशं स्याच्चतुर्विंशमंशम् ॥६९॥

गर्भ-गृह को उनचास भागों में बाँटना चाहिये। मध्य के आठ भागों में ब्रह्मा का पद होता है। चारो ओर आठ भाग आठो देवताओं के लिये, इसके बाहर सोलह भाग मनुष्यों के लिये एवं बाहर के चौबीस भाग पिशाच के लिये होते हैं।।६९।।

शैवं ब्राह्मे वैष्णवं दैविकांशे सर्वे देवा मानुषे स्थापनीयाः।
पैशाचांशे मातरश्चासुराद्या रक्षोगन्धर्वादियक्षाश्च शेषाः ॥७०॥

मध्ये सूत्रं ब्रह्मणस्तस्य वामे
शम्भोर्मध्यं विष्णुसूत्रं तयोश्च।
एवं नीत्वा दिग्गतं तत्क्रमेण
स्थाप्याः सर्वा देवता विष्णुसूत्रे ॥७१॥

शिवलिङ्ग को ब्रह्मा के भाग में, विष्णु को देवों के भाग में, अन्य देवों को मनुष्यों के भाग में, पिशाचभाग में मातृदेवों, असुरों, राक्षसों, गन्धर्व आदि देवों, यक्षों एवं अन्य शेष देवों की स्थापना करनी चाहिये। मध्य में ब्रह्मा का सूत्र होता है। उसके वाम भाग में शिव तथा दोनों के मध्य में विष्णुसूत्र होता है। देवों को क्रमशः विष्णुसूत्र पर स्थापित करना चाहिये। ये सूत्र दिशाओं से खींचे जाते हैं।।७०-७१।।

सकलमकललिङ्गं मिश्रकं वा विधिज्ञः
स्थपतिरचलधीमान् स्थापयेत् सावधानः।
सुवृतकनकयज्ञो भूषणैः संविभूष्य
सकलविभवयुक्तः स्थापकेनैव सार्धम् ॥७२॥

सर्वात्मीयं लिङ्गमाकाशरूपं तस्माल्लिङ्गं पौरुषं स्थापनीयम्।
तज्ज्ञैर्युक्त्या सावकाशालये वा पश्चाद्बध्नीयात्तु मूर्ध्नेष्टकां वा ॥७३॥

लिङ्ग सकल (अंगों से युक्त), अकल (अंगविहीन) या मिश्रित हो, बुद्धिमान स्थपति को सावधान होकर स्थिरतापूर्वक उसे स्थापित करना चाहिये। (स्थपति को) सुवर्ण यज्ञोपवीत तथा आभूषणों से सुसज्जित होकर, सभी प्रकार के वैभव से युक्त होकर (लिङ्ग के) स्थापक के साथ (शिवलिङ्ग) की स्थापना करनी चाहिये। सर्वात्म लिङ्ग (सामान्यतया आकृतिहीन होने के कारण) आकाशरूप होते हैं। इसलिये मनुष्यनिर्मित लिङ्ग ही स्थापना के योग्य होते हैं। विद्वान् अवसर के अनुसार इसे अवकाशयुक्त (पर्याप्त बड़े) देवालय में स्थापित करते हैं। वे मूर्ध्नेष्टका (शिरोभाग की शिला) को लिङ्गस्थापना के पश्चात् स्थापित करते हैं।।७२-७३।।

एवं पीठं चासनं निष्कलानामर्चानां वा मण्डनं तत्प्रणालम्।
लिङ्गानां वै पौरुषाणां विमाने प्रोक्ते नीत्या स्थापना च क्रमेण ।।७४।।

इति मयमते वस्तुशास्त्रे पीठलक्षणं नाम
चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

इस प्रकार निष्कल लिङ्गों के पीठ, आसन, मण्डन एवं प्रणाल होते हैं। मनुष्यनिर्मित लिङ्गों को देवालय में नियमानुसार स्थापित किया जाता है।।७४।।

व्याख्यात्मक टिप्पणी

पीठद्रव्य (श्लोक २-३)

पीठिका के सन्दर्भ में अन्य ग्रन्थों में विवरण इस प्रकार प्राप्त होता है—

१. मत्स्यपुराण में मयमत के विचारों की पुष्टि की गई है—

शैले शैलमयीं दद्यात् पार्थिवे पार्थिवीं तथा।।

दारुजे दारुजां कुर्यान्मिश्रे मिश्रां तथैव च।
नान्ययोनिस्तु कर्तव्या सदा शुभफलेप्सुभिः।।
(२६२.१९-२०)

२. रूपमण्डन में भी यही कहा गया है—

जात्यैकया विधातव्यं नेष्टमन्योन्यसङ्कुलम्।
आहुः शैलद्रुमैः केचित् पीठं पक्वेष्टकामयम्।। (४.८७)

३. रत्नादि-निर्मित लिङ्गों की पीठिका का वर्णन रूपमण्डन में इस प्रकार प्राप्त होता है—

रत्नलिङ्गं द्विधा ख्यातं स्वपीठं धातुपीठकम्।
धातुजं तु स्वयोनिस्थं सिद्धिमुक्तिप्रदायकम्।।

ताम्रजं पुष्परागस्य स्फटिकस्य तु राजतम्।
ताम्रजं मौक्तिकस्यापि शेषाणां हेमजं मतम्।।(४.४२-४३)

४. यही मत अपराजितपृच्छा में भी प्राप्त होता है—

शैले नियोजयेच्छैलीं दारुजे दारुजां तथा।
पार्थिवं पार्थिवा कार्या लोहजे लोहजोत्तमा।।

रत्नजे धातुजा शस्ता रत्नजा तु विशेषत:।
नान्ययोनिं प्रकुर्वीत कृतायां वैरविग्रहे।।
(२०७.२८-२९)

पीठ-प्रमाण (श्लोक ४-७)

पीठ का प्रमाण अन्य ग्रन्थों में इस प्रकार है—

१. मत्स्यपुराण के अनुसार पीठिका की लम्बाई लिङ्ग के बराबर होनी चाहिये—

अर्चायामासमं दैर्घ्यं लिङ्गायामसमं तथा। (२६२.२१)

२. रूपमण्डन के अनुसार लिङ्ग की लम्बाई के बराबर पीठिका की मोटाई होनी चाहिये—

पृथुत्वं पीठिकायास्तु लिङ्गायामसमं भवेत्।
उदयो विष्णुभागान्ते उमावत् पीठिका स्मृता।। (४.८६)

पीठ की आकृति (श्लोक १०-१५)

पीठिकाओं के आकार तथा नामों का वर्णन मत्स्यपुराण में विस्तार से किया गया है। वहाँ दस प्रकार की पीठिकाओं का वर्णन प्राप्त होता है—

स्थण्डिला वाथ वापी वा यक्षी वेदी च मण्डला।।

पूर्णचन्द्रा च वज्रा च पद्मा वार्धशशी तथा।
त्रिकोणा दशमी तासां संस्थानं वा निबोधत।।

स्थण्डिला चतुरस्रा तु वर्जिता मेखलादिभि:।
वापी द्विमेखला ज्ञेया यक्षी चैव त्रिमेखला।।

चतुरस्रायता वेदी न तां लिङ्गेषु योजयेत्।
मण्डला वर्तुला या तु मेखलाभिर्गणप्रिया।।

रक्ता द्विमेखला मध्ये पूर्णचन्द्रा तु सा भवेत्।
मेखलात्रयसंयुक्ता षडस्रा वज्रिका भवेत्।।

षोडशास्रा भवेत् पद्मा किञ्चिद्ध्रस्वा तु मूलतः।
तथैव धनुषाकारा सार्धचन्द्रा प्रशस्यते।।
त्रिशूलसदृशी तद्वत् त्रिकोणा ह्यूर्ध्वतो मता।
प्रागुदक् प्रवणा तद्वत् प्रशस्ता लक्षणान्विता।।
(२६२.६-१२)

रूपमण्डन में भी दस पीठिकाओं का उल्लेख प्राप्त होता है—

चतुरस्रादिवृत्तान्ता पीठिका दशधा स्मृता।
उन्नता दर्पणाकारा बाह्ये मेखलयान्विता।। (४.८९)

वज्रपीठ (श्लोक १९-२०)

ईशानशिवगुरुदेवपद्धति (क्रिया.-६३-६५) में वज्रपद्म पीठ का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

पीठतुङ्गे तु मन्वंशे सार्धं जन्मार्धतोऽवटम्।।
सार्धत्रिभागं पद्मं स्यादर्धाभ्यां पट्टनिम्नके।
भागो वज्रं निम्नमर्धं कम्पोऽर्धं त्रिभिरम्बुजम्।।
निम्नमर्धं ततोऽध्यर्धात् पट्टिकार्धेन चाज्यभृत्।
वज्रपद्माह्वयपीठं सर्वलिङ्गसमं भवेत्।।

पीठ का सामान्य लक्षण (श्लोक ३०-४३)

पीठ का सामान्य लक्षण पुराणों में इस प्रकार प्राप्त होता है—

१. अग्निपुराण के अनुसार—

पीठिकालक्षणं वक्ष्ये यथावदनुपूर्वशः।
पीठोच्छ्रायं यथावच्च भागान् षोडश कारयेत्।।
भूमावेकः प्रविष्टः स्याच्चतुर्भिर्जगती मता।
वृत्तो भागस्तथैकः स्याद् वृत्तः पटलमागतः।।
भागैस्त्रिभिस्तथा कण्ठः कण्ठपट्टस्तु भागतः।
भागाभ्यामूर्ध्वपट्टश्च शेषभागेन पट्टिका।।
प्रविष्टं भागमेकैकं जगतीं यावदेव तु।
निर्गमस्तु पुनस्तस्य यावद् वै शेषपट्टिका।।
वारिनिर्गमनार्थं तु तत्र कार्यः प्रणालकः।
पीठिकानां तु सर्वासामेतत् सामान्यलक्षणम्।।(२६३.१-५)

२. अग्निपुराण में पीठिका का लक्षण एवं प्रमाण इस प्रकार वर्णित है—

द्विभागमुच्छ्रितं पीठं विस्तारे लिङ्गसम्मितम्।
त्रिभागं मध्यतः खातं कृत्वा पीठं विभाजयेत्।
स्वमानार्धं त्रिभागेण बाहुल्यं परिकल्पयेत्।।

बाहुल्यस्य त्रिभागेण मेखलामथ कल्पयेत्।।

खातं स्यान्मेखलातुल्यं क्रमान्निम्नं तु कारयेत्।।

मेखलाषोडशांशेन खातं वा तत्प्रमाणतः।
उच्छ्रायं तस्य पीठस्य विकाराङ्गं तु कारयेत्।।

भूमौ प्रविष्टमेकं तु भागेनैकेन पिण्डिका।
कण्ठं भागैस्त्रिभिः कार्यं भागेनैकेन पट्टिका।।

द्व्यंशेन चोर्ध्वपट्टं तु एकांशाः शेषपट्टिकाः।
भागं भागं प्रविष्टं तु यावत्कण्ठं ततः पुनः।।

निर्गमं भागमेकं तु यावद्वै शेषपट्टिका।
प्रणालस्य त्रिभागेण निर्गमस्तु त्रिभागतः।।

मूलेऽङ्गुल्यग्रविस्तारमग्रे त्र्यंशेन चार्धतः।
ईषन्निम्नं तु कुर्वीत खातं तच्चोत्तरेण वै।।

पिण्डिकासहितं लिङ्गमेतत् साधारणं स्मृतम्।।

(५३.१५-२३)

अथ पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

(अनुकर्मविधानम्)

अथ वक्ष्ये हर्म्याणां लिङ्गानां पीठकानां च।
प्रतिमानामन्येषां वास्तूनां लक्षणान्तरतः ॥१॥
अनुकर्मविधिं सम्यक् संक्षेपात् तत्क्रमेणैव।

जीर्णोद्धार-विधान—अब मैं (मय) हर्म्यों (मन्दिरों), लिङ्गों, पीठों, प्रतिमाओं एवं अन्य वास्तु-निर्माणों के अन्य लक्षणों से अनुकर्मविधि का संक्षेप में उनके क्रम से भली-भाँति वर्णन करता हूँ।।१।।

॥ भवनजीर्णोद्धारः ॥

भवनं भिन्नं पतितं वक्रं प्राचीनतत्त्वं च जीर्णं च ॥२॥
जातिश्छन्दविकल्पाभाससंस्थानकेभ्य इतरं च।
यान्यप्यलक्षणानि हि तानि च तत्तल्लिङ्गभेदवशात् ॥३॥
तत्र द्रव्यैरन्यैरुत्कृष्टैर्वा नवैस्तु घटैः।
आयाद्यथोचितं तद्विस्तारोच्चादिभिस्त्वलङ्कार्यैः ॥४॥

भवन का जीर्णोद्धार—भवन (देवालय) टूट सकता है, गिर सकता है, टेढ़ा हो सकता है, पुराना हो सकता है या जीर्ण हो सकता है। अथवा इसकी जाति, छन्द, विकल्प या आभास संस्थान से भिन्न हो सकती है। जिन (देवालयों) का लक्षण स्पष्ट न हो, वहाँ स्थापित लिङ्ग के भेद के अनुसार (अनुकर्मविधान होना चाहिये) इसमें अन्य द्रव्य, अच्छे द्रव्य, नवीन घर, विस्तार एवं ऊँचाई आदि से उचित आय आदि का निर्धारण तथा अलंकरण आदि से (अनुकर्म होना चाहिये)।।२-४।।

यानि सलक्षणकानि प्रत्यङ्गोपाङ्गदेशेषु।
तानि च तत्तद्द्रव्यैर्हीनादीन्येव येन केनचित् ॥५॥
यावद्घनतां यान्ति यावत्सौम्यप्रयोज्यानि।
यावत्तदेव धीमान्नवतां प्रकर्तुमिच्छति चेत् ॥६॥
तत्तद्विपुलोत्सेधे सौष्ठिककोष्ठाद्यलङ्कारैः।
नात्येकमुदितं तत्स्वाकृत्या सर्वथा तज्ज्ञैः ॥७॥

जिन देवालयों के प्रधान अंगों एवं उपांगों के लक्षण प्राप्त हो रहे हों, उनका (अनुकर्मविधान) उन्हीं के द्रव्यों से करना चाहिये। यदि उनमें किसी तत्त्व की कमी हो या कोई और अभाव हो तो विद्वानों के अनुसार उसे पूर्ण करना चाहिये। इससे वे पूर्णता को प्राप्त करते हैं एवं सौम्य रीति से द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये। यह सब ऊँचाई आदि के अनुसार होना चाहिये एवं उनको सौष्ठिक एवं कोष्ठ आदि अलंकारों से युक्त करना चाहिये। विना उसमें कुछ जोड़े उसके वास्तविक स्वरूप को बनाये रखना चाहिये।।५-७।।

नागरभवने नागरमुदितं स्याद्
द्राविडभवने द्राविडमुदितम् ।
वेसरभवने स्याद् वेसरं शुभदम-
र्पितभवनेऽप्यर्पितभवनम् ।।८।।
अर्पितादितरभवनेऽप्यर्पितादितरभवनम् ।

नागर देवालय में नागर देवालय (का अनुकर्म-विधान) कहा गया है। इसी प्रकार द्राविड देवालय में द्राविड एवं वेसर देवालय में वेसर प्रशस्त कहा गया है। अर्पित भवन में भी अर्पित (भवन का अनुकर्म-विधान) होना चाहिये। अर्पित से भिन्न भवन (देवालय) में अर्पित से भिन्न भवन (का अनुकर्म-विधान) होना चाहिये।।८।।

योज्यं क्रमेण विदुषा वस्तु सदा सर्वयत्नेन ।।९।।
सप्राकारविमाने सालाद्बहिर्वा बहिस्तूक्ताः ।
प्रासादे या गतयः कुरुते तद्विधिं सम्यग्गाढमथ वक्ष्ये ।।१०।।
मूलविमानसमं वा तदधिकमन्यतरं निरुतेष्टम् ।
दिक्षु समोन्नतत्त्वं विदिक्षु शेषेषु वा कुर्यात् ।।११।।
विमाननिष्क्रमं मूलाष्टमूलाब्धिहीनन्तु युक्तिवशात् ।

विद्वान् व्यक्ति को वास्तु (भवन) निर्माण में सभी योजनीय भागों को उचित रीति से प्रयत्नपूर्वक जोड़ना चाहिये। विमान को प्राकार से संयुक्त करना चाहिये। साल भवन के भीतर एवं बाहर प्राकार विकल्प से होता है (अर्थात् हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है)। देवालय में गतियों (चलने का मार्ग) का निर्माण नियमानुसार होना चाहिये, जिनका वर्णन मैं (मय) यहाँ कर रहा हूँ। इनकी ऊँचाई मूल भवन के समान या उससे अधिक होनी चाहिये, अथवा इच्छानुसार स्वीकरणीय होता है। दिशाओं में जिनकी योजना की जाती है, उनकी ऊँचाई मूल भवन के समान होती है। दिक्कोंणों में यह अधिक ऊँची होती है; किन्तु विमान के निष्क्रम को आठवें भाग या चौथे भाग

से अधिक नहीं होना चाहिये। इसे आवश्यकतानुसार निर्मित करना चाहिये।।९-११।।

उत्तरतो वा पुरतः परितः सालन्तु वर्धयेद्विधिना ॥१२॥

भवने जीर्णमथ तत्कर्तव्यं चेत्तदन्यस्मिन्।
दिक्षु चतुर्ष्वपि नेष्टं तस्य बाह्ये वस्तुविदा ॥१३॥

विपरीते तु विपत्त्यै तस्माद्युक्तक्रमेण कर्तव्यम्।
सन्त्यज्य नष्टवस्तुगर्भविधानात् पुनः स्थाप्यम् ॥१४॥

साल की वृद्धि उत्तर दिशा, पूर्व दिशा या चारो ओर नियमानुसार करनी चाहिये। भवन के जीर्ण होने पर निर्माणकार्य उसी स्थान पर या अन्य स्थान पर करना चाहिये। वास्तुविद् दिशाओं एवं दिक्कोणों में या उससे बाहर इसका निर्माण प्रशस्त नहीं मानते। इससे विपरीत करने पर विपत्ति आती है; अतः पूर्वोक्त क्रम से ही निर्माण करना चाहिये। नष्ट वास्तु को छोड़कर पुनः गर्भविधान (शिलान्यास) से भवननिर्माण करना चाहिये।।१२-१४।।

✵ लिङ्गजीर्णोद्धारः ✵

पतितं स्फुटितं लिङ्गं दुस्तरपारासुवृत्तं च।
वक्रमधोगतलिङ्गं लिङ्गादत्यूर्ध्वगतलिङ्गम् ॥१५॥

परितर्कैरुपकामं तदज्ञेन स्थापितं लिङ्गम्।
भिन्नं ज्वलनालीढं जीर्णं सस्फोटनं तु भग्नं च ॥१६॥

चोरादिभिरुद्धृतं किंदेशं स्थानं तु दूषितैः स्पृष्टम्।
विपरीतमयोगं यल्लिङ्गं सन्दृश्यते तु भुवि ॥१७॥

तेन सदाशिवमुदितं तज्ज्ञैर्लोकेऽपि जन्तूनाम्।

लिङ्ग का जीर्णोद्धार—संसार में विज्ञजन इन लिङ्गों को सदाशिव (सदा अशिव, अप्रशस्त) कहते हैं। ये हैं—गिरा हुआ लिङ्ग, फूटा हुआ, जिसके चारो ओर चलना कठिन हो, टेढ़ा, अधोगत लिङ्ग, लिङ्ग से ऊर्ध्वगत लिङ्ग, किसी की कल्पना से निर्मित लिङ्ग, अज्ञानी द्वारा स्थापित लिङ्ग, टूटा हुआ लिङ्ग, जला हुआ लिङ्ग, जीर्ण लिङ्ग, टूटा-फूटा लिङ्ग, चारों द्वारा छोड़ा हुआ लिङ्ग, दूषित स्थान का लिङ्ग, अशुद्ध व्यक्ति द्वारा छुआ गया लिङ्ग एवं विपरीत नियमों से युक्त लिङ्ग।।१५-१७।।

पतिते चेत्स्थापिते लिङ्गेऽस्मिन्नज्ञेन केनापि ॥१८॥

अन्यत्सूर्यकिरणान्निहतं लिङ्गं स्थापयेत्तत्र।
अन्त्येनान्तरितं वा श्वभ्रान्तं नैव सम्प्राप्तम् ॥१९॥

अनभीष्टमार्गतास्यं तल्लिङ्गं तुच्छमिति कथितम्।
तत्रैव तु तल्लिङ्गं सम्यग्विद्वान् यः समीकुर्यात्।
वक्रं च वक्रवृत्तं तल्लिङ्गं यत्तदेव तत्समितम्॥२०॥

यदि लिङ्ग गिर जाय तथा किसी अज्ञानी व्यक्ति द्वारा उसे स्थापित कर दिया जाय तो उसके स्थान पर दूसरा ऐसा लिङ्ग स्थापित करना चाहिये, जिसे सूर्य की किरणें भी न स्पर्श की हों। जो लिङ्ग अपवित्र वस्तुओं के मध्य में रक्खा हो, या जो पीठ के खात के निचले तल का स्पर्श करे, अथवा जो पीठिका के ऊपर न दिखाई पड़े, उसे 'तुच्छ' लिङ्ग कहते हैं। जिस लिङ्ग की दिशा सही न हो, वह भी उसी प्रकार (तुच्छ) होता है। विद्वान् व्यक्ति वक्र एवं वक्रवृत्त लिङ्ग को माप के अनुसार ठीक कर सकता है।।१८-२०।।

तल्लिङ्गं तु निमग्नं कालज्ञातं तथा वापि।
तदधोगतमित्युक्तं तल्लिङ्गं चोद्धरेत् समितम्॥२१॥

तल्लिङ्गं तु निमग्नं कालाज्ञातमूर्ध्वगतम्।
तत्र स्थाप्यं पुनरपि निर्दोषकं यदिदम्॥२२॥

जो लिङ्ग ज्ञात काल तक भूमि में गड़ा हो, उसे अधोगत लिङ्ग कहते हैं। इसे बाहर निकाल कर इसका माप करना चाहिये। अज्ञात काल से गड़े लिङ्ग को ऊर्ध्वगत लिङ्ग कहते हैं। यदि इसमें कोई दोष न हो तो उसे पुनः उसी स्थान पर स्थापित करना चाहिये।।२१-२२।।

सरितः स्रोतः पतितं नीत्वा शतदण्डमन्यस्मिन्।
स्थाप्यं तद्दैविकविधिना शुद्धे देशे मुखं प्राग्वत्॥२३॥

यदि लिङ्ग नदी में गिर जाय तो उसे निकाल कर उसके पुराने स्थान से एक सौ दण्ड दूर दिव्य लिङ्ग की विधि से पवित्र स्थान पर पूर्वमुख विधिपूर्वक स्थापित करना चाहिये।।२३।।

मन्त्रक्रियेतरलिङ्गं सर्वेषां लक्षणोपेतम्।
अज्ञस्थापितमेतत्तद्योजयेद् विधिना॥२४॥

हीनं ज्वलनालीढं जीर्णं सस्फोटकं च भग्नं च।
लिङ्गं साध्यं त्यक्त्वा पुनस्तत्स्थापयेन्नवं लिङ्गम्॥२५॥

अधरोत्तरमज्ञानां मोहेन वाऽप्यन्यदाननयुक्तम्।
विपरीतं त्यजेत्सहसा उचितं यन्नवमन्यत्तत्रैव स्थापयेद्विधिना॥२६॥

यदि कोई लिङ्ग सभी लक्षणों से युक्त हो; किन्तु मन्त्र एवं क्रिया से रहित एवं अज्ञानतापूर्वक स्थापित हो तो उसे विधिपूर्वक पुन: स्थापित करना चाहिये। हीन, जले हुये, जीर्ण, फूटे एवं टूटे हुये लिङ्ग को, चाहे उसकी पूजा हो रही हो तो भी उसका त्याग कर नवीन लिङ्ग की पुन: स्थापना करते समय अज्ञानतावश ऊपर का भाग नीचे स्थापित हो जाय, या इसका मुख अन्य दिशा में हो, या अचानक विपरीत हो जाय तो उस लिङ्ग का तुरन्त परित्याग कर उसके स्थान पर नियमपूर्वक नवीन लिङ्ग की स्थापना करनी चाहिये।।२४-२६।।

अत्रोचितलक्षणं तत् शून्यं तलं तु वा चाक्षम्।
अग्राह्यं क्षेत्रगतं यन्न तद्योग्यं सर्वथा त्याज्यम्॥२७॥

तत्रैवान्यल्लिङ्गं नवमुचितं स्थापयेद् विधिना।
चोरादुद्धृतकं तदन्त:पतितं चेत्पञ्चसन्धानम्।
तत्र तदेव स्थाप्यं निर्दोषं पूर्ववद् विधिना॥२८॥

सभी लक्षणों से युक्त होने पर भी तल या अक्ष (अर्थात् उचित आकृति न होने पर) से रहित होने पर अथवा त्याज्य क्षेत्र में होने पर वह लिङ्ग स्थापना के योग्य नहीं होता है, अत: उसका पूर्ण रूप से त्याग करना चाहिये। उसके स्थान पर नवीन लिङ्ग की विधिपूर्वक स्थापना करनी चाहिये। यदि किसी लिङ्ग को चोर छोड़ गये हों एवं वह पञ्च-सन्धान के भीतर गिरा हो तथा वह लिङ्ग दोषरहित हो तो उसे वहीं पर विधिपूर्वक स्थापित करना चाहिये।।२७-२८।।

चण्डालशूद्रकाद्यै: स्पृष्टं च लिङ्गं तर्ह्ययोग्यकं शस्तम्।
नदीतीरं चेत् स्पृष्टं मन्दिररहितं तु तल्लिङ्गम्॥२९॥

पूर्वस्यामुत्तरतो नीत्वान्यस्मिन् शुभे देशे।
सुस्थापितञ्च लिङ्गं पूर्ववदेवानाय्य विधिनाऽपि॥३०॥

बेरं वाप्येवं तत्तद्युक्त्यान्यस्मिन्नवे देशे।
स्थाप्यं यदि निर्दोषं सर्वमनुक्तं तु तल्लिङ्गे॥३१॥

चाण्डाल एवं शूद्र आदि द्वारा स्पर्श किया गया लिङ्ग (पूजा के लिये) अयोग्य कहा गया है। यदि नदी के तट पर स्पर्श किया गया हो एवं वह लिङ्ग मन्दिरविहीन हो तो उसे पूर्व दिशा या उत्तर दिशा में अन्यत्र पवित्र स्थान पर ले जाकर पूर्ववर्णित विधि द्वारा लाये गये लिङ्ग के समान सम्यक् प्रकार से स्थापित करना चाहिये। यदि वेर (प्रतिमा) को भी परिस्थितिवश नये स्थान पर ले जाया जाय एवं वह दोषहीन हो तो उसे स्थापित करना चाहिये। इस विषय में यदि कुछ न कहा गया हो तो जो

कुछ लिङ्ग के लिये कहा गया है, उसी विधि को मानना चाहिये।।२९-३१।।

द्वादशवर्षादूर्ध्वं शून्यत्वं याति यल्लिङ्गम्।
तत्तन्निर्दोषं यदि नाग्राह्यमिदं वदन्ति केचिज्ज्ञाः ॥३२॥

शिलामयं तर्ह्युदके निक्षिपेत् त्वरितं बुधः।

कुछ विद्वानों के मतानुसार यदि लिङ्ग बारह वर्षों से अधिक समय तक शून्य (पूजा आदि से रहित, त्यक्त) रहा हो तो ऐसे लिङ्ग को दोषरहित होने पर भी ग्रहण नहीं करना चाहिये। बुद्धिमान व्यक्ति को उसे शीघ्र ही नदी में प्रवाहित कर देना चाहिये।।३२।।

पीठजीर्णोद्धारः

शिलादिपीठं निर्दोषं प्रयोज्यं चेत्तदेव हि ॥३३॥
ग्राह्यं ब्रह्मशिलादि स्याद् द्रव्यं पिण्डं च पूर्ववत्।

पीठ का जीर्णोद्धार—शिला आदि द्वारा निर्मित पीठ यदि दोषरहित हो तभी उसका ग्रहण करना चाहिये। ब्रह्मशिला, अन्य द्रव्य एवं पिण्ड आदि का ग्रहण पहले के समान करना चाहिये।।३३।।

अलक्षणं च हीनं च स्फुटितादिभिरन्वितम् ॥३४॥
सन्त्यज्य विधिना पीठं कुर्यादाकृति पूर्ववत्।
पाषाणेनैव पाषाणे चेष्टका चेष्टकामये ॥३५॥
पूर्ववत् पतितं पूर्वं पीठं कुर्याद् यथोचितम्।
अलाभे ह्युपले चैव वेष्टके चेष्टका भवेत् ॥३६॥

विना लक्षण के, हीन (अपूर्ण), टूटे-फूटे पीठ का त्याग कर पूर्ववर्णित विधि से पीठ का निर्माण करना चाहिये। पाषाणनिर्मित पीठ के स्थान पर पाषाणनिर्मित तथा काष्ठमय पीठ के स्थान पर काष्ठमय पीठ निर्मित करना चाहिये। यदि पूर्व पीठ गिर जाय तो पहले के समान उचित रीति से निर्माण करना चाहिये। प्रस्तर के प्राप्त न होने पर या इष्टका-निर्मित पीठ होने पर पीठ को इष्टका से ही निर्मित करना चाहिये।

बेरजीर्णोद्धारः

बेरे शिलामये चैव वृक्षजे विकलाङ्गके।
सन्त्यज्य सहसा बेरं स्थापयेत् पूर्ववन्नवम् ॥३७॥
मानोन्मानादुपेतं च जीर्णवत्स्फोटनादिकम्।
बेरं त्यक्त्वान्यमत्रैव स्थापयेद् विधिना पुनः ॥३८॥

बेर का जीर्णोद्धार—यदि प्रस्तरनिर्मित या काष्ठनिर्मित बेर (प्रतिमा) अपूर्ण

हो तो उसका तुरन्त त्याग कर नवीन प्रतिमा की पूर्ववर्णित विधि से स्थापना करनी चाहिये। उचित माप से युक्त होने पर भी यदि बेर जीर्ण हो या टूट-फूट जाय तो उसका त्याग कर उसके स्थान पर नवीन बेर स्थापित करना चाहिये।।३७-३८।।

लोहजे मृण्मये बेरे हस्तनासाङ्घ्रिभूषणे।
कर्णदन्तादिहीनं तु तत्तद्द्रव्यैर्दृढीकृतम्॥३९॥
उत्तमाङ्गविहीने तु त्यक्त्वान्यं योजयेन्नवम्।

धातु-निर्मित या मृत्तिकानिर्मित बेर हाथ, नाक, पैर, आभूषण, कान एवं दाँत आदि से रहित हो तो उसे उसी द्रव्य (धातु में धातु एवं मृत्तिका में मृत्तिका) द्वारा (उन अंगों को) दृढ़ किया जाता है; किन्तु यदि प्रधान अंग से रहित हो तो उसे त्याग कर दूसरी नवीन प्रतिमा की स्थापना करनी चाहिये।।३९।।

❋ सामान्यविधिः ❋

प्रासादे वाऽथ लिङ्गे वा पीठे वार्चासु सर्वदा॥४०॥
तत्तद्द्रव्यैर्वरैर्वाऽपि कुर्याद्धीनैर्न योजयेत्।
जीर्णे च तेन यः कर्तुमिच्छेद् द्रव्येन पण्डितः॥४१॥
पूर्वमार्गेण निष्पाद्य समं कुर्याद् यथाविधि।
तुल्यं हीनेऽधिकं चेष्टं सर्वदा शुभमिच्छताम्॥४२॥

सामान्य नियम—देवालय, लिङ्ग, पीठ या प्रतिमाओं में (जीर्णोद्धार करते समय) उन्हीं द्रव्यों या उत्तम द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये। हीन द्रव्यों का प्रयोग कभी नहीं करना चाहिये। (उपर्युक्त के) जीर्ण हो जाने पर जो विद्वान् उसका निर्माण (जीर्णोद्धार) करना चाहता है, उसे उसी द्रव्य से पूर्ववर्णित रीति से विधिपूर्वक सम (ठीक) करना चाहिये। यदि उपर्युक्त हीन (कम या छोटे) हों तो उसे पूर्व-रूप के बराबर करना चाहिये। उससे अधिक करने पर शुभ की कामना करने वाले को सदा-सर्वदा अभीष्ट की प्राप्ति होती है।।४०-४२।।

हीनं कुर्याद् वरद्रव्यैः समं वा तत्र पूर्ववत्।
धामगृहगृहस्तम्भद्वारमानादिमानतः ॥४३॥
मृण्मयं निक्षिपेदप्सु दारुजं चाग्निना दहेत्।
लोहजं वह्निना तत्र द्रुतं शुद्धं विगृह्यताम्॥४४॥

हीन का निर्माण श्रेष्ठ द्रव्यों से करना चाहिये या पहले प्रयुक्त द्रव्य से करना चाहिये। इसका माप गर्भगृह, स्तम्भ एवं द्वार आदि के प्रमाण के अनुसार होना चाहिये।

यदि प्रतिमा मृत्तिका-निर्मित हो तो उसे जल में प्रवाहित करना चाहिये। काष्ठ-निर्मित को अग्नि में प्रज्ज्वलित करना चाहिये। धातुनिर्मित को अग्नि में जलाने पर शुद्ध रूप (धातु) प्राप्त होता है।।४३-४४।।

ग्रामादिजीर्णोद्धारः

ग्रामादीनां गृहादीनां शालानां च विशेषतः ।
आरम्भव्यासदीर्घाभ्यां हीनं नेष्टं मुनीश्वरैः ।।४५।।

समं वा योजयेत्तस्मादधिकं वाऽपि योजयेत् ।
युक्तितः परितो वाऽपि प्राग्वद्दिशि विवर्धयेत् ।।४६।।

दक्षिणापरभागे तु वृद्धिदं वस्तुनाशनम् ।

ग्रामादि का जीर्णोद्धार—ग्राम आदि का, गृह आदि का तथा शाला आदि का व्यास एवं लम्बाई (जीर्णोद्धार के समय) मूल से कम नहीं होना चाहिये। यह प्रशस्त नहीं होता, ऐसा श्रेष्ठ मुनियों का मत है। इसे उसके बराबर बनाये या उससे अधिक बनाना चाहिये। आवश्यकतानुसार इसे चारो ओर बढ़ाना चाहिये अथवा पूर्ववर्णित दिशा में बढ़ाना चाहिये। दक्षिण या पश्चिम दिशा में बढ़ाने पर वस्तु (गृह) का विनाश होता है।।४५-४६।।

गृहमालिकयोर्भूमिसंख्यामुपरि कल्पयेत् ।
सर्वथा नोचितं हीनं कुर्यादुक्तक्रमेण तु ।।४७।।

गृह या मालिका में ऊपर के तल पूर्वसंख्या के अनुसार निर्मित करना चाहिये। उससे कम करना उचित नहीं होता है। इसका निर्माण पूर्ववर्णित क्रम से करना चाहिये।।४७।।

बालस्थापनम्

आद्यारम्भे चाथवा जीर्णभिन्ने हीनाङ्गानां कल्पने पातने च ।
लिङ्गे बेरे स्फोटनाद्यङ्गहीने कुर्याद् बालस्थापनं पीठबन्धे ।।४८।।

बाल-स्थापन—निर्माण-कार्य के आरम्भ में अथवा जीर्ण होने या टूटने पर, हीन अंगों (अपूर्ण) के निर्माण में, लिङ्ग अथवा बेर (प्रतिमा) के गिरने, फूटने, प्रधान अंग के हीन होने (टूटने या खोने) पर, पीठबन्ध के समय बाल-स्थापन (सामयिक स्थापना) करनी चाहिये।।४८।।

लयशशीलयपीठकरं चतुःत्रिचतुरंशकलाक्षकरं तु वा ।
गुणयुगेन्द्रियषण्मुनिहस्तकैः प्रवरमध्यमके तरुणालयम् ।।४९।।

प्रधान भवन के उत्तर में नौ स्तम्भों पर (बाल भवन) का स्थापन करना चाहिये। बाल-स्थापन का माप प्रधान भवन के तीसरे, चौथे, पाँचवें या छठे भाग के बराबर होता है। अथवा इसका माप तीन, चार, पाँच, छः या सात हाथ छोटे या बड़े (भवन के) अनुसार होना चाहिये।।४९।।

भवनमूलतलाङ्घ्रिविशालतो द्विगुणकात्रिगुणमेति हि भित्तिः ।
भवनशेषमधोगृहमानकं तदपि मण्डपकं तु सभाऽपि वा ।।५०।।

(बालभवन की) भित्ति की मोटाई प्रधान भवन के भूतल के स्तम्भ की दुगुनी या तिगुनी होती है। शेष गृह नीचे होते हैं। यह (बालभवन) सभा या मण्डप हो सकता है।।५०।।

तद्गर्भार्धं श्रेष्ठमर्धार्धकं तद्धीनं मध्येऽष्टांशके नन्दमानम् ।
लिङ्गायामं तुल्यनाहं सुवृत्तं कुर्याच्छत्राभं शिरःसूत्रहीनम् ।।५१।।

(लिङ्ग की ऊँचाई) गर्भगृह के चतुर्थांश से लेकर आधे तक हो सकती है। इन दोनों मापों के मध्य के अन्तर को आठ से भाग देने पर (लिङ्ग) के नौ ऊँचाई के माप प्राप्त होते हैं। लिङ्ग की परिधि उसकी ऊँचाई के बराबर होती है। यह अच्छी गोलाई से युक्त होता है एवं इसका शिरोभाग छत्र के समान एवं सूत्रहीन होता है।।५१।।

तिथिकराग्रजमादितयाङ्गुलाङ्गुलिविवर्धनया नवमानकम् ।
तरुणलिङ्गसमुन्नतकर्तृवद् गुणयुगांशकमासनवेशनम् ।।५२।।

तरुण लिङ्ग के नौ प्रमाण प्राप्त होते हैं। यह स्थापक के अंगुलि-प्रमाण से पन्द्रह अंगुल माप से प्रारम्भ होता है एवं एक-एक अंगुल प्रत्येक में बढ़ाया जाता है। इसे पीठ में इसकी लम्बाई के तीसरे या चौथे भाग के बराबर गहराई में स्थापित किया जाता है।।५२।।

भवति मूलतलेतरतुङ्गकं सममुतार्धकमुत्तममाधमम् ।
नवविधं वसुभागयुतेऽन्तरे तरुणलिङ्गसमुन्नतमीरितम् ।।५३।।

तरुण लिङ्ग की सबसे अधिक ऊँचाई प्रधान भवन के मूल भाग के बराबर होती है एवं सबसे कम ऊँचाई उसकी आधी होती है। इन दोनों के मध्य के अन्तर को आठ से भाग देने पर ऊँचाइयों के नौ भेद प्राप्त होते हैं।।५३।।

मुनिकराग्रजमादितयोदयं नयनमात्रविवर्धनया ततम् ।
नवविधं तरुणप्रतिमोदयं सकलकेऽसकलं च यथा कुरु ।।५४।।

तरुण प्रतिमा की ऊँचाई के नौ भेद प्राप्त होते हैं। इसे सात अंगुल से प्रारम्भ कर प्रत्येक (अगले चरण पर) दो अंगुल बढ़ाते जाना चाहिये। यह विधि सकल

(अंगयुक्त) एवं असकल (अंगविहीन) दोनों (प्रकार के प्रतिमाओं, लिङ्गों) के लिये कही गई है।।५४।।

अपि च मूलचलार्धकमुत्तमं तदनु धर्ममथांशमथान्तरे।
नवविधं युगकद्वयभागिके तरुणबिम्बमुदीरितमार्चके ।।५५।।

जब कोई तरुण प्रतिमा पूजन के लिये निर्मित हो तो उसकी सबसे अधिक ऊँचाई मूल चल प्रतिमा की आधी तथा सबसे कम ऊँचाई उसके चतुर्थांश होनी चाहिये। इन दोनों मापों के मध्य के माप को आठ से भाग देने पर ऊँचाई के नौ प्रमाण प्राप्त होते हैं।

अचलतुल्यविशालसमोदयं वरमधोङ्घ्रिविहीनकमाधमम्।
वसुविभागयुते तु तदन्तरे नवविधं विपुलोदयमासने ।।५६।।

तरुण पीठ की सबसे अधिक ऊँचाई एवं विस्तार मूल अचल पीठ के बराबर होती है एवं सबसे कम माप उसका तीन चौथाई होता है। इन दोनों मापों के मध्य के अन्तर में आठ से भाग देने पर ऊँचाई एवं विस्तार के नौ माप प्राप्त होते हैं।।५६।।

उपललोहकुजे तरुणालयेष्वभिहितास्तरवोऽपि च बालके।
सरलकालजचन्दनसालका खदिरमारुदपिप्पलतिन्दुकाः ।।५७।।

तरुण देवालय में प्रतिमा या लिङ्ग प्रस्तर, लोह (धातु) अथवा काष्ठनिर्मित होते हैं। (बाल अथवा तरुण) लिङ्ग के लिये अनुकूल वृक्ष सरल, कालज, चन्दन, साल, खदिर, मारुत, पीपल एवं तिन्दुक हैं।।५७।।

यावत्संप्रार्थितार्थं तदुदयसमये मूलहर्म्यं प्रकल्प्य
तस्मिन्नुक्त्वा विधेयं सकलमपि वरं स्थापयेद् बालधाम्नि।
द्विःषट्संवत्सरान्तं तरुणभवनकं तद्वरं नेष्टमाद्यै-
रन्येषां कर्मणां स्यात्तदवधिरधिकं सर्वदोषप्रदं तत् ।।५८।।

तरुणालय में स्थापित होने वाली लिङ्ग या प्रतिमा पूर्ण होनी चाहिये। जब तक प्रधान देवालय का निर्माण नहीं होता है एवं जब तक वाञ्छित लक्ष्य सिद्ध नहीं हो जाता, तब तक के लिये ही इसे करना चाहिये। प्राचीन मनीषियों के अनुसार तरुणालय को बारह वर्ष से अधिक नहीं रहना चाहिये। यह सीमा अन्य कार्यों के लिये भी है। यदि अवधि इससे अधिक हो तो सभी प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं।।५८।।

प्रासादानां लिङ्गपीठार्चकानां दोषाढ्यानां ग्रामवस्त्वादिकानाम्।
एवं प्रोक्तं चानुकर्मण्यवश्यं प्रोक्तादन्यत्सर्वदोषप्रदं तत् ।।५९।।

इति मयमते वस्तुशास्त्रे अनुकर्मविधानं
नाम पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

इस प्रकार मन्दिरों, लिङ्गों, पीठों, मूर्तियों, ग्राम आदि आवासयोग्य स्थानों में यदि दोष आ जायँ तो उनके अवश्य करने योग्य अनुकर्म-विधि का वर्णन किया गया। इनसे भिन्न विधि सभी प्रकार के दोषों का कारण बनती है।।५९।।

व्याख्यात्मक टिप्पणी

हर्म्यादि-जीर्णोद्धार-विधि (श्लोक १)

हर्म्यादि की जीर्णोद्धार-विधि कामिकागम (द्वितीय, ३४) ईशानशिवगुरुदेव पद्धति (क्रिया., ६४), सुप्रभेदागम (क्रिया., ५४) में प्राप्त होती है।

कामिकागम (द्वितीय, ३४.७-८) में इस प्रकार कहा गया है—

नागरे नागरं कुर्याद् वैसरे वेसरं मतम्।
द्राविडे च तथा कार्यं वराटादौ तथा मतम्।।

घनेऽघने विमाने तु तथा भवनमिष्यते।

शिवलिङ्ग-जीर्णोद्धार-विधि (श्लोक १५-३२)

शिवलिङ्ग के जीर्णोद्धार के विषय में अग्निपुराण में इस प्रकार कहा गया है—

जीर्णादीनां च लिङ्गानामुद्धारं विधिना वदे।
लक्ष्मोज्झितं च भग्नं च स्थूलं वज्रहतं तथा।।

सम्पुटं सम्पुटितं व्यङ्गं लिङ्गमित्येवमादिकम्।
इत्यादिदुष्टलिङ्गानां त्याज्या पिण्डी तथा वृषः।।

चालितं चलितं निम्नमत्यर्थं विषमस्थितम्।
दिङ्मूढं पातितं लिङ्गं मध्यस्थं पतितं तथा।।

एवंविधं च संस्थाप्य निर्व्रणं च भवेद्यदि।
नादेयेन प्रवाहेण तदपाक्रियते यदि।।

ततोऽन्यत्रापि संस्थाप्य विधिदृष्टेन कर्मणा।
सुस्थितं चास्थितं वापि शिवलिङ्गं न चालयेत्।।(१०३.१-५)

बाल-स्थापन (श्लोक ४९)

इस सन्दर्भ में कामिकागम (१-२६.२-३) का यह श्लोक द्रष्टव्य है—

मूलस्थानस्य नैशान्यामुत्तरे पूर्वयाम्ययोः।
आग्नेय्यामिष्टदेशे वा कुर्याद् बालगृहं गुरुः।।

नवदण्डं व्यपोह्यैव कुर्याद् धाम महान्तरम्।

लिङ्ग के लिये अनुकूल काष्ठ (श्लोक ५७)

कामिकागम (१.२६.१६-१७) के अनुसार—

लोहोपलकुजैर्बाललिङ्गबेरं विधीयते।
क्षीरवृक्षैः पलाशैर्वा वटोदुम्बरपिप्पलैः।।
मधूकपनसप्लक्षैः सालचन्दनखादिरैः।
सरलामरवृक्षाभ्यां लिङ्गबेरं समाचरेत्।।

अथ षट्त्रिंशोऽध्यायः

(प्रतिमालक्षणम्)

ब्रह्मादीनां च विन्यासं देवीनां वर्णमायुधम् ।
वाहनं भूषणं केतुर्विमानं वक्ष्यते क्रमात् ॥१॥

प्रतिमा के लक्षण—अब ब्रह्मा आदि देवों एवं देवियों के विन्यास, रंग, आयुध, वाहन, अलंकार, चिह्न एवं विमान का क्रमशः वर्णन किया जा रहा है।।१।।

❋ ब्रह्मा ❋

चतुर्मुखश्चतुर्बाहुः तप्तकाञ्चनसन्निभः ।
विद्युद्दामपिशङ्गार्चिजटामुकुटबन्धनः ॥२॥

कुण्डली चाङ्गदी हारी मृगचर्मोत्तरीयकः ।
उत्तरीयोपवीतं च गलान्ते सन्निवेशयेत् ॥३॥

ब्रह्मा—ब्रह्मा के चार मुख, चार भुजायें, तपाये गये सोने के समान वर्ण तथा विद्युत् के प्रकाश की किरणों के समान पीली जटायें होती हैं, जिन पर मुकुट बँधा होता है। ये कुण्डल, बाजूबन्द, हार, मृगचर्म एवं उत्तरीय से सुशोभित होते हैं। उत्तरीय (ऊपरी भाग में ओढ़ा जाने वाला वस्त्र, चादर) को जनेऊ के समान गलान्त तक रखना चाहिये।।२-३।।

बभ्रूरू मौञ्जिकाधारः शुक्लमाल्याम्बरः शुचिः ।
अक्षमाला च कूर्चश्च दक्षिणे तु करद्वये ॥४॥

कमण्डलुकुशौ वामे स्रुक् स्रुवं वाऽथ दक्षिणे ।
आज्यस्थालीं कुशं वाऽपि वामहस्ते प्रदापयेत् ॥५॥

वरदाभयहस्तो वा जटामुकुटमण्डितः ।

उनके बभ्रु वर्ण (भूरी, पीली) के ऊरु भाग में मौञ्जिक (मूँज की) मेखला रहती है। वह श्वेत तथा पवित्र माला एवं वस्त्र धारण किये रहते हैं। दाहिने दोनों हाथों में अक्षमाला एवं कूर्च (कूँची) होती है। वाम भाग के (दोनों हाथों में) कमण्डलु एवं कुश होता है। अथवा दक्षिण हाथों में स्रुक् (काष्ठनिर्मित चम्मच, जिससे हवन किया

जाता है) एवं स्रुव (काष्ठनिर्मित यज्ञीय पात्र) होता है तथा वाम हस्तों में घी का पात्र एवं कुश होता है। या निचले हाथ वरद (वर देने वाली) मुद्रा एवं अभय मुद्रा में होते हैं। ये जटा एवं मुकुट से सुशोभित होते हैं।।४-५।।

वामभागे तु सावित्री भारती दक्षिणेंऽशके ॥६॥

ऋषयः परिवारास्तु हंसारूढः कुशध्वजः ।
आसीनो वा स्थितो ब्रह्मा पद्मासनमुदाहृतम् ॥७॥

इनके वाम भाग में सावित्री एवं दक्षिण भाग में भारती, ऋषि-गण एवं परिवार निर्मित होते हैं। ब्रह्मा हंस पर आरूढ़ एवं कुश के ध्वज से युक्त होते हैं। (अथवा) ब्रह्मा को पद्मासन पर बैठे या खड़े निर्मित करना चाहिये।।६-७।।

विष्णुः

विष्णुः किरीटमुकुटकेयूरकटकान्वितः ।
भूषितः कटिसूत्राद्यैः पीतवासाश्चतुर्भुजः ॥८॥

वरदाभयहस्तश्च शङ्खचक्रधरः शुचिः ।
आसीनो वा स्थितो वाऽपि वामेऽवामेऽवनी रमा ॥९॥

पीठस्थो वाम्बुजस्थो वा श्यामवर्णोऽच्युतः प्रभुः ।

विष्णु—विष्णु किरीट, मुकुट, केयूर एवं कटक आदि आभूषणों से युक्त, करधनी से अलंकृत, पीत वस्त्र धारण किये एवं चतुर्भुज होते हैं। (उनके हाथ) वरद मुद्रा, अभय मुद्रा, शंख एवं चक्र से युक्त होते हैं। वे पवित्र हैं। वे बैठे अथवा खड़े रहते हैं। उनके वाम भाग में अवनि (पृथ्वी) एवं दक्षिण भाग में रमा (लक्ष्मी) होती हैं। अच्युत प्रभु का वर्ण श्याम होता है एवं वह पीठ पर अथवा कमल पर स्थित होते हैं।।८-९।।

ग्रामादिवस्तुमध्ये च दिक्ष्वष्टासु प्रशस्यते ॥१०॥

श्रीलक्ष्मी भूमिसोद्भासी वक्ष्यते कमलेक्षणः ।
एकबेरं मुमुक्षूणां स्थापनीयं विचक्षणैः ॥११॥

ध्वजं च वाहनं चापि गरुडः समुदीरितः ।

(विष्णु की प्रतिमा) ग्राम आदि वास्तुओं के मध्य में तथा आठो दिशाओं में प्रशस्त होती है। श्री, लक्ष्मी एवं भूमि को प्रकाश से युक्त एवं कमल के समान नेत्रों वाली होनी चाहिये। विद्वानों के अनुसार मोक्षकामियों को एक (यही) प्रतिमा स्थापित करनी चाहिये। इनका ध्वज एवं वाहन गरुड़ कहा गया है।।१०-११।।

❋ वराहः ❋

वरदाभयहस्तौ च भुजोद्धृतवसुन्धरा ॥१२॥
पादाक्रान्तोरगाधीशस्तप्तकार्तस्वरप्रभः ।
पीतयज्ञोपवीतश्च सर्वालङ्कारसंयुतः ॥१३॥
प्रोक्तो वराहमूर्तिस्तु.................................... ।

वराह—वराह के दो हाथ वरद एवं अभयमुद्रा में होने चाहिये एवं वे भुजाओं से पृथ्वी को उठाये हों। वे पैर से सर्पराज को आक्रान्त किये हों एवं उनका वर्ण तपे हुये सोने के समान होना चाहिये। वे पीले रंग के जनेऊ एवं सभी अलंकारों से सुसज्जित हों। वराह की प्रतिमा का वर्णन इस प्रकार प्राप्त होता है।।१२-१३।।

❋ त्रिविक्रमः ❋

....प्रलयाम्बुदसन्निभः ।
गर्भभित्तिमुपाश्रित्य पञ्चायुधवपुः स्थितः ॥१४॥
त्रिविक्रमो वामनश्च.................................... ।

त्रिविक्रम—प्रलयकालीन बादल के समान, गर्भगृह की भित्ति के सहारे खड़े, पञ्चायुध शरीर वाले त्रिविक्रम होते हैं। वामन की प्रतिमा भी इसी प्रकार होती है।।१४।।

❋ नारसिंहः ❋

....नारसिंहश्च वैष्णवः ।
सिंहवक्त्रोऽतिनीरूक्षश्चोग्रदंष्ट्रो महाबलः ॥१५॥
कुटिलौ मांसलौ चोरू रोममालासमन्वितः ।
सकुण्डलः स्थूलजिह्वा करण्डमुकुटोज्ज्वलः ॥१६॥
श्वेतवर्णो महाकायो माङ्गल्यश्चण्डवेगवान् ।
दशहस्तोऽष्टबाहुर्वा तीक्ष्णदन्तनखान्वितः ॥१७॥
पीतयज्ञोपवीतश्च पुष्पमाल्यैरलङ्कृतः ।
हारकेयूरकटककटिसूत्रादिभिर्युतः ॥१८॥
रक्तवस्त्रधरो देवो हस्तौ युद्धे निरायुधौ ।
हिरण्योरःस्थलासक्तविदारणकरद्वयः ॥१९॥
आसीनश्चोक्तमार्गेण सर्वदेवाभिवन्दितः ।

नारसिंह—नारसिंह (की प्रतिमा) वैष्णव है। इनका मुख सिंह का, अत्यन्त रूक्ष (भयानक), उग्र दाँत एवं वे अत्यन्त बली होते हैं। उनकी माँसल जाँघें मुड़ी होती हैं एवं वे रोम तथा माला से युक्त होते हैं। वे कुण्डल से युक्त, स्थूल जिह्वा वाले, करण्ड एवं मुकुट से अलंकृत होते हैं। उनका वर्ण श्वेत होता है। (नारसिंह) विशाल शरीर मंगलमय एवं प्रचण्ड वेग से युक्त होते हैं। उनके दस या आठ हाथ होते हैं एवं वे तीक्ष्ण दाँत एवं नख ये युक्त होते हैं। वे पीले जनेऊ, पुष्पमालाओं से अलंकृत होते हैं तथा हार, केयूर, कटक एवं कटिसूत्र आदि से सुशोभित होते हैं। नारसिंह देव रक्त वस्त्र धारण किये हुये रहते हैं एवं युद्ध में उनके दोनों हाथों में अस्त्र नहीं होते। उनके दोनों हाथ हिरण्यकशिपु के वक्षःस्थल को विदीर्ण करते हैं। पूर्वोक्त रीति से (नारसिंह) आसीन मुद्रा में होते हैं एवं सभी देवता उनका अभिवन्दन करते हैं।।१५-१९।।

पर्वताग्रे गुहायां वाप्यरण्ये रिपुमण्डले ॥२०॥
स्थापितो रिपुनाशाय नारसिंहो विपश्चिताम् ।

विद्वानों के अनुसार शत्रुओं के विनाश के लिये नारसिंह की प्रतिमा को पर्वत-शिखर पर, गुफा में अथवा शत्रुओं के क्षेत्र में वन में स्थापित करना चाहिये।।२०।।

ग्रामादिषु चतुर्बाहुः शङ्खचक्रधरः प्रभुः ॥२१॥
सर्वालङ्कारसंयुक्तः पीतवस्त्रधरः शुचिः ।
स्थाप्यो नरहरिर्वायौ स्थितो वासीन एव वा ॥२२॥

पट्टिकोद्वलजङ्घोर्ध्वजान्वोपरि भुजद्वयम् ।
दण्डहस्तोऽभयो वान्यद् योगपट्टेन वेष्टयेत् ॥२३॥

वरदाभयहस्तं तु स्थानकं पद्मपीठके ।
शान्तिपुष्टिजयारोग्यभोगैश्वर्यधनैधनम् ॥२४॥

ग्राम आदि में चतुर्भुज, शंख एवं चक्र धारण किये, सभी आभरणों से सुसज्जित, पीत वस्त्र धारण किये, पवित्र नारसिंह देव को वायव्य कोण में खड़ी या बैठी मुद्रा में स्थापित करना चाहिये। (आसीन मुद्रा में) इनके दो हाथ शक्तिशाली जानुओं पर स्थित होते हैं एवं इनकी जङ्घायें पट्टिका के ऊपर उठी होती हैं। उनकी मुद्रा दण्ड होती है (अथवा उनके हाथ में दण्ड हो) अथवा अभय मुद्रा होती है। अथवा अन्य मुद्रा होती है। उन्हें योगपट्ट से लपेटना चाहिये। इनकी स्थानक (खड़ी मुद्रा) प्रतिमा पद्माकार पीठ पर वरद एवं अभय मुद्रा वाले हाथों से युक्त होनी चाहिये। (नारसिंह की यह प्रतिमा) शान्ति, पुष्टि, जय, आरोग्य, भोग, ऐश्वर्य एवं धन प्रदान करती है।।२१-२४।।

❋ अनन्तशायी ❋

सुप्तरूपं तु कर्तव्यमानन्तरूपतल्पके।
त्रिमेखलसमायुक्ते पञ्चसप्तफणान्विते ॥२५॥

पूर्वस्मिन्दक्षिणे वाऽपि शिरोयुग् द्विभुजः प्रभुः।
दक्षिणस्थो दण्डभुजः शिरोधरभुजोऽथवा ॥२६॥

सपुष्पो वामहस्ते तु योगनिद्रासुभद्रकः।
सितपीताञ्जनश्यामसन्निभस्तु चतुर्युगे ॥२७॥

कृतादिषु क्रमेणैव पूर्ववद् भूषणादिकम्।

अनन्तशायी—(अनन्तशायी विष्णु का) शयन करता हुआ रूप अनन्त रूप वाली शय्या पर निर्मित करना चाहिये। यह (सर्परूप) शय्या तीन मेखला (तीन कुण्डली मारी हुई) एवं पाँच या सात फणों से युक्त होनी चाहिये। देवता का शिर पूर्व या दक्षिण दिशा में होना चाहिये। इनकी दो भुजायें होनी चाहिये एवं देवता को प्रभु (भास्वर, प्रकाशमान) होना चाहिये। दक्षिण हस्त में दण्ड होना चाहिये अथवा उनका हाथ शिर को धारण किये हो (सहारा दिये हो)। उनके बाँयें हाथ में पुष्प होना चाहिये। इस प्रकार (अनन्तशायी) योगनिद्रा में होते हैं। कृत (सतयुग) आदि युगों में इनका वर्ण क्रमशः श्वेत, पीत, अञ्जन के समान कृष्ण एवं श्याम होता है। इनके आभूषण पहले के वर्णन के अनुसार होने चाहिये।।२५-२७।।

नाभिजन्माम्बुजे धाताप्यासीनस्तु समाहितः ॥२८॥

श्रीभूमी पुष्पहस्ते च स्थापितव्ये शिरोङ्घ्रिके।
देवस्य पार्श्वतः पुष्पमन्यज्जानुप्रसारितम् ॥२९॥

शयनं वामपादं तु श्रियो भूम्यास्तु दक्षिणे।
शङ्खचक्रगदाशार्ङ्गखड्गः सकलरूपिणः ॥३०॥

(अनन्तशायी की) नाभि से उत्पन्न कमल पर ध्यानस्थ धाता आसीन रहते हैं। श्री एवं भूमि को हाथ में पुष्प लेकर शिर की ओर एवं पैर की ओर स्थापित करना चाहिये। देवता के पार्श्व में पुष्प से युक्त (उनका) हाथ हो, दूसरा घुटने पर फैला हो। देव का वाम पैर श्री की ओर एवं दक्षिण पैर भूमि की ओर होना चाहिये। शंख, चक्र, गदा, शार्ङ्ग धनुष एवं खड्ग का अंकन अपने रूप में होना चाहिये।।२८-३०।।

शङ्खास्त्रेशः सितो भूतश्चक्रो रक्तनिभः पुमान्।
गदा स्त्री हेमसङ्काशा शार्ङ्गः कृष्णपुमान्भवेत् ॥३१॥

खड्गा श्यामलवर्णा स्त्री सर्वभूषणभूषिता ।
वामस्था सूचयो वामे दक्षे चोद्यतपाणयः ।।३२।।
नानावर्णाम्बराः सर्वे स्वमूर्ध्नि न्यस्तहेतयः ।
मधुकैटभकौ पार्श्वे स्थापितव्यौ च रोषितौ ।।३३।।
सुरेन्द्रः प्राङ्मुखो देवैरन्यैर्वा सुमहर्षिभिः ।

शंख का स्वामी वामन पुरुष होता है, जिसका वर्ण श्वेत होता है। चक्र रक्त वर्ण का पुरुष है। गदा सोने के वर्ण की स्त्री होती है। शार्ङ्ग कृष्ण वर्ण का पुरुष होता है। खड्ग श्यामल वर्ण की, सभी आभरणों से आभूषित स्त्री होती है। ये सभी वाम भाग में स्थित होते हैं। वाम हस्त में सूचियाँ (चिह्न) होती हैं एवं दक्षिण हाथ उठा होता है। सभी अनेक वर्णों के वस्त्र धारण किये होते हैं एवं उनके सिर पर अस्त्र रक्खे होते हैं। (देवता के) पार्श्व भाग में क्रोधित मधु एवं कैटभ (असुरों) को स्थापित करना चाहिये। सुरेन्द्र को अन्य देवों एवं महर्षियों के साथ पूर्वमुख होना चाहिये।

ग्रामादिवास्तुमध्ये वा बाह्ये दिक्षु विदिक्ष्वपि ।।३४।।
स्थापनीयो हरिर्युक्त्या सर्वेषां हितकांक्षिभिः ।

हित की कामना करने वालों को नियमानुसार हरि को ग्राम आदि वास्तु के मध्य में अथवा बाहर दिशाओं एवं दिक्कोणों में स्थापित करना चाहिये।।३४।।

❋ महेश्वरः ❋

पिशङ्गोर्ध्वजटाभासः काञ्चनाग्निसमप्रभः ।।३५।।
घनोरू रश्मिसंघातचन्द्राङ्कितजटाधरः ।
चतुर्भुजस्त्रिनेत्रश्च सौम्यो बृंहितयौवनः ।।३६।।
व्यूढोरस्को वृषारूढः शृङ्खलाङ्कुशपाशभृत् ।
पीनस्तुङ्गभुजो पाणी हस्त्यात्मा हारनूपुरः ।।३७।।
कटकं कटिसूत्रं च कुण्डलं नागनिर्मितम् ।
मेखलोदरबन्धं च पुण्डरीकाजिनाम्बरः ।।३८।।

महेश्वर—(महेश्वर के) ऊर्ध्व भाग में पिशंग वर्ण (भूरा लाल) की जटायें सुवर्ण एवं अग्नि के समान भास्वर होती हैं। उनके ऊरू सघन होते हैं। वे किरण-समूह से युक्त चन्द्रमा को अपनी जटाओं में धारण करते हैं। वे चार भुजाओं एवं तीन नेत्रों वाले, सौम्य एवं पूर्ण युवावस्था से युक्त होते हैं। (महेश्वर) विस्तृत वक्ष वाले, वृष पर सवार, शृंखला, अंकुश एवं पाश धारण किये रहते हैं। इनकी भुजायें विस्तृत

एवं ऊँची होती हैं तथा हाथ गज के सूँड़ के समान होते हैं। वे हार एवं नूपुर, कटक, कटिसूत्र, नागनिर्मित कुण्डल, उदर-भाग को बाँधने वाली मेखला से युक्त एवं मृगचर्म से युक्त होते हैं।।३५-३८।।

दशहस्तोऽष्टबाहुर्वा सर्वालङ्कारसंयुतः ।
दक्षिणे शक्तिशूलासिगदाप्रज्ज्वलनाङ्गवान् ॥३९॥
वामेऽपि नागखट्वाङ्गं खेटकं च कपालकम् ।
नागपाशं प्रसन्नस्तु व्याघ्रचर्माम्बरः शिवः ॥४०॥
गदासिहीनहस्तः सन् अष्टबाहुर्महेश्वरः ।
आसीनो वा स्थितो वाऽपि वृषारूढो वृषध्वजः ॥४१॥

(महेश्वर की) दस या आठ भुजायें सभी प्रकार के अलंकरणों से युक्त होती हैं। दाहिने हाथ में शक्ति, शूल, असि, गदा एवं अग्नि होती है। वाम हस्त में नाग, खट्वाङ्ग, खेटक, कपाल एवं नागपाश होते हैं। व्याघ्रचर्म के वस्त्र को धारण किये शिव प्रसन्न (भाव से युक्त) होते हैं। अष्टभुजाओं वाले महेश्वर उपर्युक्त अस्त्रों में गदा एवं असि से रहित होते हैं। ये बैठे हुये, खड़े अथवा वृष पर आरूढ़ होते हैं एवं वृषध्वज से युक्त होते हैं।।३९-४१।।

नृत्तवाद्यादिमुदितनृत्तभृङ्ग्यनुपूर्वकः ।
नन्द्यादिगणसंयुक्तः सुरव्रातनिषेवितः ॥४२॥
ग्रामे वा नगरे वाऽपि स्थापनीयो हितैषिभिः ।

(महेश्वर) भृंगी वाद्य एवं नृत्य तथा (अन्य) वाद्यों से प्रसन्न होकर नाचते हुये, नन्दी आदि गणों से युक्त, देवादिकों से सेवित रहते हैं। हित की कामना करने वालों के द्वारा (महेश्वर की) स्थापना ग्राम या नगर में करनी चाहिये।।४२।।

❋ षोडशमूर्त्तयः ❋

सुखासनं विवाहं चाप्युमास्कन्दं परं तथा ॥४३॥
वृषारूढं पुरारिं च नृत्तं वै चन्द्रशेखरम् ।
अर्धनारिं च विष्णवर्धं चण्डेशानुग्रहं परम् ॥४४॥
कामारिं कालनाशं च दक्षिणामूर्तिकं तथा ।
भिक्षाटनं मुखलिङ्गं लिङ्गसम्भूतरूपकम् ॥४५॥
षोडशप्रतिमाकारं वक्ष्येऽहं विधिना क्रमात् ।

सोलह मूर्तियाँ—अब मैं (मय) महेश्वर की सोलह प्रकार की मूर्त्तियों का वर्णन

क्रमशः नियमानुसार करता हूँ। ये हैं—सुखासन, विवाह, उमास्कन्द, वृषारूढ, पुरारि, नृत्त, चन्द्रशेखर, अर्धनारी, विष्णवर्ध, चण्डेशानुग्रह, कामारि, कालनाश, दक्षिणामूर्ति, भिक्षाटन, मुखलिङ्ग एवं लिङ्गसम्भूत।।४३-४५।।

त्रिनेत्रं च चतुर्बाहुं बालेन्दुकृतशेखरम् ।।४६।।
व्याघ्रचर्माम्बरं चैव हारकेयूरभूषितम् ।
यज्ञोपवीतसंयुक्तं कुण्डलाभ्यामलङ्कृतम् ।।४७।।
एवं षोडशमूर्त्तीनां सामान्यं समुदीरितम् ।
अतः परं पृथग्रूपं क्रमशो वक्ष्यतेऽधुना ।।४८।।

सोलह मूर्तियों के सामान्य लक्षण इस प्रकार वर्णित हैं। (महेश्वर) तीन नेत्रों, चार भुआओं, शिर पर बालचन्द्र, व्याघ्रचर्म का वस्त्र धारण किये, हार एवं केयूर से अलंकृत, जनेऊ से युक्त तथा दो कुण्डलों से विभूषित होते हैं। अब क्रमशः प्रत्येक के रूप का पृथक्-पृथक् वर्णन किया जा रहा है।।४६-४८।।

सुखासनमूर्त्तिः

आसने तु सुखासीनं वरदाभयहस्तकम् ।
दक्षिणेऽदक्षिणे हस्ते टङ्ककृष्णं प्रयोजयेत् ।।४९।।
शयितं वामपादं तु दक्षिणं पीठलम्बितम् ।
अनुक्तं पूर्ववत्सर्वमेवमुक्तं सुखासनम् ।।५०।।
इदं पूजाविधौ चैव निश्चयं मोक्षसिद्धिदम् ।

सुखासन मूर्ति आसन पर सुखपूर्वक बैठे हुये वरद एवं अभय मुद्राओं में हाथ वाले महेश्वर के दाहिने हाथ में टङ्क (परशु) एवं वाम हाथ में कृष्ण (हिरण) निर्मित करना चाहिये। वाम पैर आसन पर शयित (लेटा हुआ, मोड़ कर रक्खा हुआ) एवं दाहिना पैर पीठ पर टिका होना चाहिये। जिनका वर्णन यहाँ न किया गया हो, वह सब पूर्ववर्णन के अनुसार सुखासन मूर्ति में होना चाहिये। इस प्रकार की मूर्ति की पूजा निश्चित रूप से मोक्ष प्रदान करती है।।४९-५०।।

वैवाहमूर्त्तिः

किञ्चित् त्रिभङ्गिकं कायं वामपादं तु कुञ्चितम् ।।५१।।
देवस्य दक्षिणं हस्तं देव्या हस्तेन संयुतम् ।
वरदं वामहस्तं तु कृष्णापरशुसंयुतम् ।।५२।।
सर्वाभररणसंयुक्तं क्षौमवस्त्रधरं हरम् ।

(महेश्वर की मूर्ति को) थोड़ा त्रिभङ्गी (तीन स्थान पर मुड़ी हुई) निर्मित करना चाहिये। वाम पैर मुड़ा होना चाहिये। देवता का दाहिना हाथ देवी के हाथ से जुड़ा होना चाहिये। देवता का बाँयाँ हाथ वरदमुद्रा में होना चाहिये। (शेष दो हाथ) कृष्ण (मृग) एवं परशु से युक्त होना चाहिये। हर (शिव) सभी आभरणों से युक्त एवं क्षौम वस्त्र (रेशमी वस्त्र) धारण किये होने चाहिये।।५१-५२।।

देवस्य बाहुमात्रेण देवी कार्या द्विबाहुका ।।५३।।
द्विनेत्रा चारुवदना श्यामवर्णा तु कोमला।
किञ्चिद् वक्रां तु केयूरकटकैरङ्गुलीयकैः ।।५४।।
करण्डिकाभमौल्यङ्गां सर्वाभरणभूषिताम्।
दुकूलवसनां गौरीमुत्पलान्वितपाणिकाम् ।।५५।।
नूपुराद्यैर्ज्वलत्पादपङ्कजां दक्षिणे न्यसेत्।

देवी को देवता के बाहु के माप (बाहु के बराबर ऊँचाई) का निर्मित करना चाहिये। देवी को दो बाहु से युक्त, दो नेत्रों वाली, सुन्दर मुख वाली, श्याम वर्ण की, कोमल तथा थोड़ी टेढ़ी निर्मित करना चाहिये। गौरी को केयूर, कटक, अंगूठी से युक्त, सिर पर करण्डिका एवं सभी प्रकार के आभरणों से अलंकृत होना चाहिये। गौरी दुकूल-वस्त्र धारण किये एवं हाथों में कमल लिये होती हैं। इनके चरण-कमल नूपुर आदि अलंकरणों से शोभायमान होते हैं। (इस प्रकार की) गौरी को (हर देव के) दाहिने भाग में स्थापित करना चाहिये।।५३-५५।।

लक्ष्मीं हिरण्यवर्णाञ्च द्विभुजां च द्विलोचनाम् ।।५६।।
सर्वाभरणसंयुक्तामुमापार्श्वे तु कारयेत्।
शिला वा विष्णुमूर्त्तिर्वा जलधारां तु दापयेत् ।।५७।।
षोडशाम्बुजके ब्रह्मा विवाहहोमसम्मुखः।
कल्याणं कारयेदेवं सर्वदेवगणान्वितम्।
सुराद्यादिसुपूज्यं च सर्वमङ्गलसिद्धिदम् ।।५८।।

लक्ष्मी को सुवर्ण वर्ण की दो भुजाओं एवं दो नेत्रों से युक्त तथा सभी आभूषणों से युक्त उमा के पार्श्व में निर्मित करना चाहिये। शिला अथवा विष्णुमूर्ति पर जलधारा डालनी चाहिये। सोलह पटल वाले कमल पर आसीन ब्रह्मा विवाह-हवन के सम्मुख हों। इस प्रकार सभी देवगणों से युक्त, देवों द्वारा पूजित देवता का कल्याण (विवाह) निर्मित करना चाहिये। यह (मूर्ति) सभी प्रकार का कल्याण करने वाली एवं सिद्धि प्रदान करने वाली होती है।।५६-५८।।

❋ सोमास्कन्दमूर्त्तिः ❋

अर्धचन्द्रासनं देवं वामाङ्गस्थितगौरिकम्।
उमासहितहस्तं तु देव्या हस्तोपगूहितम् ॥५९॥

उमामहेश्वरं रूपं पूर्वोक्तस्वस्वरूपकम्।
देवस्य वामपार्श्वे तु देवीं कुर्याद् विचक्षणः ॥६०॥

सोमाकन्द मूर्ति—(महेश्वर) देव को अर्धचन्द्र के आकार के आसन पर आसीन निर्मित करना चाहिये। उनके वाम भाग में गौरी हों। उनका हाथ उमा के साथ हो (महेश्वर का एक हाथ उमा को पकड़े हो)। देवी का हाथ छिपा हो। उमा एवं महेश्वर के अपने-अपने रूप का जैसा वर्णन पहले किया गया है, वैसा ही निर्माण होना चाहिये। विद्वान् को देवी को देवता के वाम भाग में निर्मित करना चाहिये।।५९-६०।।

उमाशङ्करयोर्मध्ये स्कन्दं वै बालरूपकम्।
सुखासनं युक्त्या कुर्यादुमास्कन्दान्वितं भवेत् ॥६१॥

उमास्कन्दस्य देवस्य सर्वकामार्थसिद्धिदम्।

उमा एवं शंकर के बीच में बालरूप में स्कन्द होते हैं। उमा एवं स्कन्द के साथ शंकर को सुखासन में निर्मित करना चाहिये। उमा एवं स्कन्द से युक्त देवता (शंकर) सभी कामनाओं की पूर्ति करते हैं। अर्थ एवं सिद्धि प्रदान करते हैं।।६१।।

❋ वृषारूढमूर्त्तिः ❋

उमेश्वरौ स्थितौ पीठे वृषभं पृष्ठतः स्थितम् ॥६२॥

वृषमस्तकदेशे तु न्यस्तव्यं वामकूर्परम्।
लम्बितं दक्षिणं हस्तं शूलं वामे यथोचितम् ॥६३॥

कृष्णापरशुसंयुक्तं वृषारूढं समीरितम्।
पूजा दारिद्र्यनाशार्थं सर्वप्राणिहितावहम् ॥६४॥

वृष पर आरूढ़ मूर्ति—उमा एवं ईश्वर (शिव) पीठ पर स्थित होते हैं एवं वृषभ पीछे स्थित होता है। शिव की बाँई कोहनी वृष के मस्तक पर रक्खी होती है। दाहिना हाथ लटका रहता है। बायें हाथ में शूल होता है। (शेष दो हाथों में) कृष्ण (मृग) एवं परशु होता है। इसे वृषारूढ़ (शिवमूर्ति) कहते हैं। इस मूर्ति की पूजा दारिद्र्य के विनाश के लिये होती है एवं यह सभी प्राणियों का कल्याण करती है।

❋ त्रिपुरान्तकमूर्त्तिः ❋

सुस्थितं दक्षिणं पादं वामपादं तु कुञ्चितम्।
धनुर्बाणसमायुक्तं कृष्णापरशुसंयुतम् ॥६५॥

वृषभस्यन्दनस्थानं सर्वदेवगणान्वितम्।
उमया सहितं देवं कुर्याद्वै त्रिपुरान्तकम्॥६६॥
वैरिनाशार्थकं पूज्यं कुर्यात् त्रिपुरसुन्दरम्।

त्रिपुरान्तक—(भगवान् शिव) दक्षिण पैर पर भली-भाँति स्थित होते हैं एवं बायाँ पैर मुड़ा होता है। ये धनुष एवं बाण से युक्त तथा कृष्ण (मृग) एवं परशु से युक्त होते हैं। ये वृषभ द्वारा खींचे जा रहे रथ पर स्थित होते हैं एवं सभी देवगणों से युक्त होते हैं। त्रिपुर का वध करने वाले देव (शिव) को उमा के सहित निर्मित करना चाहिये। शत्रुओं के विनाश के लिये त्रिपुरसुन्दर का पूजन करना चाहिये।

❋ नृत्तमूर्त्तयः ❋

नृत्तं भुजङ्गललितं सन्ध्यानृत्तमिहोच्यते॥६७॥
डमरुं चापि वह्निं च दक्षिणेऽदक्षिणे करे।
त्रिशूलं परशुं खड्गं बाणं स्याद् दक्षिणे करे॥६८॥
खेटकं च पिनाकं च दण्डं पाशं च वामतः।

नृत्य करती मूर्त्तियाँ—भुजंगललित नृत्य को यहाँ सन्ध्या नृत्य कहा गया है। इनके दाहिने हाथ में डमरू एवं बाँयें हाथ में अग्नि रहती है। (अन्य) दाहिने हाथों में त्रिशूल, परशु, खड्ग एवं बाण होते हैं। बाँयें हाथों में खेटक, पिनाक, दण्ड एवं पाश होते हैं।।६७-६८।।

चारुचारीप्रचारेण प्रज्ज्वलच्चरणान्वितम्॥६९॥
दक्षिणां कुञ्चितं पादं वामं जान्वन्तमुद्धृतम्।
जानुबाह्यादिपार्ष्ण्यन्तमेकादित्रिमुखान्तरम्॥७०॥
तदन्तरेऽष्टभागे तु नवधा निर्गमं मतम्।
निर्गमं वामपादं तु युक्त्या तत्र प्रयोजयेत्॥७१॥

इनके पैर नृत्य की सुन्दर गति से प्रकाशमान होते हैं। दाहिना पैर मुड़ा होता है एवं वाम जानु तक उठा होता है। बाँयीं एड़ी तथा दाहिने घुटने के मध्य में मुख की ऊँचाई का तीन गुना अन्तर होता है। अपने स्थान से उठे हुये दाहिने पैर के मध्य नौ में से आठ भाग के बराबर अन्तर पूर्ववर्णन के अनुसार होना चाहिये। बाँयें पैर का निर्गम आवश्यकतानुसार रखना चाहिये।।६९-७१।।

ऋज्वागतमुखं किञ्चित्कायं वै सत्रिभङ्गिकम्।
साभयं दक्षिणं हस्तमङ्गुष्ठान्तं स्तनान्तकम्॥७२॥

उद्यड्डमरुकं हस्तं कर्णचूल्यन्तमुद्धृतम् ।
गजहस्तोपमं वामं वामपादान्तिकं गतम् ॥७३॥
साग्निवामकरं बाहुमात्रोच्चं कारयेत् सुधीः ।

मुख सीधा होना चाहिये; किन्तु शरीर तीन स्थानों से थोड़ा झुका होना चाहिये। दाहिना हाथ अभय मुद्रा में हो, जिसका अंगूठे का अन्तिम भाग स्तन तक होना चाहिये। डमरू उठाया हाथ कान की चूली तक उठा होना चाहिये। गज के सूँड़ के समान बाँयाँ हाथ बाँयें पैर के समीप तक होना चाहिये। बुद्धिमान व्यक्ति को (दूसरे) बाँयें हाथ को अग्नि से युक्त निर्मित करना चाहिये एवं बाहु के बराबर ऊँचा रखना चाहिये।।७२-७३।।

बाहुकक्षान्तरं तावत् व्याघ्रचर्मधरः समः ॥७४॥
वामेऽवामे फणी कृत्वा न्यसेद् वामेऽभयं तु वा ।
संविकीर्णजटाभारं बकपक्षविचित्रितम् ॥७५॥
करोटिमालया युक्तं जटाजूटसचन्द्रकम् ।
संविकीर्णजटासंख्या पञ्चसप्तनवोदिता ॥७६॥

(शिव के) बाहु एवं कक्ष के मध्य का अन्तर उतना ही होना चाहिये। (शिव) व्याघ्र का चर्म धारण करते हैं। बाँयें एवं दाहिने हाथ से सर्प की आकृति बनानी चाहिये या वाम हस्त अभय मुद्रा में होना चाहिये। (देवता की) बँधी जटायें बक (बगुले) के पंखों से सजी होती हैं। उनकी बँधी जटा में कपालों की माला लिपटी होती है एवं उसमें चन्द्रमा होता है। उनके जटाओं की संख्या पाँच, सात या नौ होती है।

वामे गौरी त्रिभागे तु अवामे नन्दिकेश्वरः ।
नृत्तवाद्यादिमुदितौ नृत्तभृङ्गी च पूर्वकम् ॥७७॥
देवदानवगन्धर्वसिद्धविद्याधरान्वितम् ।
पार्श्वयोर्मुनिभिर्युक्तं सुरवृन्दनिषेवितम् ॥७८॥
पीठस्थोऽथाम्बुजस्थो वा स्थापयेत्तन्निरन्तरम् ।
पादाधारमपस्मारं भुजङ्गत्रासमीरितम् ॥७९॥
नृत्तपूजाफलं सद्यः शत्रुनाशकरं भवेत् ।

उनके वाम भाग में (देवता के) तीन भाग के बराबर गौरी होनी चाहिये एवं दाहिने भाग में नन्दिकेश्वर होना चाहिये। दोनों नृत्य एवं संगीत से प्रसन्न होते हैं एवं भृङ्गी पूर्ववर्णन के अनुसार नृत्य करते हैं। (शिव) देव, दानव, गन्धर्व, सिद्ध एवं

विद्याधरों से युक्त होते हैं। उनके दोनों पार्श्वों में मुनिगण होते हैं एवं वे देवगणों से सेवित होते हैं। देवता को पीठ पर स्थित या कमल पर स्थित स्थापित करना चाहिये। उनके पैर का आधार अपस्मार होता है एवं यहाँ सर्प भी वर्णित है। नृत्यमूर्ति की पूजा का परिणाम तुरन्त शत्रु का नाश करने वाला होता है।।७७-७९।।

॥ चन्द्रशेखरमूर्त्तिः ॥

ऋज्वागतस्थितं देवं वरदाभयहस्तकम् ॥८०॥
कृष्णापरशुसंयुक्तं कर्तव्यं चन्द्रशेखरम् ।

चन्द्रशेखर मूर्ति—चन्द्रशेखर की मूर्त्ति को सीधी खड़ी, वरद एवं अभय मुद्रा में हाथों से युक्त एवं कृष्ण (मृग) तथा परशु से युक्त निर्मित करना चाहिये।।८०।।

॥ अर्धनारीश्वरमूर्त्तिः ॥

उमया सहितं वाममैशमर्धं तु दक्षिणे ।
अतिपीतजटाभारमुकुटं सुविचित्रितम् ॥८१॥
वामोमार्धं सधम्मिल्लं सीमन्तं तिलकालकम् ।
कुण्डलं दक्षिणे कर्णे वासुकिं च व्यवस्थितम् ॥८२॥
ताडिकं वामके दद्यात् पालिकां च प्रदापयेत् ।

अर्धनारीश्वर मूर्त्ति—वाम भाग में उमा एवं दाहिने भाग में ईश होना चाहिये। (दाहिना भाग) अत्यन्त पीत वर्ण की जटा, मुकुट एवं अनेक प्रकार (के अलंकरणों) से अलंकृत होना चाहिये। आधा वाम भाग धम्मिल सीमन्त (माँग) से युक्त होना चाहिये एवं मस्तक पर तिलक होना चाहिये। दाहिने कान में वासुकि सर्प का कुण्डल होना चाहिये। बाँयें कान में ताडिक एवं पालिका (आभूषणविशेष) होना चाहिये।

कपालं दक्षिणे हस्ते शूलं टङ्कं क्रमेण वा ॥८३॥
सोत्पलं वामहस्तं तु केयूरकटकान्वितम् ।
पवित्रमक्षसूत्रं च वामेऽवामे प्रयोजयेत् ॥८४॥
सहारं कन्धरार्धं तु वामे साग्निं च दक्षिणम् ।

(दोनों) दाहिने हाथों में कपाल, शूल या टंक (परशु) होना चाहिये। बाँयें हाथ में कमल होना चाहिये तथा वह केयूर एवं कटक (बाजूबन्द एवं कंगन) से सुसज्जित होना चाहिये। दाहिने भाग में पवित्र (यज्ञोपवीत) हो एवं वाम में अक्षमाला होनी चाहिये। गले का वाम भाग हार से युक्त तथा दक्षिण भाग अग्नि से युक्त होना चाहिये।

स्तनयुक्तमुमार्धं तु दक्षिणं वृद्धवक्षसम् ॥८५॥

श्रोण्यर्धदक्षिणे शम्भोर्व्याघ्रचर्मकृताम्बरम्।
उमार्धं कटिसूत्रं च चित्रवस्त्रपरिच्छदम्॥८६॥

उमा के आधे भाग में स्तन एवं दाहिने (शिव के) भाग में पीन वक्ष होना चाहिये। दाहिने आधे शिव के भाग में कमर पर व्याघ्रचर्म से निर्मित वस्त्र होना चाहिये। उमा वाला आधा भाग कटिसूत्र (करधनी) तथा रंग-बिरंगे वस्त्रों से आच्छादित होना चाहिये॥८५-८६॥

पादौ च देवदेव्योश्च समपद्मोपरिस्थितौ।
नूपुरालङ्कृतं किञ्चित्कुञ्चितं वामपादकम्॥८७॥
साङ्गुलीयं तथा देव्या भूषितं वामपादकम्।

देवता एवं देवी के दोनों पैर एक ही पद्मपुष्प पर स्थित रहते हैं; किन्तु वाम पाद नूपुर से सुसज्जित एवं थोड़ा झुका होता है। देवी का वाम पाद अंगुलीय (बिछिया) से अलंकृत होता है॥८७॥

चतुर्भुजं तु वा देवमुमार्धं शुकसंयुतम्॥८८॥
ईशार्धं रक्तवर्णं तु श्यामवर्णमुमार्धकम्।
अर्धनारीश्वरं रूपं कुर्याद्विद्वान् सलक्षणम्॥८९॥

अथवा, देवता को चतुर्भुज निर्मित करना चाहिये। उमा के (दूसरे हाथ में) शुक होना चाहिये। ईश (शिव) का आधा भाग रक्त वर्ण का एवं उमा का आधा भाग श्याम वर्ण का होना चाहिये। विद्वान् व्यक्ति को इन लक्षणों से युक्त अर्धनारीश्वर के रूप का निर्माण करना चाहिये॥८८-८९॥

हरिहरमूर्त्तिः

विष्ण्वर्धमीश्वरार्धं च पूर्ववत् परिकल्पयेत्।
शङ्खदण्डं तु कृष्णार्धे शूलटङ्कं शिवार्धतः॥९०॥
स्वस्वाभरणसम्पूर्णं समपद्मोपरि स्थितम्।
विष्णुशङ्करयोरर्धं वामदक्षिणभागतः॥९१॥

हरिहर मूर्त्ति—(इस मूर्ति का) आधा भाग विष्णु का एवं आधा भाग ईश्वर (शिव) का होता है। इसे पूर्ववत् निर्मित करना चाहिये। कृष्ण के आधे भाग में शंख एवं दण्ड तथा शिव के आधे भाग में शूल एवं टंक (परशु) होना चाहिये। एक ही पद्म पर स्थित (हरि-हर को) उनके अपने-अपने सम्पूर्ण आभरणों से अलंकृत करना चाहिये। वाम भाग विष्णु का एवं दक्षिण भाग शंकर का होता है॥९०-९१॥

✵ चण्डेशानुग्रहमूर्त्तिः ✵

प्रत्यालीढस्य देवस्य चण्डेशं पार्श्वतो न्यसेत् ।
प्रकोष्ठे परशुं कृत्वा हृदयाञ्जलिहस्तकम् ॥९२॥

पुष्पमालासमायुक्तमत्यन्तोर्जिततेजसम् ।
चण्डेश्वरप्रसादं तु रूपम्............................ ।

चण्डेशानुग्रह मूर्त्ति—प्रत्यालीढ (धनुष खींचे हुये) देवता के पार्श्व में चण्डेश को स्थापित करना चाहिये। हृदय पर हाथ बाँधे हुये चण्डेश प्रकोष्ठ (दोनों बँधे हाथों के मध्य) में परशु लिये हों। वह पुष्पमाला से युक्त, अत्यन्त ऊर्जावान् तथा तेज से युक्त हों। यह चण्डेश्वर प्रसाद रूप है।।९२।।

✵ कामारिमूर्त्तिः ✵

...कामारिरुच्यते ॥९३॥

देवस्य पार्श्वतः कुर्यात् कामं रूपं प्रवक्ष्यते ।
पर्यङ्कबन्धमालीनमङ्के क्षिप्तोर्ध्वपाणिकम् ॥९४॥

कामारिमुग्ररूपं तु कारयेल्लक्षणान्वितम् ।

कामारि मूर्त्ति—अब कामारि शिव का रूप-वर्णन किया जा रहा है। देवता के पार्श्व में काम निर्मित होना चाहिये। उसका रूप कहा जा रहा है। कामदेव पर्यंक के बन्ध (किनारे) बैठे हों एवं अपना हाथ ऊपर उठाये हों। कामारि शिव का रूप उग्र हो एवं उन्हें लक्षणों के अनुसार निर्मित करना चाहिये।।९३-९४।।

✵ कालनाशमूर्त्तिः ✵

उद्धृतं दक्षिणं पादं वामपादं तु कुञ्चितम् ॥९५॥

दक्षिणे तु करे शूलं परशुं वामबाहुके ।
दक्षिणे नागपाशं तु वामहस्तं तु सूचितम् ॥९६॥

कालसंहृदये पादं शूलं कुर्यादधोमुखम् ।
कालनाशवपुः प्रोक्तमुग्ररूपं तु चण्डधृक् ॥९७॥

कालनाश मूर्त्ति—(शिव का) दाहिना पैर ऊपर उठा हो एवं बाँयाँ पैर मुड़ा होना चाहिये। दाहिने हाथ में शूल एवं बाँयें हाथ में परशु होना चाहिये। (दूसरे) दाहिने हाथ में नाग-पाश तथा (दूसरा) वाम हस्त सूचित करता हो। उनका पैर काल के हृदय पर हो एवं शूल का मुख नीचे की ओर होना चाहिये। अब कालनाश के विग्रह के बारे में कहा जा रहा है। उनका रूप उग्र एवं दृष्टि भयानक होनी चाहिये।

✺ दक्षिणामूर्त्तिः ✺

सन्दंशमक्षमाला च दक्षिणेऽदक्षिणे करे।
पुस्तकं ज्वलनं कुर्याच्छ्वेतवर्णं त्रिलोचनम् ॥९८॥

दक्षिणामूर्त्ति—शिव का दाहिना हस्त शिक्षा देने की मुद्रा में हो एवं दूसरे हाथ में अक्षमाला होनी चाहिये। बाँयें हाथ में पुस्तक एवं अग्नि होनी चाहिये। देवता को श्वेत वर्ण का एवं त्रिनेत्रयुक्त निर्मित करना चाहिये।।९८।।

पिङ्गवर्णावृतालम्बिकेशभारं सचन्द्रकम्।
करोटिकार्कधुर्धूरपुष्पयुक्तं हि सादितम् ॥९९॥

दक्षिणोरूपरिष्टात्तु शयितं वाममङ्घ्रिकम्।
पादाधारमपस्मारं कुर्यात् पीठे समन्वितम् ॥१००॥

पार्श्वयोर्मुनिभिर्युक्तं दक्षिणामूर्त्तिरूपकम्।
पर्वताग्रस्थितं देवं मृगपक्षिमुनीश्वरम् ॥१०१॥

उनके केश पिङ्गल वर्ण से आवृत होते हैं एवं चन्द्रमा से युक्त होते हैं। (उनके केश) कपाल मन्दार एवं धत्तूर के पुष्प से अलंकृत होते हैं। वह आसीन होते हैं तथा उनके दाहिने ऊरू पर वाम चरण शयित (फैला, टिका) होता है। पीठ पर वे आसीन होते हैं एवं पैर के आधार (पैर के नीचे) पर अपस्मार का निर्माण करना चाहिये। उनके दोनों पार्श्वों में ऋषिगण होते हैं। दक्षिणामूर्त्ति देव पर्वत के शिखर पर स्थित होते हैं एवं वे पशु-पक्षी एवं मुनियों के स्वामी हैं।।९९-१०१।।

✺ भिक्षाटनमूर्त्तिः ✺

भिक्षाटनं प्रकर्तव्यं नग्नरूपं त्रिलोचनम्।
चतुर्भुजसमायुक्तं पिच्छं वामे कपालकम् ॥१०२॥

हरिण्यास्यगतं हस्तं सव्यं डमरुकोद्धृतम्।
पादं पादुकसंयुक्तं देवं वै गमनोन्मुखम् ॥१०३॥

भिक्षाटन मूर्त्ति—भिक्षाटन मूर्ति को नग्न रूप, त्रिलोचन एवं चार भुजाओं से युक्त होना चाहिये। बाँयें हाथ में मयूरपूँछ एवं कपाल होता है। दाहिना हाथ हिरण के मुख तक गया होता है एवं दूसरा हाथ डमरू लिये ऊँचा उठा होता है। पैर पादुक (जूता, चप्पल) से युक्त होते हैं। देवता चलने के लिये तत्पर होते हैं।

✺ कङ्कालमूर्त्तिः ✺

अथवाऽष्टचतुर्बाहुः षड्भुजो वा महेश्वरः।
मणिभिः शङ्खजैर्नागैर्भूषितस्त्वहिकुण्डलः ॥१०४॥

पालिकं वामे पत्रं वा क्षुरिकालंकृता कटिः।
व्याघ्रचर्माम्बरो देवः श्वेतवर्णस्त्रिलोचनः ॥१०५॥

कंकाल मूर्त्ति—अथवा महेश्वर आठ भुजाओं, चार भुजाओं या छः भुजाओं से युक्त होते हैं। ये मणियों, मोतियों एवं नागों से सुसज्जित होते हैं। सर्प का कुण्डल (दाहिने कान में) होता है तथा बाँयें में पालिक या पत्र होता है। उनकी कटि क्षुरिका से आभूषित होती है। देवता व्याघ्रचर्म का वस्त्र धारण किये, श्वेत वर्ण के एवं तीन नेत्रों से युक्त होते हैं।।१०४-१०५।।

पादुकालङ्कृतं पादं तुटिकार्धान्वितः करः।
सर्वालङ्कृतिसंयुक्तः सर्वभूतगुणान्वितः ॥१०६॥
विभ्रमस्त्रीगणावृत्तः कङ्कालश्चारुवेषभाक्।

देवता के पैर पादुक से सुसज्जित होते हैं एवं हाथ में तुटिकार्ध (कच्छप के आधे खोल से निर्मित पात्र) होता है। ये सभी आभूषणों से आभूषित एवं सभी भूतों से युक्त होते हैं। आवेशयुक्त स्त्रियों से घिरे हुये एवं सुन्दर वेष से युक्त कंकालमूर्त्ति शिव होते हैं।।१०६।।

❋ मुखलिङ्गम् ❋

मुखलिङ्गमथो वक्ष्ये सर्वकामप्रसिद्धये ॥१०७॥
धर्मांशे तु शिवायामे विष्कम्भे तु त्रिभागिके।
स्कन्धं द्व्यंशे गलं भागं त्रिभागं मुखमिष्यते ॥१०८॥
उष्णीषमंशकं द्व्यंशं मुकुटं लिङ्गमंशतः।
भागेन मुखविष्कम्भं चोर्ध्वलिङ्गविशालकम् ॥१०९॥
विष्णोः पितामहस्यापि तौ भागावार्षधर्मके।

मुखलिंग—अब मैं (मय) सभी इच्छाओं की सिद्धि के लिये मुखलिङ्ग का वर्णन कर रहा हूँ। शिवभाग की चौड़ाई लिङ्ग की ऊँचाई के दस भाग में तीन भाग के बराबर होती है। कन्धों के लिये दस में दो भाग, गले के लिये एक भाग, मुख के लिये तीन भाग, शिरोभाग के लिये एक भाग, मुकुट के लिये दो भाग, एक भाग मुखविष्कम्भ के लिये होना चाहिये। लिङ्ग के ऊपरी भाग की चौड़ाई भी इसी प्रकार होनी चाहिये। विष्णु एवं पितामह के भाग ऋषि-लिङ्ग के अनुसार होने चाहिये।

ललाटचन्द्रकास्योष्ठघ्राणानि नयनानि च ॥११०॥
कर्णगण्डस्तथाद्यङ्गं यथोक्तं सकले तथा।
मानोन्मानप्रमाणेन प्रकुर्याच्छास्त्रवित्तमः ॥१११॥

ललाट, बाल-चन्द्र, मुख, ओष्ठ, नासिका, नेत्र, कर्ण, गण्ड (कपोल) सभी के विषय में जैसा कहा गया है, वैसा ही होना चाहिये। शास्त्रज्ञ को इसे मान एवं उन्मान (लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई) के प्रमाण से निर्मित करना चाहिये।।११०-१११।।

चतुर्णामपि वक्त्राणामलङ्कारमथोच्यते ।
त्रिनेत्रं सस्मितं वक्त्रं पूर्वं तत्पुरुषाह्वयम् ॥११२॥

चन्द्राङ्कितजटाजूटं कुङ्कुमद्रवसन्निभम् ।
नक्रकुण्डलसंयुक्तं पद्मपत्रवदीक्षणम् ॥११३॥

चारो मुखों का अलंकरण अब वर्णित किया जा रहा है। पूर्व दिशा का मुख तत्पुरुष संज्ञक, तीन नेत्रों से युक्त एवं स्मित (मुस्कुराहट) युक्त होता है। जटाजूट चन्द्र से युक्त एवं कुङ्कुम के समान (रक्त वर्ण का) होता है। ये नक्रकुण्डल (मकराकृति कुण्डल) से सुशोभित होते हैं एवं इनके नेत्र कमल-पत्र के सदृश होते हैं।

अघोरं दक्षिणं वक्त्रं सिंहाक्षं सिंहनासिकम् ।
राजावर्तनिभच्छायं फणिकुण्डलमण्डितम् ॥११४॥

ससर्पप्रोतनं तुण्डं चन्द्राङ्कितजटाभरम् ।
सदंष्ट्रस्थूलजिह्वं च पिङ्गश्मश्रु त्रिलोचनम् ॥११५॥

इनका दक्षिण मुख अघोर संज्ञक होता है। आँखें एवं मुख सिंह के समान होते हैं। इनका वर्ण राजावर्त (लाजावर्त) के समान होता है एवं सर्प से आवृत एवं जटायें चन्द्रमा से युक्त होती हैं। यह मुख दाढ़ से युक्त, मोटी जिह्वा से युक्त, भूरी दाढ़ी-मूँछों से युक्त एवं तीन नेत्रों से युक्त होता है।।११४-११५।।

प्रसन्नं वारुणं वामं रत्नकुण्डलमण्डितम् ।
सार्धेन्द्वहिजटाजूटं पूर्णचन्द्रनिभं मुखम् ॥११६॥

सद्योजाताह्वयं सौम्यं बन्धूककुसुमप्रभम् ।
चन्द्राङ्कितजटाजूटं तिलकालकसंयुतम् ॥११७॥

युवत्याभरणोपेतं वक्त्रं धम्मिल्लकोज्ज्वलम् ।
एकद्वित्रिचतुर्वक्त्रमेवं लिङ्गं प्रकीर्तितम् ॥११८॥

देवता का पश्चिम मुख प्रसन्न रहता है। ये रत्नों एवं कुण्डल से मण्डित होते हैं। बँधी जटा सर्प एवं अर्धचन्द्र से युक्त होती है। मुख पूर्ण चन्द्र के समान होता है। इसे सद्योजात कहते हैं। उत्तर मुख बन्धूकपुष्प के समान होता है। जटाजूट चन्द्रमा से युक्त होता है एवं मस्तक पर तिलक होता है। युवतियों के आभरणों सें युक्त देवता का

मुख धम्मिल (केशसज्जाविशेष) से प्रकाशमान रहता है। मुखलिङ्ग एक, दो, तीन या चार मुखों से युक्त होता है।।११६-११८।।

षण्मुखः

सर्वाभरणसंयुक्तं षण्मुखं कुङ्कुमच्छविम्।
देव्यौ गजा च वल्ली च पीतश्यामनिभे कृते ।।११९।।
सर्वाभरणसंयुक्ते वामेऽवामे प्रयोजयेत्।

षण्मुख—सभी आभूषणों से आभूषित षण्मुख का सौन्दर्य कुंकुम के रंग का होता है। उनके दाहिने एवं बाँयें पीले एवं श्याम वर्ण की गजा एवं वल्ली संज्ञक देवियाँ सभी आभूषणों से आभूषित निर्मित होती हैं।।११९।।

ग्रामादिवस्तुमध्ये च चतुर्दिक्षु प्रशस्यते ।।१२०।।
वीथ्यग्रे वीथिमध्ये वा ऐशान्यामपि वर्धयेत्।
भोगार्थं पश्चिमे न्यस्य मोक्षार्थं मध्यमेऽस्य तु ।।१२१।।

ग्राम आदि वास्तुओं के मध्य में एवं चारो दिशाओं में षण्मुख की मूर्त्ति प्रशस्त होती है। वीथियों के अग्र भाग या मध्य भाग में तथा ईशान कोण में षण्मुख वृद्धि प्रदान करते हैं। भोग के लिये इनकी स्थापना पश्चिम में एवं मोक्ष के लिये मध्य में करनी चाहिये।।१२०-१२१।।

गणाधिपः

गजाननस्त्वेकदन्तः समस्थस्तु त्रिलोचनः।
रक्तवर्णश्चतुर्बाहुर्भूतरूपो महोदरः ।।१२२।।
नागयज्ञोपवीतस्तु घनपिण्डोरुजानुकः।
पद्मासनोपरिष्टात्तु वामाङ्घ्रिशयितं तथा ।।१२३।।
दक्षिणं कुञ्चितं पादं वामावर्ताङ्गुलीयकम्।

गणाधिप—गणाधिप गजमुख, एकदन्त, सम स्थित, तीन नेत्रों से युक्त, लाल वर्ण के, चार भुजाओं वाले, भूत रूप, बड़े उदर वाले, सर्प के यज्ञोपवीत वाले होते हैं। इनके ऊरू एवं जानु सघन होते हैं। ये पद्मासन पर स्थित होते हैं। इनका वाम पाद शयित मुद्रा में एवं दक्षिण पैर मुड़ा होता है। इनकी सूँड़ बाँयीं ओर मुड़ी होती है।।१२२-१२३।।

स्वदन्तमङ्कुशं कुर्याद् दक्षिणे वै करद्वये ।।१२४।।
वामद्वयेऽक्षमालां च लड्डुकं च प्रदापयेत्।
करण्डिकाभमौल्यङ्गो हाराद्याभरणान्वितः ।।१२५।।

दाहिने दोनों हाथों से दाँत एवं अंकुश पकड़े होते हैं। दोनों वाम हस्तों में अक्षमाला एवं लड्डू देना चाहिये। (गणाधिप) का शिरोभाग करण्डिका (शिरोभूषण) से सुसज्जित होता है एवं वे हार आदि आभूषणों से आभूषित होते हैं।

एवं गणाधिपः प्रोक्तः स्थितो वा पद्मपीठके।
नृत्ते च षट्चतुर्बाहुसकेतुराखुवाहनः ॥१२६॥

इस प्रकार गणाधिप को खड़ा या पद्मपीठ पर आसीन निर्मित करना चाहिये। नृत्य करते हुये इनकी छः या चार भुजायें होती हैं। मूषक इनका वाहन एवं केतु (ध्वज, पहचान) होता है।।१२६।।

❋ सूर्यः ❋

सैकचक्रं तु सप्ताश्वमरुणाग्रं महारथम्।
हस्तद्वये च कमलं कञ्चुकच्छन्नवक्षसम् ॥१२७॥

अकुञ्चितसुकेशं तु प्रभामण्डलमण्डितम्।
कोशवेष्टनयुक्तं वा स्वर्णरत्नविभूषितम् ॥१२८॥

मकुटं वा विधातव्यमन्यत्सर्वं सुमण्डनम्।

सूर्य—सूर्य का बड़ा रथ एक चक्र, सात अश्वों एवं आगे अरुण (सूर्य का सारथि) से युक्त रहता है। दो हाथों वाले, हाथ में कमल-पुष्प से युक्त (सूर्य देव का) वक्ष कञ्चुक से आच्छादित रहता है। इनके सुन्दर केश अकुञ्चित (सीधे) होते हैं तथा प्रभामण्डल से युक्त होते हैं अथवा ये कोशवेष्टन (लम्बे वस्त्र) से युक्त होते हैं एवं स्वर्ण तथा रत्नों से सुसज्जित रहते हैं। उन्हें मुकुट से एवं अन्य सभी अलंकरणों से युक्त करना चाहिये।।१२७-१२८।।

एकवक्त्रं द्विदोर्दण्डं स्कन्धासक्तकराम्बुजम् ॥१२९॥

कृत्वा तु स्थापयेत् सूर्यं पुरुषाकृतिरूपिणम्।
हयारूढं च कुर्वीत पद्मस्थं वार्चनार्हकम् ॥१३०॥

देव्युषां श्यामवपुषीं हेमवर्णां च प्रत्युषाम्।
जातिहिङ्गुल्यवर्णे तु स्थापयेत् सूर्यमण्डले ॥१३१॥

सूर्य को एक मुख एवं स्कन्धयुक्त दो बाहु होते हैं। इन्हें हाथ में कमल एवं पुरुष की आकृति से युक्त निर्मित करना चाहिये। इन्हें अश्व पर आरूढ़ या पद्म पर स्थित निर्मित करना चाहिये, जो पूजा के अनुकूल हो। सिन्दूर वर्ण के सूर्यमण्डल में श्याम वर्ण की देवी उषा एवं सुवर्ण वर्ण की प्रत्यूषा की स्थापना करनी चाहिये।

चतुर्बाहुर्द्विबाहुस्थरक्तपद्मविभाजितः ।
द्विहस्तावपरौ बाहू अभयवरदान्वितौ ॥१३२॥
द्विहस्तश्चारुणश्चैव सारथिः स रथे स्थितः ।

(सूर्य की प्रतिमा) चार भुजाओं से युक्त होने पर दो हाथों में रक्त कमल होता है। अन्य दो हाथ अभय एवं वरद मुद्रा में होते हैं। उनका सारथि अरुण दो हाथों से युक्त होता है एवं वह रथ पर स्थित होता है।।१३२।।

सर्वलोकैकजीवात्मा देवो हीनतनुः सदा ॥१३३॥
ब्रह्मविष्णुशिवाद्याश्च स्थापनीयो दिनेश्वरः ।
देवी प्रभा च सन्ध्या च वामदक्षिणपार्श्वके ॥१३४॥
ग्रहादिपरिवारास्तु त्रिपञ्चावरणाः कृताः ।
उत्सवे नित्यपूजायामागमप्रोक्तवद्विधिः ॥१३५॥
ध्वजं च वाहनं वाऽपि सिंहमेव प्रकीर्तितम् ।

सम्पूर्ण लोक के एकमात्र जीवात्मा सूर्यदेव सदा ही हीन शरीर (असम्पूर्ण शरीर) वाले होते हैं। दिन के स्वामी सूर्य की स्थापना करनी चाहिये; क्योंकि यही ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव आदि देव हैं। इनके बाँयें एवं दाहिने पार्श्व में देवी प्रभा एवं सन्ध्या होती हैं। उनके चारो ओर पन्द्रह आवरणों (पंक्तियों) में ग्रहों एवं अन्य परिवार को स्थापित करना चाहिये। आगम ग्रन्थों में इनके नित्य पूजन एवं उत्सवपूजन की विधि वर्णित है। इनका ध्वज एवं वाहन सिंह ही कहा गया है।।१३३-१३५।।

❁ दिक्पालकाः ❁

✷ इन्द्रः ✷

वज्रपाणिर्महाबाहुः सिंहस्कन्धो विशालदृक् ॥१३६॥
किरीटी कुण्डली हारी केयूरी गजवाहनः ।
द्विभुजः श्यामवर्णस्तु रक्ताम्बरधरः सुखी ॥१३७॥
सर्वाभरणसंयुक्ता ललाटोरःस्थलाङ्घ्रयः ।
विशालाक्षः पृथुग्रीवो देवराजः शचीपतिः ॥१३८॥

इन्द्र—देवों के राजा शचीपति इन्द्र हाथ में वज्र धारण किये हुये; सिंह के समान स्कन्ध वाले; विशाल नेत्रों वाले; किरीट, कुण्डल, हार एवं केयूर धारण किये हुये; गज वाहन वाले; दो भुजाओं वाले; श्याम वर्ण वाले; रक्त वर्ण के वस्त्र धारण किये हुये; सुखी; ललाट, वक्षःस्थल एवं पैरों में सभी आभूषण धारण किये हुये; विशाल नेत्रों वाले तथा चौड़ी ग्रीवा वाले होते हैं।।१३६-१३८।।

❋ अग्निः ❋

वृद्धरूपो भवेदग्निरर्धचन्द्रासनस्थितः ।
उज्ज्वलत्काञ्चनज्योतिः पिङ्गभ्रूः पिङ्गलोचनः ॥१३९॥
हेमकूर्चालसदृशं तद्रूपं तु शिरोरुहम् ।
बालार्कसदृशं वस्त्रमुपवीतं च तादृशम् ॥१४०॥

अग्नि—अग्निदेव का स्वरूप वृद्ध व्यक्ति के समान होता है। ये अर्धचन्द्राकार आसन पर स्थित रहते हैं। इनकी ज्योति प्रकाशमान सुवर्ण के सदृश होती है। इनकी आँखें एवं भौंहें पिङ्ग (भूरे) रंग की होती हैं। इनकी दाढ़ी सोने की कूँची के समान होती है एवं इसी प्रकार इनके केश होते हैं। इनका वस्त्र उदित होते हुये सूर्य के सदृश होता है एवं यज्ञोपवीत भी उसी प्रकार होता है।।१३९-१४०।।

अक्षमाला च करकं दक्षिणेऽदक्षिणे करे ।
सप्तायुधं च सप्तार्चिर्जटालोद्भासरूपकम् ॥१४१॥
ज्वालामालाकुलं दीप्तं पार्श्वस्थमंशुमण्डलम् ।

(अग्निदेव) दाहिने हाथ में अक्षमाला एवं बाँयें हाथ में करक (मिट्टी का पात्र) धारण किये रहते हैं। ये सात अस्त्र-शस्त्रों से युक्त होते हैं। इनकी जटा एवं दाढ़ी से सात प्रकार की किरणें प्रकाशित होती रहती हैं। इनकी माला से प्रज्ज्वलित ज्वाला निकलती रहती है। इनके पार्श्व में अंशु-मण्डल निर्मित रहता है।।१४१।।

मेषारूढं च कुण्डस्थं योगपट्टेन वेष्टितम् ॥१४२॥
दक्षिणे शयिता स्वाहा रत्नकुण्डलभूषिता ।
सर्वयागहितं पुण्यं पिङ्गभूषणभूषितम् ॥१४३॥

(अग्निदेव) मेष पर सवार एवं कुण्ड में स्थित रहते हैं। ये योग-पट्ट से लिपटे होते हैं। इनके दाहिने रत्नकुण्डल से विभूषित स्वाहा निर्मित होती है। पिङ्ग वर्ण के आभरणों से सुसज्जित पुण्य अग्नि सभी याजों के अनुकूल होते हैं।।१४२-१४३।।

❋ यमः ❋

दण्डपाणिः पाशहस्तो दीप्ताग्निसमलोचनः ।
महामहिषमारूढो नीलाञ्जनवपुप्रभः ॥१४४॥

यम—(यमराज) हाथ में दण्ड धारण किये हुये, (दूसरे हाथ में) पाश धारण किये हुये एवं जलती हुई अग्नि के समान नेत्रों वाले होते हैं। ये बड़े भैंसे पर सवार होते हैं एवं इनका शरीर नीले अञ्जन के समान प्रकाशमान रहता है।।१४४।।

पार्श्वयोरात्मसदृशैः पुरुषैरुपजीविभिः ।
पीनवक्षःस्थलैर्दिव्यैः संहारैर्बलवत्तरैः ॥१४५॥

द्वारे समुत्थितैः क्रुद्धैः सर्वलोकभयङ्करैः ।
चित्रगुप्तः कलिश्चेति दक्षिणोत्तरपार्श्वकौ ॥१४६॥

कृष्णश्यामनिभौ रक्तवस्त्रकौ तौ समाहितौ ।

यम के दोनों पार्श्वों में उनके ही समान सहायक पुरुष होते हैं। उनका वक्षःस्थल दिव्य तथा विस्तृत होता है एवं वे शक्तिशाली संहारों (अस्त्रों) से युक्त होते हैं। वे द्वार पर खड़े होते हैं, क्रोधयुक्त होते हैं एवं सम्पूर्ण लोकों को भयभीत करते हैं। (यम के) दाहिने एवं बाँयें पार्श्व में चित्रगुप्त एवं कलि होते हैं। ये दोनों कृष्ण एवं श्याम (गहरे रंग) के होते हैं, लाल वस्त्र धारण किये होते हैं तथा सावधान मुद्रा में होते हैं।।१४५-१४६।।

पीठपार्श्वस्थितौ मृत्युसहितावुग्रतेजसौ ॥१४७॥

नीललोहितसङ्काशे द्विपार्श्वे चामरस्त्रियौ ।
वामदक्षिणपार्श्वस्थे धर्माधर्मासमाह्वये ॥१४८॥

आसीनश्च मया प्रोक्तो महिषध्वजवाहनः ।

महिष ध्वज एवं वाहन वाले, आसीन यम के पीठ के पार्श्व में उग्र तेज वाले मृत्यु एवं सहिता स्थित होते हैं। उनके दोनों पार्श्वों में नील वर्ण एवं रक्त वर्ण की दो चामरधारिणी स्त्रियाँ होती हैं। बाँयें एवं दक्षिण पार्श्व में धर्म एवं अधर्म होते हैं। इस प्रकार यम का वर्णन मेरे (मय के) द्वारा किया गया।।१४७-१४८।।

❋ निर्ऋतिः ❋

निर्ऋतिस्तु विशालाक्षः खड्गहस्तो महाभुजः ॥१४९॥

पीतवासाः शवारूढो नीलवर्णो महाबलः ।
सर्वालङ्कारसंयुक्तश्चासहायो जगत्पतिः ॥१५०॥

निर्ऋति—निर्ऋति विशाल नेत्र वाले, हाथ में खड्ग लिये हुये, बड़ी भुजाओं वाले, पीले वस्त्रों वाले, शव पर आरूढ़, नीले रंग के, अत्यन्त बलशाली, सभी अलंकारों से युक्त, सहायकरहित; किन्तु संसार के स्वामी हैं।।१४९-१५०।।

❋ वरुणः ❋

शङ्खकुन्देन्दुधवलः पाशहस्तो महाबलः ।
हारकेयूररुचिरकुण्डलाभ्यामलङ्कृतः ॥१५१॥

पीतवासा असदृशः सुवर्णः सर्वनन्दनः ।
आसीनो वा स्थितो वाऽपि मकरे वरुणः स्मृतः ॥१५२॥

वरुण—वरुणदेव शङ्ख एवं कुन्द के पुष्प के समान उज्ज्वल, हाथ में पाश लिये, अत्यन्त शक्तिशाली हैं। हार, केयूर एवं सुन्दर कुण्डलों से सुसज्जित, पीला वस्त्र धारण, अतुलनीय, सोने के वर्ण वाले एवं सभी को प्रसन्नता देने वाले हैं। ये आसीन मुद्रा में या मकर पर खड़े रहते हैं।।१५१-१५२।।

❋ वायुः ❋

ध्वजहस्तो महावीर्यस्ताम्राक्षो धूमसन्निभः ।
कुञ्चितभ्रूयुगो वायुः शबलाम्बरभूषितः ॥१५३॥
मृगारूढो विधातव्यः सर्वाभरणभूषितः ।

वायु—वायुदेव हाथ में ध्वज लिये, अत्यन्त बलशाली, ताँबे के समान नेत्र वाले, धूम के समान वर्ण वाले, मुड़ी भौंहों वाले, विचित्र वर्णों के वस्त्र वाले एवं आभूषणों से सुसज्जित होते हैं। इन्हें मृग पर आरूढ़ निर्मित करना चाहिये।।१५३।।

❋ कुबेरः ❋

कुबेरं सर्वयक्षेशं मकुटाद्यैरलंकृतम् ॥१५४॥
तप्तकाञ्चनसङ्काशं वरदाभयपाणिकम् ।
मेषारूढं गदापाणिं द्विपादं च द्विपाणिकम् ॥१५५॥
शङ्खपद्मनिधी त्वेवं वहन्तं नरवाहनम् ।
सर्वालङ्कारसंयुक्तं सदेविं कारयेद् बुधः ॥१५६॥

कुबेर—बुद्धिमान व्यक्ति को कुबेर की प्रतिमा को इस प्रकार निर्मित करना चाहिये। ये सभी यक्षों के स्वामी, मुकुट आदि से सुशोभित, तप्त सुवर्ण के समान वर्ण वाले, वर प्रदान करने वाले तथा अभय प्रदान करने वाले हाथों से युक्त होते हैं। ये मेष पर आरूढ़, हाथ में गदा लिये दो पैर एवं दो हाथों से युक्त होते हैं। नर पर आरूढ़ कुबेर शङ्ख एवं पद्मनिधियों को धारण करते हैं। इन्हें सभी आभूषणों से युक्त एवं देवी के साथ निर्मित करना चाहिये।।१५४-१५६।।

❋ चन्द्रः ❋

चन्द्रः सिंहासनासीनः कुन्दशङ्खनिभद्युतिः ।
प्रभामण्डलसंयुक्तो द्विभुजः श्वेतवस्त्रकः ॥१५७॥
आसीनो वा स्थितो वाऽपि कुमुदप्रज्वलत्करः ।
हेमयज्ञोपवीतांशुः सौम्यः सोमो हृताहृतः ॥१५८॥

शुक्लमाल्याम्बरो हैमसन्निभो रक्तलोचनः ।

चन्द्र—चन्द्रमा सिंहासन पर आसीन होते हैं। ये कुन्द एवं शङ्ख के समान श्वेत वर्ण के होते हैं। (चन्द्रमा) प्रभामण्डल से युक्त होते हैं तथा दो भुजाओं एवं श्वेत वस्त्र धारण किये होते हैं। ये आसीन या खड़े हो सकते हैं। उनके प्रकाशमान हाथ में कुमुदपुष्प होता है। (चन्द्रमा का) यज्ञोपवीत सुवर्णनिर्मित होता है। सोम सौम्य एवं घटते-बढ़ते रहते हैं। ये श्वेत माला एवं वस्त्र से युक्त, सोने के समान एवं लाल नेत्रों वाले होते हैं।।१५७-१५८।।

रेवती रोहिणी चैव सस्याङ्कुरसमन्विते ।।१५९।।

भासद्राजीवनयने कृष्णाम्बरधरे शुची ।
चामरव्यग्रहस्ते द्वे निशा ज्योत्स्ने च पश्चिमे ।।१६०।।

शशिनस्तु निशागौरी ज्योत्स्ना जनरुचिः स्मृता ।

रेवती एवं रोहिणी धान्य के अंकुर से युक्त होती हैं। इनके नेत्र कमलपुष्प के समान प्रकाशमान होते हैं। ये दोनों पवित्र तथा कृष्ण वस्त्र धारण करती हैं। पश्चिम दिशा में हाथ में चामर-व्यजन धारण किये निशा एवं ज्योत्स्ना होती हैं। निशा चन्द्रमा की गौरी (पत्नी) हैं एवं ज्योत्स्ना मानवों की प्रकाश होती हैं।।१५९-१६०।।

❋ ईशानः ❋

वृषारूढो महातेजा धवलो धवलेक्षणः ।।१६१।।

त्रिशूलपाणिर्लोकेशस्त्रियक्षो लोकशङ्करः ।

ईशान—ईशान वृष पर सवार, अत्यन्त तेजस्वी, श्वेत वर्ण के एवं श्वेत नेत्रों वाले होते हैं। ये हाथ में त्रिशूल लिये, संसार के स्वामी, तीन नेत्रों वाले एवं लोक का कल्याण करने वाले होते हैं।।१६१।।

❋ कामः ❋

कामो हेमनिभः सम्यक् सर्वाभरणभूषितः ।।१६२।।

द्विबाहुः सौन्दराकारः सौम्यः प्रथमयौवनः ।
पीठस्थो वा रथस्थो वा सर्वलोकसमर्चितः ।।१६३।।

कामदेव—कामदेव सोने के समान, अच्छी प्रकार से सभी आभरणों से सुसज्जित, दो बाहुओं वाले, सुन्दर आकृति वाले, सौम्य एवं नवयुवा होते हैं। ये पीठ पर आसीन या रथ पर आसीन होते हैं एवं सम्पूर्ण लोकों द्वारा पूजित होते हैं।।१६२-१६३।।

हैमो मदश्च रागश्च वसन्तस्तस्य बान्धवाः ।
तापनी दाहिनी सर्वमोहिनी विश्वमर्दिनी ।।१६४।।

मारणी कामिनीदंष्ट्रास्तस्य पञ्चशरा इमे ।
इक्षुचापेषुपञ्चैव पश्चिमे परिकीर्तिता: ॥१६५॥

रति: स्याद्दक्षिणे पार्श्वे पूर्व: श्यामसमच्छवि: ।
सर्वाभरणसंयुक्ता केशभारसमुज्ज्वला ॥१६६॥

एवमुक्त: स्मरस्तस्य मकरध्वज इष्यते ।

हैम, मद, राग एवं वसन्त उनके साथी हैं। तापनी, दाहिनी, सर्वमोहिनी, विश्व-मर्दिनी एवं मारणी कामिनी के दाँत—ये उनके पाँच शर हैं। ईख से निर्मित धनुष एवं पञ्चशर पश्चिम में वर्णित हैं। उनके दाहिने भाग में रति होती हैं। इनकी शोभा श्याम वर्ण की होती है। ये सभी आभूषणों से आभूषित तथा सुन्दर बड़े केशों से प्रकाशमान होती हैं। इस प्रकार काम का वर्णन किया गया है। इनका ध्वज मकर होता है।

अश्विन्यौ

एवं सिंहासनासीनौ ह्यश्विन्यौ ह्यश्वरूपकौ ॥१६७॥

दाडिमीपुष्पसङ्काशावुभयांसोपवीतिनौ ।
चिकित्सकौ च तौ कुर्यात् स्त्रियोर्द्वन्द्वं सचामरम् ॥१६८॥

पीतरक्तनिभे कार्ये मृतसञ्जीवनी च ते ।
पृष्ठे विशल्यकरणी द्वे स्त्रियौ पीतपिङ्गले ॥१६९॥

वामे धन्वन्तरिश्चैवमात्रेयश्च तथैव च ।
पीतरक्तनिभौ चैतौ विधेयौ कृष्णवाससौ ॥१७०॥

दोनों अश्विनीकुमार—(दोनों अश्विनीकुमार) अश्व-रूप वाले, सिंहासन पर बैठे हुये, दाडिमी पुष्प के समान वर्ण वाले, अपने कन्धों पर यज्ञोपवीत धारण किये रहते हैं। ये दोनों चिकित्सक होते हैं एवं दो स्त्रियाँ चमर धारण किये होती हैं। (उन स्त्रियों में एक) मृतसञ्जीवनी पीत वर्ण की होती है (तथा दूसरी) विशल्यकरणी पीछे लाल रंग की होती है। दो स्त्रियाँ पीत एवं पिङ्गल (लालिमायुक्त) वर्ण की होती हैं। बाँयीं ओर धन्वन्तरि एवं आत्रेय रहते हैं। ये दोनों पीत एवं रक्त वर्ण के एवं कृष्ण वस्त्र धारण किये रहते हैं।।१६८-१७०।।

त्रसव:

खड्गखेटकहस्तास्ते सर्वाभरणभूषिता: ।
द्विभुजा रक्तवर्णास्तु पीताम्बरधरा: शुचि: ॥१७१॥

आसीना वा स्थिता रौद्रा वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिता: ।
धरो ध्रुवश्च सोमश्च आपश्चैवानलोऽनिल: ॥१७२॥

प्रत्यूषश्च प्रभावश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः।

वसुदेवगण—(वसु देवगण) हाथ में खड्ग एवं खेटक धारण किये, सभी आभूषणों से सुसज्जित, दो भुजाओं वाले, रक्त वर्ण के, पीत वस्त्रों से युक्त एवं पवित्र होते हैं। बैठे हुये या खड़ी मुद्रा में ये आठो वसु भयानक होते हैं। धर, ध्रुव, सोम, आप, अनल, अनिल, प्रत्यूष एवं प्रभाव—ये आठ वसु कहे गये हैं।।१७१-१७२।।

✺ मरुद्गणाः ✺

रूपाङ्गनास्तनापेष्यकेशभारसमन्विताः ॥१७३॥

दिव्यपुष्पधराः सर्वे दुकूलवसनान्विताः।
अष्टौ मरुद्गणाः प्रोक्ता सर्वयागेषु योग्यकाः ॥१७४॥

मरुद्गण—(मरुतों के) केश जूट में आबद्ध होते हैं, जिन्हें सुन्दर स्त्रियाँ अपने स्तनों पर लटकाती हैं। सभी दिव्य पुष्प धारण करते हैं तथा सभी उत्तम दुकूल वस्त्र धारण करते हैं। आठों मरुद्गण सभी यज्ञों के योग्य होते हैं।।१७३-१७४।।

✺ रुद्रा विद्येश्वराश्च ✺

रुद्रा रुद्राग्निभा नीललोहिताद्या दिवौकसः।
जीमूतकुङ्कुमाभास्ते भिन्नाञ्जननिभास्तु वै ॥१७५॥

चतुर्भुजास्त्रिनेत्राश्च टङ्कशूलजटाधराः।
वरदाभयहस्ताश्च क्षौमवस्त्रधराः शुचिः ॥१७६॥

रुद्र एवं विद्येश्वर—रुद्र देवगण रुद्राग्नि (भयानक अग्नि) के समान होते हैं। (विद्येश्वर) नील लोहित, जीमूत (बादल) के वर्ण के, कुंकुम (लाल) वर्ण के तथा कृष्ण वर्ण के होते हैं। ये चतुर्भुज, तीन नेत्रों वाले, टङ्क, शूल एवं जटाधारी होते हैं। ये वरद एवं अभय मुद्रा में हाथ वाले, क्षौम वस्त्र धारण किये हुये तथा पवित्र होते हैं।।१७५-१७६।।

अनन्तश्चैव सूक्ष्मश्च शिवोत्कृष्टैकनेत्रकौ।
एकरुद्रस्त्रिमूर्त्तिश्च श्रीखण्डश्च शिखण्डिकः।
अष्ट विद्येश्वराः प्रोक्ताः सर्वयागसमन्विताः ॥१७७॥

सभी यज्ञों से युक्त आठ विद्येश्वर अनन्त, सूक्ष्म, शिवोत्कृष्ट, एकनेत्रक, एकरुद्र, त्रिमूर्ति, श्रीखण्ड तथा शिखण्डिक कहे गये हैं।।१७७।।

✺ क्षेत्रपालः ✺

तामसं कृष्णवर्णं तु प्रलयाम्बुदसन्निभम्।
सात्त्विको द्विचतुर्बाहू राजसः षड्भुजो भवेत् ॥१७८॥

तामसोऽष्टभुजः प्रोक्तः संस्थानानि च गोचरे ।
कपालशूलं द्विभुजं खट्वाङ्गश्च परश्वथ ॥१७९॥
चतुर्भुजक्रमाद् वाऽथ वरदाभयपाणिकम् ।

क्षेत्रपाल—(क्षेत्रपाल) तामस रूप वाले तथा प्रलयकालीन मेघ के समान कृष्ण वर्ण वाले होते हैं। सात्त्विक (रूप में) दो या चार भुजाओं से युक्त एवं राजस (रूप में) छः भुजाओं एवं तामस (रूप में) आठ भुजाओं से युक्त होते हैं। गोचर भूमि में उनके लिये उचित स्थान होता है। दो भुजाओं में कपाल तथा शूल एवं चार भुजाओं में खट्वांग एवं परशु होता है। दो भुजायें वरद एवं अभय मुद्रा में होती हैं।

दक्षिणस्थास्तु शूलासिघण्टायुक्तास्तु वामके ॥१८०॥
खेटकं च कपालं च नागपाशमुदीरितम् ।

(छः हाथों में) दाहिने हाथों में शूल, असि एवं घण्टा होता है तथा वाम हस्तों में खेटक, कपाल एवं नागपाश कहे गये हैं।।१८०।।

अष्टहस्ते धनुर्बाणयुक्तं पूर्वोक्तहेतिभिः ॥१८१॥
रक्तवर्णगुणोपेत ऊर्ध्वकेशश्चलान्वितः ।
कुञ्चितभ्रूस्त्रिनेत्रस्तु घोरदन्तद्वयान्वितः ॥१८२॥

आठ हाथ होने पर पूर्वोक्त शस्त्रों के साथ धनुष एवं बाण होते हैं। रक्त वर्ण के गुणों से युक्त (राजस रूप में) इनके केश ऊपर उठे हुये एवं लहराते रहते हैं। भौंहें मुड़ी होती हैं, तीन नेत्र तथा दो भयानक दाँतों से युक्त (क्षेत्रपाल) होते हैं।

मार्गान्तगणसंरक्षो बालरूपः श्ववाहनः ।
ग्रामादिवस्तुबाह्ये तु द्वारे वारण्यके गिरौ ॥१८३॥
प्रागीशानदिशो भागे पर्जन्ये च दितौ क्रमात् ।
स्थाप्यं पद्मासनासीनं सर्वकामफलप्रदम् ॥१८४॥
षड्चतुर्भुजगं वा..............................मपरे सति ।
श्वकुक्कुटादिभिः सेव्यः सिद्धैर्योगिनिवेष्टितम् ॥१८५॥

(क्षेत्रपाल) मार्ग के अन्त में गणों के संरक्षक, बालरूप तथा कुत्ते पर सवार होते हैं। इनकी स्थापना ग्राम आदि वास्तुक्षेत्रों के बाहर, द्वार पर, वन में, पर्वत पर होनी चाहिये। इनकी दिशा ईशान के पूर्व भाग में पर्जन्य पर एवं दिति के पद पर क्रमशः होनी चाहिये। पद्मासन पर आसीन (क्षेत्रपाल) सभी इच्छाओं को पूर्ण करते हैं। छः या चार भुजाओं से युक्त ये कुत्तों, कुक्कुटों एवं अन्य जीवों द्वारा सेवित होते हैं तथा सिद्ध एवं योगियों द्वारा घिरे होते हैं।।१८३-१८५।।

चण्डेश्वरः

चण्डेश्वरः सुरक्तश्च श्वेतमिश्रच्छविः स्मृतः ।
द्विबाहुको दलावर्तमूर्धजः शङ्खपत्रयोः ॥१८६॥

धृतयज्ञोपवीतस्तु शुक्लमाल्याम्बरः शुचिः ।
हृदयाञ्जलिसंयुक्तः टङ्कपाणिभुजस्थितः ॥१८७॥

अर्धचन्द्रासनासीनः पुष्पमालावलम्बितः ।
सर्वाभरणसंयुक्तो जटी वा केशबन्धवान् ॥१८८॥

चण्डेश्वर—चण्डेश्वर श्वेत वर्ण मिश्रित सुन्दर लाल रंग की शोभा से युक्त होते हैं। इनकी दो भुजायें होती हैं। इनके केश पत्रों से आच्छादित होते हैं तथा ये शंख एवं पत्र से युक्त होते हैं। (चण्डेश्वर) यज्ञोपवीत धारण किये हुये, श्वेत वर्ण की माला एवं वस्त्र पहने हुये पवित्र होते हैं। इनके हाथ हृदय के पास जुड़े होते हैं। इनकी भुजाओं में टङ्क (परशु) होता है। ये पुष्पमालाओं से सुसज्जित, अर्धचन्द्राकार आसन पर आसीन होते हैं। सभी आभूषणों से सुसज्जित, जटाधारी या केशबन्ध से युक्त (चण्डेश्वर) होते हैं।।१८६-१८८।।

आदित्याः

द्विभुजाः पद्महस्ताश्च रक्तपद्मासनस्थिताः ।
रत्नकुण्डलसंयुक्ताः सर्वाभरणभूषिताः ॥१८९॥

रक्ताम्बरधराः सर्वे भास्करा द्वादश स्मृताः ।
अर्यमादिश्च मित्रश्च वरुणांशो भगस्तथा ॥१९०॥

इन्द्रो विवस्वान् पूषा च पर्जन्यश्च ततस्त्विति ।
ततस्त्वष्टा ततो विष्णुरजघन्यो जघन्यजः ॥१९१॥

आदित्यगण—सभी बारह भास्कर दो भुजाओं वाले, हाथों में कमलपुष्प लिये, लाल पद्मासन पर स्थित, रत्नकुण्डल से युक्त, सभी आभूषणों से आभूषित एवं लाल वस्त्र धारण किये रहते हैं। (बारह आदित्य इस प्रकार हैं—) अर्यमा, मित्र, वरुणांश, भग, इन्द्र, विवस्वान्, पूषा, पर्जन्य, त्वष्टा, विष्णु, अजघन्य तथा जघन्यज।

सप्तर्षयः

मुखसन्दंशहस्तास्तु जटाजूटसमन्विताः ।
पीतवर्णास्तु वर्णानां वर्णानामम्बरान्विताः ॥१९२॥

सप्तैते ऋषयः प्रोक्ता द्विभुजाः पिङ्गलोचनाः ।
पीतवर्णाः सुवृद्धाश्च रक्तवस्त्रानुकारिताः ॥१९३॥

केशभारसमायुक्ता नानाभरणभूषिताः ।

सप्तर्षिगण—सप्तर्षिगण उपदेश देने की मुद्रा में मुख एवं हाथों वाले, जटाजूट से युक्त, पीत वर्ण के तथा अनेक वर्णों के वस्त्र धारण किये हुये होते हैं। (अथवा) ये दो भुजाओं वाले, पिङ्गनेत्रों (ललाईयुक्त नेत्रों) वाले, पीत वर्ण के, अत्यन्त वृद्ध, रक्त वर्ण के वस्त्र पहने हुये, केशभार (जटा-जूट) को धारण किये एवं विभिन्न प्रकार के आभूषणों से आभूषित होते हैं।।१९२-१९३।।

॥ सप्तरोहिण्यः ॥

सुरूपाः स्वर्णवर्णास्तु नागभूषाः सिताम्बराः ।।१९४।।
आसीना वा स्थिता वाऽपि रोहिण्यः सप्त कीर्तिताः ।

सात रोहिणी—सप्त रोहिणीगण सुन्दर रूप वाली, सोने के समान वर्ण वाली, नागों से आभूषित, श्वेत वस्त्र धारण की हुईं आसीन या खड़ी मुद्रा में होती हैं।।१९४।।

॥ गरुडः ॥

तार्क्ष्योना वृत्तरक्ताक्षः पीतवर्णो महाबलः ।।१९५।।
द्विभुजः साञ्जलिर्वाऽथ किञ्चिदूर्ध्वोरुजङ्घिकः ।
कञ्चुकः पञ्चवर्णस्तु पक्षेर्युक्तस्तु सीसजैः ।।१९६।।
सदंष्ट्रः श्यामनासाग्रः करण्डमकुटोज्ज्वलः ।
नागाभरणयुक् पीतपर्णैः सम्पूर्णकर्णकः ।।१९७।।
रक्तवस्त्रधरश्चैव सर्पारिर्विष्णुवाहनः ।

गरुड—तार्क्ष्य (गरुड़) गोल रक्त वर्ण के नेत्रों से युक्त, पीत वर्ण के, अत्यन्त बलशाली, दो भुजाओं वाले, अञ्जलिबद्ध अथवा थोड़ी उठी जंघाओं पर हाथ टिकाये हुये, पाँच वर्ण वाले कञ्चुक धारण किये हुये, सीसनिर्मित पक्षों से युक्त, दाँतों से युक्त, श्याम वर्ण की नासिका वाले, करण्ड एवं मुकुट से प्रकाशमान, नागों के आभूषणों से युक्त, कानों में पीत वर्ण के पत्रों को धारण किये हुये, लाल वस्त्र पहने हुये, सर्पों के शत्रु एवं विष्णुवाहन होते हैं।।१९५-१९७।।

॥ शास्ता ॥

मोहिनीतनयः शास्ता द्विभुजः श्यामसन्निभः ।।१९८।।
पीठस्थः कुञ्चिताङ्घ्रिस्त्ववामपादं प्रलम्बितम् ।
गजहस्तोपमो वामबाहुर्जानूरुबाह्यतः ।।१९९।।
मण्डलीभूतरूपो वा वक्रदण्डधरोऽथवा ।
स्निग्धनीलाञ्जनाकीर्णाः कुण्डलीभूतमूर्धजाः ।।२००।।

शास्ता—मोहिनी के पुत्र शास्ता दो भुजाओं वाले, श्याम वर्ण के, पीठ पर स्थित, (बाँयें) पैर को मोड़ कर दाहिना पैर लटकाये रहते हैं। इनकी वाम भुजा गज के सूँड़ के समान होती है तथा घुटने एवं ऊरु के बाहर (पीठासन पर टिकी) रहती है। वे गोलाई वाले अथवा टेढ़े दण्ड को (हाथों में) धारण किये रहते हैं। इनके कोमल काले घुँघराले केश फैले रहते हैं।।१९८-२००।।

गजवाहनकेतुः सन् हाराद्याभरणान्वितः।
नीलवर्णहयो वाऽथ वृषो वा वाहनध्वजः ॥२०१॥
चतुर्भुजस्त्रियक्षो वा सर्वत्र कुक्कुटध्वजः।

ये वाहन एवं ध्वज (दोनों में) गज से युक्त, हार आदि से अलंकृत होते हैं। अथवा जब ये चार भुजाओं एवं तीन नेत्रों वाले होते हैं, तब उनका ध्वज सर्वत्र कुक्कुट (मुर्गा) होता है।।२०१।।

ज्ञानी योगासनासीनो सदाध्यायी पवित्रकः ॥२०२॥
सोभयांसोपवीतस्तु युवा वीरासनान्वितः।
उललासी गीतभावी स्यात् सुरभावी सुखासनः ॥२०३॥
वामोरूपरिविन्यस्तावामाङ्घ्रिस्तु विराजितः।

(शास्ता) ज्ञानी, योगासन मुद्रा में आसीन, सदा अध्ययन करने वाले, पवित्र दोनों कन्धों पर यज्ञोपवीत धारण किये हुये, युवा, वीरासन से युक्त, उल्लासयुक्त, गीत-भाव वाले, देव-भाव वाले तथा सुखासन में स्थित होते हैं। ये वाम ऊरु के ऊपर दाहिना पैर टिकाये स्थित होते हैं।।२०२-२०३।।

नवशक्तिसमायुक्तः वेष्टिताष्टाष्टयोगिनिः ॥२०४॥
पूर्णा च पुष्कला देव्यौ वामदक्षिणभागतः।
कृष्णहेमनिभे देव्यौ सौगन्ध्यपुष्पहस्तके ॥२०५॥
सर्वाभरणसंयुक्ते पीतश्वेताम्बरे मते।

(शास्ता) नौ शक्तियों से तथा चौंसठ योगिनियों से युक्त होते हैं। पूर्णा एवं पुष्कला देवियाँ उनके वाम एवं दक्षिण भाग में होती हैं। इनका वर्ण कृष्ण एवं सुवर्ण के समान होता है। दोनों सौगन्ध्य पुष्प लिये, सभी अलंकारों से सुसज्जित एवं पीत तथा श्वेत वस्त्र धारण किये रहती हैं।।२०४-२०५।।

वामे मधुकरस्तस्य स्थापनीयो मधुच्छविः ॥२०६॥
द्विभुजो मांसलो फुल्लवक्त्रः सल्लम्बितोदरः।
शीधुपात्रं च दण्डं च वामेऽवामे प्रयोजयेत् ॥२०७॥

दण्डी च लाङ्गली तस्य द्वारस्थौ शक्तिधारिणौ ।

इनके वाम हस्त में मधु होता है। ये मधु के समान शोभा वाले, दो भुजाओं वाले, मांसल शरीर वाले, खिले मुख वाले एवं लम्बे उदर वाले होते हैं। इनके वाम हस्त में शीधु-पात्र (मधु-पात्र) एवं दाहिने हाथ में दण्ड निर्मित करना चाहिये। इनके द्वारपाल शक्ति धारण करने वाले, दण्ड एवं लांगल से युक्त होते हैं।।२०६-२०७।।

वर्णान्तराश्रमस्थाने वेश्यावासे च दुर्गमे ॥२०८॥

निगमे खर्वटे खेटे विधातव्यः सुरप्रियः ।
ग्रामादिवास्तुमध्ये तु बाह्ये च द्वारदक्षिणे ॥२०९॥

देवभावी ज्ञानभावी विधातव्यौ हितैषिभिः ।
नगरे पत्तने चैव गीतभावी विधीयते ॥२१०॥

देवों के प्रिय शास्ता को वर्णान्तर (छोटी जाति के) आश्रमस्थान में, वेश्या के आवास में, दुर्गम में, निगम में, खर्वट में एवं खेट में स्थापित करना चाहिये। ग्राम आदि वास्तुओं के मध्य में, बाहर, दक्षिण द्वार पर कल्याणेच्छुओं को देवभावी एवं ज्ञानभावी (शास्ता) का निर्माण करना चाहिये। नगर एवं पत्तन में गीतभावी की स्थापना करनी चाहिये।।२०८-२१०।।

❋ मातृकाः ❋

मातृणां लक्षणं वक्ष्ये स्थापनं स्थानमेव च ।
ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा ॥२११॥

वाराही च तथेन्द्राणी काली चाप्यन्तगामिनी ।
दक्षिणेतरपार्श्वस्थौ वीरभद्रविनायकौ ॥२१२॥

मातृकायें—अब मैं (मय) मातृकाओं के लक्षण, स्थापन एवं स्थान के विषय में कहता हूँ। ये ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी तथा काली हैं। इनके दक्षिण एवं वाम भाग में वीरभद्र एवं विनायक रहते हैं।।२११-२१२।।

❋ वीरभद्रः ❋

वीरभद्रो वृषारूढः शूलहस्तो गदाधरः ।
वीणा हस्तोऽथवा कार्यो वरदाभयपाणिकः ॥२१३॥

चतुर्भुजस्त्रिनेत्रश्च चन्द्राङ्कितजटाधरः ।
सर्वाभरणसंयुक्तः श्वेतवर्णो वृषध्वजः ॥२१४॥

पद्मासनयुतो देवो वटवृक्षसमाश्रितः ।
लोकेशः शङ्करः शम्भुर्मातृणामग्रतः स्थितः ॥२१५॥

वीरभद्र—वीरभद्र वृष पर आरूढ़, हाथ में शूल लिये, गदा धारण किये, हाथ में वीणा लिये अथवा (नीचे के हाथ) वरद एवं अभय मुद्रा में होते हैं। ये चार भुजाओं एवं तीन नेत्रों से युक्त होते हैं। ये जटा धारण किये हुये एवं जटा में चन्द्रमा धारण किये होते हैं। सभी आभूषणों से युक्त, श्वेत वर्ण के एवं वृषध्वज वाले (वीरभद्र) पद्मासन से युक्त देवता वटवृक्ष का आश्रय लिये होते हैं। लोकों के स्वामी, कल्याण करने वाले (लोकेश, शंकर) शम्भु मातृकाओं के आगे स्थित होते हैं।

❋ ब्रह्माणी ❋

चतुर्वक्त्रा विशालाक्षी तप्तकाञ्चनसन्निभा ।
वरदाभयशूलाक्षमालाधरचतुर्भुजा ॥२१६॥
रक्तपद्मासनासीना हंसवाहनकेतुका ।
ब्रह्माणी ब्रह्मवत्कार्या व्याघ्रचर्मसमाश्रिता ॥२१७॥

ब्रह्माणी—ब्रह्माणी को ब्रह्मा के समान निर्मित करना चाहिये। ये चार मुखों वाली; विशाल नेत्रों वाली; तप्त सुवर्ण के समान वर्ण वाली; वरद मुद्रा, अभयमुद्रा, शूल तथा अक्षमाला से युक्त चार भुजाओं वाली; रक्तकमल के आसन पर आसीन; वाहन एवं ध्वज में हंस से युक्त तथा व्याघ्रचर्म से युक्त होती हैं।।२१६-२१७।।

❋ माहेश्वरी ❋

त्रिनेत्रां रक्तवर्णां च शूलपाणिं वृषध्वजाम् ।
वरदाभयहस्तां तामक्षमालासमन्विताम् ॥२१८॥
जटामकुटिनी शम्भोर्भूषणीं तु महेश्वरीम् ।
चन्दनद्रुमसंयुक्तां कारयेद् वृषवाहिनीम् ॥२१९॥

माहेश्वरी—माहेश्वरी को तीन नेत्रों वाली, लाल वर्ण की, हाथ में शूल लिये, वृषध्वज से युक्त, वरद तथा अभय मुद्रा से युक्त हाथों वाली, अक्षमाला से युक्त, जटा एवं मुकुट से युक्त, शम्भु (के अनुसार, उन्हीं के समान) आभूषित, चन्दन के वृक्ष से युक्त तथा वृष पर आरूढ़ होती हैं।।२१८-२१९।।

❋ कौमारी ❋

वासिकाबन्द्धमकुटा शक्तिकुक्कुटधारिणी ।
रक्तवर्णा महावीर्या हारकेयूरभूषिता ॥२२०॥
वरदाभयहस्ता च कुङ्कुमप्रभसन्निभा ।
सर्वाभरणसंयुक्ता मयूरध्वजवाहिनी ॥२२१॥

उदुम्बराश्रितां देवीं कौमारीं कारयेत् सुधीः ।

कौमारी—वस्त्र से मुकुट बाँधे हुये, शक्ति एवं कुक्कुट धारण करने वाली, रक्त वर्ण की, अत्यन्त शक्तियुक्त, हार एवं केयूर से आभूषित, वरद एवं अभय मुद्रा में हस्त से युक्त, कुंकुम के समान प्रभा वाली, सभी आभूषणों से आभूषित, मयूरध्वज से युक्त एवं मयूर पर आरूढ़, उदुम्बर वृक्ष का आश्रय ली हुई कौमारी देवी का प्रकल्पन बुद्धिमान मनुष्य को करना चाहिये।।२२०-२२१।।

॰ वैष्णवी ॰

शङ्खचक्रधरां देवीं वरदाभयपाणिकाम् ॥२२२॥
सुस्थानां श्यामवर्णां तां पीताम्बरसुलोचनाम् ।
पिप्पलद्रुमसंयुक्तां गरुडध्वजवाहिनीम् ॥२२३॥
वैष्णवीं कारयेद् विद्वान् विष्णुभूषणभूषिताम् ।

वैष्णवी—विद्वान् व्यक्ति को वैष्णवी का निर्माण इस प्रकार करना चाहिये—वह देवी शंख एवं चक्र धारण किये हो एवं (शेष दो) हाथ वरद एवं अभय मुद्रा में हों। उन्हें अच्छी प्रकार खड़ी, श्याम वर्ण की, पीत वस्त्र धारण की हुई एवं सुन्दर नेत्रों से युक्त निर्मित करना चाहिये। गरुड़ध्वज एवं वाहन वाली (वैष्णवी) पीपल के वृक्ष से संयुक्त होती हैं। ये विष्णु के आभूषणों से अलंकृत होती हैं।।२२२-२२३।।

॰ वाराही ॰

वरदाभयहस्ता वा वाराही कृष्णसन्निभा ॥२२४॥
हलं मुसलकं धृत्वा चर्मवासः समन्विता ।
शङ्खवर्णा च वरदाभयदण्डकरान्विता ॥२२५॥
सदंष्ट्रां तु महाकाण्डां किरीटमकुटोज्ज्वलाम् ।
कृष्णाम्बरधरां देवीं सर्वाभरणभूषिताम् ॥२२६॥
करञ्जद्रुमसंयुक्तां महिषध्वजवाहनीम् ।

वाराही—वरद एवं अभय हस्त वाली वाराही कृष्ण के समान होती हैं। हल एवं मुसल को धारण कर चर्मवस्त्र से युक्त होती है। शंख वर्ण की (वाराही) वरद, अभय एवं दण्ड को हाथ में धारण करती हैं। (बड़े) दाँतों वाली, विशाल शरीर वाली, प्रकाशमान मुकुट एवं किरीट से युक्त, कृष्ण वस्त्र धारण करने वाली देवी सभी आभूषणों से आभूषित होती हैं। (वाराही) करञ्ज के वृक्ष के युक्त तथा महिष ध्वज एवं वाहन से युक्त होती हैं।।२२४-२२६।।

❋ इन्द्राणी ❋

किरीटमकुटां देवीं सर्वाभरणभूषिताम् ॥२२७॥
वरदाभयपाशाब्जपाणिकामिन्दुसन्निभाम् ।
कल्पकद्रुमसंयुक्तामिन्द्राणीं कारयेद् बुधः ॥२२८॥

इन्द्राणी—(इन्द्राणी) किरीट एवं मुकुट से युक्त एवं सभी आभूषणों से सुसज्जित होती हैं। हाथ में वरद एवं अभय मुद्रा तथा पाश एवं कमल धारण किये होती हैं। ये चन्द्रमा के समान होती हैं। बुद्धिमान व्यक्ति को इन्द्राणी को कल्पद्रुम से युक्त निर्मित करना चाहिये।।२२७-२२८।।

❋ चामुण्डी ❋

कपालिनीं शूलधरां वरदाभयपाणिकाम् ।
अष्टहस्तं प्रकुर्वीत शूलकापालसंस्थितम् ॥२२९॥
वामे दण्डधनुः खड्गं खेटकं पाशबाणकम् ।
एते त्वष्टभुजाः प्रोक्ता दशहस्तं प्रकीर्तितम् ॥२३०॥
डमरुं शूलकं प्रोक्तं सर्वमुक्तं प्रकीर्तितम् ।
रक्ताक्षिकुटिकासीना स्तनबन्धफणान्विता ॥२३१॥

चामुण्डी—चामुण्डी देवी कपाल लिये, शूल धारण की हुई, वरद एवं अभय मुद्रा में हाथ वाली होती है। (अथवा) उनकी आठ भुजायें होती हैं। शूल एवं कपाल (के अतिरिक्त), वाम हस्त में दण्ड, धनुष, खड्ग, खेटक, पाश एवं बाण धारण किये रहती हैं। इनकी आठ भुजायें कही गई हैं। इनके दस हाथ (भी) कहे गये हैं। सभी का पूर्व में वर्णन किया गया है। (इनके अतिरिक्त हाथों में) डमरु एवं शूल कहा गया है। ये रक्तवर्ण के नेत्रों वाली, कुटिका पर आसीन एवं स्तनों पर सर्पबन्ध धारण किये रहती हैं।।२२९-२३१।।

शिरोमालोपवीता च शवारूढा कृशोदरी ।
निर्मांसव्यावृतमुखी दीर्घजिह्वा त्रिलोचना ॥२३२॥
व्याघ्रचर्माम्बरधरा ज्वालाकेशफणीष्टदा ।
काली कृशाङ्गी कृष्णा च वटवृक्षसमाश्रिता ॥२३३॥
दंष्ट्राकरालवदना चामुण्डी गृध्रकेतुका ।

वह शिरों (मुण्डों) की माला धारण किये रहती हैं। वह पतले उदर वाली शव पर आरूढ होती हैं। ये मांसरहित खुले मुख वाली, लम्बी जिह्वा वाली, तीन नेत्रों

वाली, व्याघ्रचर्म धारण की हुई होती हैं। इसके केश ज्वाला के सदृश एवं सर्पों से युक्त होते हैं। ये अभीष्ट प्रदान करती हैं। काली, पतले अंगों वाली, कृष्णा, वट वृक्ष का आश्रय ली हुई, बड़े दाँतों एवं भयानक मुख वाली चामुण्डी गृध्रध्वज से युक्त होती हैं।।२३२-२३३।।

❋ विनायकः ❋

विनायकस्य रूपं तु पूर्ववत् कारयेद् बुधः ॥२३४॥

विनायक—बुद्धिमान व्यक्ति को विनायक का स्वरूप पूर्व-वर्णन (१२२-१२५ श्लोक) के अनुसार निर्मित करना चाहिये।।२३४।।

❋ मातृणां स्थापनम् ❋

ग्रामाणामुत्तराशायामैशान्यामतिदूरतः ।
व्याहृत्य शूलया वासा शूलाकारसमन्विताः ॥२३४॥
पूर्वास्यमुत्तरास्यं वा दिग्द्वारं तु समन्विता ।

मातृकाओं की स्थापना—मातृकाओं की स्थापना ग्राम से दूर, ग्राम के उत्तर या ईशान कोण में की जानी चाहिये। इन्हें त्रिशूल के आकार में शूल एवं वस्त्रों से व्याहृत (जागृत, मन्त्रयुक्त) करना चाहिये। (अथवा) दिशाओं के द्वार के पास इन्हें पूर्वमुख या उत्तरमुख स्थापित करना चाहिये।।२३५।।

ब्रह्मस्थान इमाः स्थाप्या दक्षिणादिक्रमेण तु ॥२३६॥
शान्तिपुष्टिजयारोग्यं भोगैश्वर्यायुर्वर्धयेत् ।
वामाद्याः शत्रुमादाय भवेयुस्ता न संशयः ॥२३७॥

(इसके पश्चात्) इन्हें ब्रह्मस्थान पर दक्षिणक्रम से क्रमशः स्थापित करना चाहिये। इससे शान्ति, पुष्टि, जय, आरोग्य, भोग, ऐश्वर्य एवं आयु की वृद्धि होती है। इससे विपरीत होने पर निस्सन्देह शत्रुता होती है।।२३६-२३७।।

पूर्वोदितविधाने तु ब्रह्माणी मध्यमे स्थिता ।
सर्वकाम्यमितीत्युक्तं प्रतिष्ठा सर्वमोहना ॥२३८॥
चामुण्डीं मध्यमे स्थाप्य प्रतिष्ठायां प्रजाकरी ।
कामासनं तु योगं च शान्तं वीरासनं क्रमात् ॥२३९॥
सुखासने विधौ कुर्यात् सर्वकामफलप्रदम् ।

पूर्ववर्णित विधान के अनुसार यदि मध्य में ब्रह्माणी स्थापित होती हैं तो यह प्रतिष्ठा सभी को मोहित करती है एवं सभी कामनायें परिपूर्ण होती हैं। यदि मध्य में

चामुण्डी की स्थापना की जाय तो प्रतिष्ठित होने पर प्रजा (सन्तति) की प्राप्ति होती है। (मातृकाओं की स्थापना) कामासन में होने पर योग, वीरासन में होने पर शान्ति प्राप्त होती है। सुखासन में (प्रतिष्ठा) होने पर सभी कामनाओं की प्राप्ति होती है।।२३८-२३९।।

❋ पुनः चामुण्डी ❋

अथाष्टदशदोर्दण्डैर्द्विषट्षोडशबाहुकैः ॥२४०॥

चामुण्डीं कारयेद् विद्वान् दारुमृत्सुधयापि वा।
नृत्तं वा युक्तितः कुर्यादष्टबाहुसमन्विताम् ॥२४१॥

सन्ध्यानृत्तसमीपे वा सन्ध्यानृत्तं यथा भवेत्।
षट्चतुर्भुजहस्तं वा युक्तं लोकोपशान्तये ॥२४२॥

विद्वान् व्यक्ति को काष्ठ, मृत्तिका या सुधा (चूना-गारा) से आठ, दस, बारह या सोलह भुजाओं से युक्त चामुण्डी का निर्माण करना चाहिये। अथवा आठ भुजाओं से युक्त नृत्यमुद्रा में चामुण्डी का निर्माण आवश्यकतानुसार करना चाहिये। इसे सन्ध्यानृत्य (शिव) के समीप अथवा जिस प्रकार सन्ध्यानृत्य होता है, उस प्रकार निर्मित करना चाहिये या लोक की शान्ति के लिये (चामुण्डी की) चार या छः भुजायें निर्मित करनी चाहिये।।२४०-२४२।।

❋ परिवाराः ❋

दौवार्यौ द्वारबाह्यस्थौ भूतौ शूलादिधारिणौ।
रौद्रौ भूतगणैर्युक्तौ पिशाचैश्च समावृतौ ॥२४३॥

परिवार—द्वार के बाहर स्थित दो दौवार्यों (द्वारपालों) की स्थापना करनी चाहिये। ये शूल आदि धारण करने वाले भूत होते हैं। ये भयानक भूतों के समूह से युक्त एवं पिशाचों से घिरे होते हैं।।२४३।।

मण्डपेऽभ्यन्तरे स्थाप्या नन्दरूपे सुयौवने।
रक्तश्यामनिभे ते द्वे योगिन्यौ तु स्त्रियौ मतौ ॥२४४॥

कपालकास्थिसंयुक्तपाणिके व्यालकान्विते।
ससीमन्तशिरोजन्मधम्मिल्लमकुटोज्ज्वले ॥२४५॥

सर्वाभरणसम्पन्ने चारुवक्त्रे त्रिलोचने।

मण्डप के भीतर दो सुन्दर, युवा, रक्त तथा श्याम वर्ण की स्त्रियाँ योगिनी कही गई हैं। ये हाथ में कपाल की अस्थि लिये होती हैं एवं व्याल से युक्त होती हैं। इनके

केश माँग से युक्त, धम्मिल शैली में (सजे) होते हैं तथा मुकुट से प्रकाशमान होते हैं। ये (दोनों योगिनियाँ) सभी प्रकार के आभूषणों से सुसज्जित, सुन्दर मुख तथा तीन नेत्रों से युक्त होती हैं।।२४४-२४५।।

तत्रैव भूतवेतालडाकिन्यादीनि विन्यसेत् ॥२४६॥
यामलं मन्त्रशास्त्रोक्तं नित्योत्सवं तु कारयेत् ।

उसी स्थान पर भूत, वेताल एवं डाकिनी आदि को स्थापित करना चाहिये। मन्त्रशास्त्र द्वारा वर्णित यामल विधि से नित्योत्सव करना चाहिये।।२४६।।

लक्ष्मीः

लक्ष्मीः पद्मासनासीना द्विभुजा काञ्चनप्रभा ॥२४७॥

हेमरत्नोज्ज्वलं नक्रकुण्डलं शङ्खकुण्डलम् ।
सुयौवना सुरम्याङ्गा कुञ्चितभ्रूसविभ्रमा ॥२४८॥

आमण्डलमुखी कर्णपूरपद्मेक्षणान्विता ।
रक्तोष्ठी पीनगण्डा च कञ्चुकच्छादनस्तनी ॥२४९॥

शिरसो मण्डनं शङ्खचक्रसीमान्तपङ्कजम् ।
पद्मं स्याद् दक्षिणे हस्ते वामे श्रीफलमिष्यते ॥२५०॥

सुमध्यविपुलश्रोणिः शोभनाम्बरवेष्टिता ।
मेखला कटिसूत्रं च सर्वाभरणभूषिता ॥२५१॥

करण्डकाभमौल्यङ्गा चासीना कमलासना ।

लक्ष्मी—पद्मासन पर आसीन लक्ष्मी दो भुजाओं से युक्त एवं सुवर्ण आभा वाली होती हैं। उनके (दोनों कुण्डलों में से एक) नक्र-कुण्डल (तथा दूसरा) शंखकुण्डल होता है एवं वह कुण्डल सुवर्ण एवं रत्नों से प्रकाशमान होता है। वे यौवनसम्पन्न, सुन्दर अंगों वाली, मुड़े हुये भौंहों से लीला करती हुई, गोल मुख वाली, कर्णपूर (कान में आभूषण) से युक्त एवं कमल के समान नेत्रों से युक्त होती हैं। इनके ओष्ठ लाल वर्ण के, कपोल भरे हुये तथा स्तन कञ्चुक से ढँके होते हैं। शिर का शृंगार शंख, चक्र, माँग एवं कमल से होता है। दाहिने हाथ में पद्म होता है एवं बाँयें हाथ में श्रीफल होता है। इनका मध्य भाग सुन्दर तथा बड़े नितम्ब सुन्दर वस्त्रों से लिपटे रहते हैं। ये मेखला, कटिसूत्र एवं सभी आभूषणों से अलंकृत होती हैं। इनका शिरोभाग करण्डक से सुशोभित होता है एवं ये कमलासन पर आसीन होती हैं।।२४७-२५१।।

चामरव्यग्रहस्ते च तत्पार्श्वे तु स्त्रियावुभे ॥२५२॥

स्नपयन्तौ कुम्भहस्तौ हस्तिनौ च प्रदर्शयेत्।

उनके पार्श्व में दो स्त्रियाँ हाथ में चामर धारण किये रहती हैं। दो हाथियों को सूँड में कुम्भ लेकर उन्हें (लक्ष्मी देवी को) स्नान कराते हुये दिखाना चाहिये।।२५२।।

अथ गेहार्चनायोग्या चतुर्बाहुसमन्विता ॥२५३॥

वरदाभयहस्तं च सारुणाब्जसमप्रभा।
सर्वाभरणसम्पन्नां तप्तहेमोज्ज्वलप्रभाम् ॥२५४॥

पर्यङ्कबन्धमासीनां श्वेतपद्मासनाञ्चिताम्।
ईदृशीं कारयेल्लक्ष्मीमभीप्सितफलप्रदाम् ॥२५५॥

गृह में पूजा-योग्य लक्ष्मी चार भुजाओं से युक्त होती हैं। इनके हाथ वरद एवं अभय मुद्रा में होते हैं। वे रक्त वर्ण के पद्म की आभा के समान अरुण वर्ण की होती हैं। वे सभी आभूषणों से सुसज्जित, तपे हुये सोने के समान आभा वाली होती हैं। (लक्ष्मी) पर्यङ्कबन्ध मुद्रा में श्वेत कमल पर आसीन होती हैं। इस प्रकार अभीष्ट फल प्रदान करने वाली लक्ष्मी देवी को निर्मित करना चाहिये।।२५३-२५५।।

❋ यक्षिणी ❋

यक्षिणी हेममाला तु लक्षणीया सलक्षणा।
किं तु नागेन्द्ररहिता सिद्धाप्सरससेविता ॥२५६॥

किन्नरैरुपगायन्ती यक्षगन्धर्वसेविता।
अन्तर्बहिर्विधीयन्ते ग्रामादिषु च वास्तुषु ॥२५७॥

यक्षिणी—हेममाला यक्षिणी लक्ष्मी के लक्षणों से युक्त, किन्तु गज से रहित परिलक्षित होनी चाहिये। यह सिद्ध एवं अप्सराओं से सेवित होती हैं। किन्नर के साथ गान करती हुई यक्षों एवं गन्धर्वों से सेवित होती हैं। ग्राम आदि वास्तुओं में भीतर एवं बाहर इनकी स्थापना होनी चाहिये।।२५६-२५७।।

❋ कात्यायनी ❋

कात्यायनी महिषस्य शिरच्छेदे समुद्यता।
किरीटमकुटा सर्वभूषणा दशबाहुका ॥२५८॥

शक्तिं बाणं च मुसलं शूलं खड्गं च चर्मकम्।
वराखेटं पूर्णचापाङ्कुशं वामे क्रमात् तथा ॥२५९॥

नागपाशं तु सर्वास्त्रैर्युक्तोद्यतकराम्बुजा।

कात्यायनी—कात्यायनी देवी किरीट एवं मुकुट से युक्त, सभी अलंकरणों से

सुसज्जित, दस भुजाओं से युक्त तथा महिष का सिर काटने के लिये उद्यत होती हैं। इनके (दाहिने हाथ में) शक्ति, बाण, मुसल, शूल तथा खड्ग एवं बाँयें हाथ में क्रमशः चर्म, वराखेट, पूर्ण चाप, अङ्कुश तथा नागपाश होते हैं। इनके सभी करकमलों में सभी अस्त्र होते हैं।।२५८-२५९।।

सुवस्त्रनीलकेशा च नीलोत्पलदलेक्षणा ॥२६०॥

त्रिनेत्रा वा सुरम्याङ्गा पीनोन्नतपयोधरा ।
सुमध्या श्यामवर्णा च भुजङ्गस्तनबन्धना ॥२६१॥

सिंहारूढा सिंहकेतुः सिंहयागाम्बरान्विता ।
कात्यायनी दशभुजा महिषस्य शिरःस्थिता ॥२६२॥

ये सुन्दर वस्त्रों से युक्त, नीले केशों वाली, नील कमल के पत्र के समान नेत्रों वाली, तीन नेत्रों वाली, सुन्दर अंगों वाली, उन्नत एवं पीन वक्षों वाली, सुन्दर मध्य भाग वाली, श्याम वर्ण की तथा स्तनों पर सर्पबन्ध धारण किये होती हैं। ये सिंह पर आरूढ़, सिंह-ध्वज से युक्त एवं सिंहचर्म का वस्त्र धारण किये होती हैं। दस भुजाओं वाली कात्यायनी महिष के सिर पर खड़ी रहती हैं।।२६०-२६२।।

❋ दुर्गा ❋

चतुर्भुजयुता देवी पङ्कजासनसंस्थिता ।
वरदाभयहस्ता च शङ्खचक्रधरा स्मृता ॥२६३॥

खेटकशक्तिहीनाष्टबाहुका शुकधारिणी ।
सा दुर्गा दुर्गदेशे तु ग्रामादिषु विशेषतः ॥२६४॥

गुर्गा—दुर्गा देवी चार भुजाओं से युक्त पंकज के आसन पर स्थित होती हैं। इनके हाथ वरद एवं अभय मुद्रा में होते हैं तथा (शेष दो हाथों में) शंख एवं चक्र धारण किये रहती हैं। अष्ट भुजाओं से युक्त होने पर (पूर्ववर्णित पदार्थों में से) खेटक एवं शक्ति से रहित होती हैं एवं शुक धारण करती हैं। वह दुर्गा हैं तथा दुर्ग एवं ग्रामादि वास्तुओं में विशेष रूप से (स्थापित) होती हैं।।२६३-२६४।।

❋ सरस्वती ❋

शुक्लवर्णा जटामौलिश्चतुर्हस्ता सरस्वती ।
श्वेतपद्मासनासीना रत्नकुण्डलमण्डिता ॥२६५॥

यज्ञोपवीतिनी चारुमुक्ताहारा सुलोचना ।
व्याख्यानमक्षसूत्रं च बिभ्रती दक्षिणे करे ॥२६६॥

पुस्तकं कुण्डिकां चापि त्रिनेत्रा चारुरूपिणी।
ऋज्वागतमुखी सर्वमुनिभिः सेविता वरा॥२६७॥
वस्तुमध्ये चतुर्दिक्षु स्थापनीया हितैषिभिः।

सरस्वती—सरस्वती देवी श्वेत वर्ण की, सिर पर जटा धारण किये, चार भुजाओं वाली, श्वेत कमल के आसन पर आसीन, रत्नकुण्डल से सुसज्जित, यज्ञोपवीत से युक्त, सुन्दर मोतियों का हार धारण की हुई, सुन्दर नेत्रों वाली, दाहिने हाथ में व्याख्यान-मुद्रा एवं अक्षसूत्र धारण किये तथा (वाम हस्तों में) पुस्तक एवं कुण्डिका धारण किये रहती हैं। ये तीन नेत्रों वाली, सुन्दर रूप वाली, ऊपर उठे सीधे मुख वाली तथा सभी मुनियों से सेवित होती हैं। कल्याण की कामना करने वालों द्वारा वास्तु के मध्य में चारो दिशाओं में इनकी स्थापना होनी चाहिये।।२६५-२६७।।

❋ ज्येष्ठा ❋

लम्बोष्ठी तुङ्गनासी च लम्बमानस्तनोदरी॥२६८॥
ज्येष्ठा ज्येष्ठा महालक्ष्म्या लोहितोत्पलपाणिका।
पीठासना कलेर्देवी पीठलम्बितपादुका॥२६९॥
रक्तवर्णाम्बिरा श्यामवर्णामृतसमुद्भवा।
सर्वाभरणसम्पन्ना वासिकाबन्धशेखरी॥२७०॥
काकध्वजसमायुक्ता सारालतिलकान्विता।

ज्येष्ठा—ज्येष्ठा देवी लम्बे ओठों वाली, ऊँची नासिका वाली, लम्बे स्तनों एवं उदर वाली, हाथ में कमल लिये ज्येष्ठा महालक्ष्मी की बड़ी (बहन) हैं। पीठ पर आसीन, कलि की देवी, पीठ पर पैर लटकाये रहती हैं। ये लाल वर्ण का वस्त्र धारण करती हैं। इनका वर्ण श्याम है तथा ये अमृत से उत्पन्न हैं। सभी आभूषणों से युक्त एवं शिर पर वस्त्र का बन्ध धारण करती हैं। ये काकध्वज से युक्त तथा साराल के तिलक से युक्त होती हैं।।२६८-२७०।।

वृषाननः सुखासीनो दण्डपाणिर्महाभुजः॥२७१॥
श्वेतवर्णसुतस्तस्याः स धार्यो दक्षिणोत्तरे।
सुस्तनी यौवनाङ्गा च सुवस्त्रा चारुलोचना॥२७२॥
कृष्णवर्णा सुता तस्याः सर्वाभरणभूषिता।
द्वारे द्वारे यौवना वा स्थाने स्थाने च भित्तिभिः॥२७३॥

उनका पुत्र वृष के समान मुख वाला, सुखासन में आसीन, हाथ में दण्ड धारण

किये, बड़ी भुजाओं वाला होता है। वह ज्येष्ठा के दक्षिण में होता है। उनकी पुत्री ज्येष्ठा के वाम भाग में होती है। वह सुन्दर स्तनों वाली, युवावस्था से युक्त अंगों वाली, सुन्दर वस्त्रों वाली, सुन्दर नेत्रों वाली, कृष्ण वर्ण की एवं सभी आभूषणों से आभूषित होती है। अथवा प्रत्येक द्वार पर, प्रत्येक स्थान पर भित्तियों के ऊपर युवा स्त्री होनी चाहिये।।२७१-२७३।।

❋ भूमिः ❋

सस्याङ्कुरनिभा भूमी राजीवविपुलेक्षणा।
तिलकालकसंयुक्ता सर्वाभरणभूषिता ॥२७४॥

पुष्पहस्ता सुरूपा च करण्डमकुटोज्ज्वला।
पीताम्बरधरा धात्री भूतानां पीठकासनम् ॥२७५॥

भूमि—धान्य के अंकुर के समान भूमि कमलपुष्प के समान बड़े नेत्रों वाली होती हैं। ये तिलक एवं केशों से युक्त एवं सभी आभरणों से अलंकृत होती हैं। भूमि हाथ में पुष्प धारण किये सुन्दर रूप वाली, करण्ड एवं मुकुट से प्रकाशमान, पीले वस्त्र धारण किये, सभी प्राणियों को धारण करने वाली एवं पीठ पर आसीन होती हैं।

❋ पार्वती ❋

प्रसन्नवदना सौम्यदृष्टिः सुन्दररूपिणी।
सर्वाभरणसम्पन्ना श्यामवर्णा द्विबाहुका ॥२७६॥

दुकूलवसना पुष्पहस्ता सातिमनोहरा।
चतुर्दिक्षु च मध्ये तु भल्लाटांशे तु पार्वती ॥२७७॥

स्थापनीया सुसम्पन्ना परिवारसमन्विता।
सिद्धविद्याधरस्त्रीभिः सेविताभीप्सितार्थदा ॥२७८॥

पार्वती—पार्वती देवी प्रसन्नमुख, सौम्य दृष्टि वाली, सुन्दर रूप वाली, सभी आभूषणों से युक्त, श्यामवर्ण की, दो भुजाओं वाली, दुकूल वस्त्र धारण की हुई, हाथ में पुष्प लिये, अत्यन्त सुन्दर होती हैं। चारो दिशाओं में, मध्य में या भल्लाट के पद पर सुसम्पन्न एवं परिवार (सहायकों) से युक्त पार्वती की स्थापना करनी चाहिये। सिद्ध एवं विद्याधर स्त्रियों से सेवित (पार्वती) सभी अभिलषित कामनाओं को पूर्ण करती हैं।।२७६-२७८।।

❋ सप्तमाता ❋

सप्तमाता बहिर्ग्रामान्नगराणां विधीयताम्।
स्थूलदेहा महाकुक्षिः पार्श्वद्वयवधूद्वया ॥२७९॥

श्यामवर्णा विशालाक्षी रक्तवस्त्रा द्विबाहुका।
भूतप्रतपिशाचादिसेविता या विशेषतः ॥२८०॥

सप्तमाता—सप्तमाता को ग्राम एवं नगर के बाहर स्थापित करना चाहिये। ये स्थूल शरीर की, बड़े उदर वाली, पार्श्व में दो वधुओं से युक्त, श्याम वर्ण की, बड़े नेत्रों वाली, लाल वस्त्र धारण किये तथा दो भुजाओं से युक्त होती हैं। ये विशेष रूप से भूत, प्रेत एवं पिशाच आदि से सेवित होती हैं।।२७९-२८०।।

❋ बुद्धः ❋

पर्यङ्कबन्धमासीनं बोधमङ्कोर्ध्वपाणिकम्।
रक्तवस्त्रं द्विदोर्दण्डं रक्तवस्त्रोत्तरीयकम् ॥२८१॥

पिङ्गवर्णाम्बरधरं त्यक्ताभरणमूर्ध्वजम्।
सिंहासनोपरिष्टन्तु इन्द्राद्यैस्तु निषेवितम् ॥२८२॥

यक्षैर्विद्याधरैः सिद्धैर्गन्धर्वाद्यैस्तथैव च।
कारयेदीदृशं रूपमश्वत्थद्रुमसंयुतम् ॥२८३॥

बुद्ध—बुद्धदेव पर्यङ्कबन्ध मुद्रा (एक के ऊपर दूसरा पैर रखकर, पालथी मार कर बैठना) में आसीन रहते हैं। अपनी गोद में अपने हाथ ऊपर की ओर (हथेली किये) रक्खे रहते हैं। ये रक्त वर्ण का वस्त्र धारण किये, रक्त वर्ण का उत्तरीय (चादर, ऊपर ओढ़ने का वस्त्र) ओढ़े तथा दो भुजाओं वाले होते हैं। पिङ्ग वर्ण (पीला, भूरा) वस्त्र धारण किये, सिर पर विना किसी आभूषण के, सिंहासन के ऊपर (स्थित बुद्धदेव) इन्द्र आदि देवों से सेवित रहते हैं। यक्ष, विद्याधर, सिद्ध तथा गन्धर्व आदि उनकी सेवा करते हैं। इस प्रकार अश्वत्थ (पीपल) वृक्ष से संयुक्त बुद्ध के रूप का निर्माण करना चाहिये।।२८१-२८३।।

❋ जिनः ❋

नीलाञ्जननिभं जैनमशोकद्रुमसेवितम्।
स्थानकमासनमुक्तं सिंहपद्मासनान्वितम् ॥२८४॥

पार्श्वबाहुः स्तनान्ते तु दृष्टिर्देवप्रमाणकम्।
देवाङ्गुलेन त्रिंशद्वा चामरग्राहिमानकम् ॥२८५॥

शेषं पूर्ववदुद्दिष्टं युक्त्या रूपं निरम्बरम्।
सुराद्यैरमरैः सेव्यः त्रिच्छत्रेण समन्वितः ॥२८६॥

पार्श्वबाहुलतारत्नं तत्तद्वर्णं द्विबाहुकः।
यक्षेन्द्रकापराजितौ पार्श्वे कट्यन्तशीर्षकौ ॥२८७॥

कर्तव्यौ पूर्वमुक्तौ च शास्त्रज्ञैः शिल्पपारगैः ।

जिन—जैन (जिन) नीले (काले) अञ्जन के समान वर्ण वाले, अशोक वृक्ष द्वारा सेवित होते हैं। इनका आसन स्थानक मुद्रा (खड़ी प्रतिमा) में वर्णित है तथा इनका आसन (पीठ) सिंह या पद्म होता है। इनका (एक) हाथ बगल में लटका रहता है तथा (दूसरा) स्तनान्त पर टिका होता है। इनका माप देवों के अनुसार रखना चाहिये। इनके चामर ग्रहण करने वाले का मान देवता के अंगुल-मान से तीस अंगुल का होता है। शेष मान पूर्ववर्णन के अनुसार आवश्यकतानुसार रक्खा जाना चाहिये। इनका रूप वस्त्ररहित होता है। तीन छत्रों से युक्त ये देवों एवं अमरों (अन्य देवों) द्वारा सेवित होते हैं। पार्श्व में स्थित उनकी भुजायें लताओं एवं रत्नों से युक्त होती हैं। प्रत्येक अपने वर्ण से युक्त होते हैं। इनकी दो भुजायें होती हैं। उनके पार्श्व में यक्षेन्द्र एवं अपराजित होते हैं। उनका शीर्ष (जिन देव के) कमर तक होता है। इन दोनों को पूर्ववर्णित नियमों के अनुसार शिल्पशास्त्र के तलस्पर्शी विद्वानों द्वारा निर्मित करना चाहिये।।२८४-२८७।।

❋ सामान्यविधिः ❋

अन्यदेवश्च कर्तव्यः स्वस्वचिह्नं प्रदर्शयेत् ।।२८८।।

लेखारूपाः स्वरूपाश्च नागाः सप्तत्रिभोगिकाः ।
राक्षसाश्च पिशाचाश्च रौद्रप्रकृतिरूपिणः ।।२८९।।

प्रेताश्चैव ततः सर्वे भूतवेतालजातयः ।
यथायोगं विधातव्या सर्वे सर्वेष्टवास्तुके ।।२९०।।

एवं संक्षेपतः प्रोक्तं प्रतिमालक्षणं मया ।।२९१।।

सामान्य नियम—इसी प्रकार अन्य देवों का भी निर्माण करना चाहिये तथा उनके चिह्नों को भी प्रदर्शित करना चाहिये। सर्पों को सात या तीन भोगों (कुण्डलियों) से युक्त तथा राक्षसों एवं पिशाचों को भयानक स्वरूप वाला निर्मित करना चाहिये। प्रेत तथा भूत-वेताल आदि सभी को यथोचित रीति से निर्मित करना चाहिये। उन्हें अनुकूल स्थान पर रखना चाहिये। इस प्रकार मैंने (मय ने) संक्षेप में प्रतिमाओं के लक्षण का वर्णन किया।।२८८-२९१।।

❋ बेरमानानि ❋

यजमानसमोत्सेधं श्रेष्ठमष्टांशहीनकम् ।
मध्यमं तु तदंशोनमधमं बेरमुच्यते ।।२९२।।

स्वरूपं वाऽथ कर्तव्यं विरूपां वा यदृच्छया ।
अथवा बाहुसीमान्तं स्तनान्तं नाभिकान्तकम् ।।२९३।।

श्रेष्ठमध्यकनिष्ठं स्यात् कुब्जवामनकं त्यजेत्।

प्रतिमाओं के प्रमाण—यजमान (स्थापक) के बराबर ऊँचा बेर श्रेष्ठ, आठ भाग कम मध्यम तथा उससे एक भाग कम अधम (छोटा, हीन) होता है। इसे (यजमान की) रुचि के अनुसार या उसे पृथक् इच्छानुसार निर्मित करना चाहिये। अथवा (प्रतिमा यजमान के) स्कन्ध, स्तनान्त या नाभि तक निर्मित करनी चाहिये। ये (क्रमशः) श्रेष्ठ, मध्यम एवं कनिष्ठ होती हैं। (किन्तु यदि यजमान) कूबड़युक्त या बौना हो तो (यजमान के प्रमाण को) छोड़ देना चाहिये।।२९२-२९३।।

धामगर्भगृहस्तम्भद्वारकर्तृवशादिह ॥२९४॥
लम्बोच्चमानं मात्रैस्तु बुद्धिमान् भाजयेत् समम्।
परिहृत्याङ्गुलच्छेदं वृद्ध्या हान्या विचक्षणः ॥२९५॥
आयव्ययर्क्षवाराष्टयोन्यंशकशुभं नयेत्।

धाम (मन्दिर), गर्भगृह, स्तम्भ, द्वार अथवा निर्माण करने वाले की ऊँचाई के अनुसार लम्बोच्च मान को बराबर अंगुल-मान से बाँटना चाहिये। बुद्धिमान व्यक्ति को अंगुलच्छेद (भिन्न) को छोड़कर संख्या की वृद्धि या हानि (कम) कर पूर्ण संख्या कर लेनी चाहिये। इसे इस प्रकार करना चाहिये, जिससे आय, व्यय, नक्षत्र, वार, अष्ट योनियाँ एवं अंशक शुभ हों।।२९४-२९५।।

आयव्ययौ मतौ ऋग्भिर्धनर्णौ च यथाक्रमम् ।।२९६।।
बेरायामं गृहीत्वाष्टनवभिस्त्रिगुणैर्हृते।
द्वादशाष्टाष्टभिर्व्यासधनर्णाख्यं तु योनिकम् ।।२९७।।
आयाधिकं व्ययक्षीणं मानं तत्सम्पदां पदम्।
योनिष्वष्टासु स्युः .... ।।२९८।।

ऋषियों के अनुसार आय एवं व्यय क्रमशः लाभ एवं हानि के कारण होते हैं। मूर्त्ति की ऊँचाई को आठ, नौ एवं तीन से गुणा करना चाहिये। प्राप्तांक को क्रमशः बारह, आठ, आठ से विभाजित करना चाहिये। इससे आय, व्यय एवं योनि का ज्ञान होता है। यदि आय अधिक हो एवं व्यय कम हो तो इससे सम्पत्ति (लाभ) प्राप्त होती है। आठ योनियों में.............................. ।।२९६-२९८।।

सार्धस्तम्भोदयं श्रेष्ठं बेरायाममिति स्मृतम्।
स्तम्भोच्चं वाऽथ नन्दाष्टभागोनं तद्द्विधा मतम् ।।२९९।।

ऐसा कहा गया है कि श्रेष्ठ बेर स्तम्भ के डेढ़ भाग के बराबर होता है। अथवा

स्तम्भ की ऊँचाई के नौ भागों में आठ भाग के बराबर या आठ में सात भाग के बराबर (मूर्त्ति की ऊँचाई के) दो प्रकार के प्रमाण प्राप्त होते हैं।।२९९।।

तथैव बेरमानं तु विविधं समुदीरितम् ।
त्रिपञ्चरत्निभिः पङ्क्तिहस्तैः पञ्चकरैरपि ॥३००॥

श्रेष्ठमध्यकनिष्ठं च त्रिविधं प्रतिमोदयम् ।
प्रासादहस्तमानाभ्यां क्षुद्रेऽक्षुद्रे गृहे क्रमात् ॥३०१॥

इस प्रकार बेर के प्रमाण का अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है। श्रेष्ठ, मध्यम एवं कनिष्ठ तीन प्रकार की प्रतिमाओं के अनुसार ऊँचाई पन्द्रह, दस या पाँच हाथ की होती है। इनका मान छोटे एवं बड़े गृहों के अनुसार, प्रासाद के हस्त-मान के अनुसार रखना चाहिये।।३००-३०१।।

एकत्रिंशाङ्गुलादूर्ध्वं षडङ्गुलविवर्धनात् ।
सप्ताङ्गुलाधिकं नन्दहस्तान्तप्रतिमोदयम् ॥३०२॥

पञ्चरत्निविमानाद्या द्वादशान्तं यथाक्रमम् ।
त्रयस्त्रिंशत्समुत्सेधं मानज्ञैः समुदीरितम् ॥३०३॥

इकतीस अंगुल से प्रारम्भ कर नौ हाथ, सात अंगुल तक छः-छः अंगुल बढ़ाते हुये प्रतिमा की ऊँचाई का मान रखना चाहिये। पाँच हाथ से बारह हाथ (चौड़े) विमान (मन्दिर) के तैंतीस ऊँचाई के प्रमाण प्रमाण के ज्ञाता मनीषियों द्वारा वर्णित हैं।

❋ जङ्गमबेरमानानि ❋

सप्तषट्पञ्चभागे तु मूलबेरायतेंऽशतः ।
चतुस्त्रिद्व्यंशके वाऽपि भागेनैवायतं मतम् ॥३०४॥

जङ्गमप्रतिमानां तु विशेषेण मुनीश्वरैः ।

जंगम प्रतिमाओं के प्रमाण—महान् ऋषियों के अनुसार चल प्रतिमाओं की ऊँचाई मूल प्रतिमा के सात, छः, पाँच भाग अथवा चार, तीन एवं दो भाग के बराबर रखनी चाहिये।।३०४।।

पूजाभागसमं हीनं सार्धं वा मध्यमे भवेत् ॥३०५॥

द्विगुणं तु तदुत्सेधं जङ्गमे लिङ्गमानतः ।
पूजाभागोदयार्धं वा त्रिभागं तत्समोदयम् ॥३०६॥

जङ्गमप्रतिमोत्सेधं लिङ्गमानवशाद् द्विधा ।

चल प्रतिमा की ऊँचाई लिङ्ग के मान के अनुसार होती है। हीन प्रतिमा लिङ्ग के

पूजा भाग के बराबर, मध्यम प्रतिमा उससे आधी भाग अधिक होती है। श्रेष्ठ प्रतिमा उसकी (पूजाभाग की) दुगुनी होती है। (अथवा) चल प्रतिमा की ऊँचाई लिङ्ग के पूजा भाग की ऊँचाई की आधी, तीन चौथाई या उसके बराबर ऊँची होती है। इस प्रकार चल प्रतिमा दो प्रकार की होती है।।३०५-३०६।।

त्रयोदशाङ्गुलोच्चादि द्विद्व्यङ्गुलविवर्धनात् ।।३०७।।
एकत्रिंशतिमात्रं तु दशधा जङ्गमोदयम् ।
त्रित्रिपञ्चाङ्गुलाद्यन्तं यत्तद्वेरं गृहे नृणाम् ।।३०८।।
अर्धार्धाङ्गुल .... ।
यजमानाङ्गुलं वाऽपि गृह्णीयाद्यत्तदिष्टतः ।
क्षुद्राणां तु यवैर्वापि विप्रयोज्यमिदं तु वा ।।३०९।।

तेरह अंगुल से प्रारम्भ कर दो-दो अंगुल क्रमशः बढ़ाते हुये इकतीस अंगुल तक चल प्रतिमा के दस प्रकार की ऊँचाई के प्रमाण बनते हैं। मनुष्यों के (आवास) गृह में निर्मित होने वाली प्रतिमा तीन अंगुल से प्रारम्भ कर आधा-आधा अंगुल बढ़ाते हुये पन्द्रह अंगुल तक (ऊँची) होती है। ....अथवा, यजमान के अंगुल से प्रमाण ग्रहण करना चाहिये। छोटी मूर्तियों के लिये यव के प्रमाण का प्रयोग करना चाहिये।

❋ द्वारपालाः ❋

नन्दी कालः पूर्वतो दक्षिणे स्याद्
दण्डी मुण्डी वैजयो भृङ्गिरीटी ।
प्रत्यग्गोपानन्तकावुत्तरस्यां
न्यस्तव्याः स्युर्दक्षिणादिक्रमेण ।।३१०।।

द्वारपाल—नन्दी तथा काल पूर्व दिशा में, दण्डी एवं मुण्डी दक्षिण में, वैजय एवं भृङ्गरीटी पश्चिम में तथा गोप एवं अनन्तक उत्तर दिशा में होते हैं। इन्हें क्रमशः दक्षिण-क्रम से (प्रथम नाम दाहिनी ओर) स्थापित करना चाहिये।।३१०।।

श्यामकुङ्कुमनिभेन्द्रकेन्द्रगोपोपमं सितमयूरकन्धरम् ।
पद्मनीलनिभकालसन्निभं द्वारपालवरवर्णमुच्यते ।।३११।।

इन द्वारपालों के वर्ण इस प्रकार कहे गये हैं—श्याम वर्ण (नन्दी), कुंकुम के समान वर्ण (काल), इन्द्रक वर्ण अर्थात् इन्द्रनील वर्ण (दण्डी), लाल वर्ण (मुण्डी), श्वेत वर्ण (वैजय), मयूर के कण्ठ के समान वर्ण (भृङ्गरीटी), नील पद्म के समान वर्ण (गोप) तथा काला वर्ण (अनन्तक)।।३११।।

दण्डं टङ्कं च खड्गं निशितशिखियुतं भिण्डिपालं च वेलं
शूलं वज्रं च शक्तिं स्फुरितशिखियुतं बिभ्रतोऽन्योन्यमेवम् ।

हस्तैर्युक्ताश्चतुर्भिस्त्रिभिरपि नयनैर्लोचनाभयमथो वा
संयुक्ताश्चोग्रदंष्ट्रा मकुटतटलसच्छूलनागाङ्किताङ्गाः ॥३१२॥

इनके आयुध इस प्रकार हैं—दण्ड, टङ्क, तीक्ष्ण नोक से युक्त खड्ग, भिण्डिपाल, वेल, शूल, वज्र एवं स्फुरित शिखा से युक्त शक्ति। ये चार भुजाओं से युक्त, तीन या दो नेत्र तथा उग्र दाँतों से युक्त होते हैं। इनके मुकुट के तल शूल से युक्त होते हैं तथा अंगों पर सर्प अंकित होते हैं।।३१२।।

यत् सूच्यं चार्धचन्द्रं ह्यलकमलयुतं हस्तकं बिभ्रतस्ते
देहे देहेऽष्टमांशावधिकपरियुताः शान्तटङ्कावृता वा ।
देवानामेव नित्याभयभयकरवक्त्राः प्रचण्डस्वरूपाः
नानाकृत्योपयुक्ताः शशिधरभवने सालकाः शूलहस्ताः ॥३१३॥

प्रत्येक के एक हाथ सूची के समान, दूसरा अर्धचन्द्र के समान तथा अन्य हाथ खिले हुये कमल के समान होते हैं। उनके शरीर उचित मांस से युक्त होते हैं। देवों के समान उनके चेहरे भयरहित होते हैं; किन्तु (देखने वालों के लिये) भय उत्पन्न करते हैं। ये प्रचण्ड स्वरूप वाले होते हैं। ये विभिन्न कार्यों के लिये उपयुक्त होते हैं। ये हाथ में शूल धारण किये, केशों से युक्त शिवालय में स्थापित होते हैं।।३१३।।

सर्वेषां नवतालमानमुदितं तत्तालमानक्रमं
दिष्टव्यं हरदिष्टशस्त्रविषये विद्वज्जनैः शिल्पिभिः ।
सर्वे कुञ्चितपादकाश्च भवने दौवारिकाः शालिनः
ते सर्वे हरिणोज्ज्वलाः फणिगणैरुष्या यथेष्टाम्बराः ॥३१४॥

सभी के प्रमाण नौ ताल कहे गये हैं। विद्वान् शिल्पियों को ताल-प्रमाण के क्रम को हर के द्वारा उपदिष्ट शास्त्र (आगम) के अनुसार ग्रहण करना चाहिये। सभी के एक पैर मुड़े होने चाहिये। मन्दिरों में इन्हें द्वारपाल के रूप में स्थापित करना चाहिये। सभी प्रकाश से युक्त, सर्पों से सुसज्जित एवं इच्छानुसार वस्त्रों से युक्त होते हैं।

आकारवर्णवरभूषणवाहनानां
स्थानध्वजायुधनिजासनमार्गमेवम् ।
ब्रह्माहरीश्वरकुमारमुखामराणां
प्रोक्तं हि विश्वमखिलागमलोकनानाम् ॥३१५॥

इति मयमते वस्तुशास्त्रे प्रतिमालक्षणं नाम
षट्त्रिंशोऽध्यायः

आगम-परम्परा के अनुयायियों के लिये यहाँ ब्रह्मा, विष्णु, शिव एवं कुमार आदि प्रमुख देवों के आकार, वर्ण, आभूषण, वाहन, स्थान, ध्वज, आयुध, उनके आसन आदि का वर्णन किया गया है।।३१५।।

व्याख्यात्मक टिप्पणी

ब्रह्मा की प्रतिमा (श्लोक २-७)

ब्रह्मा का प्रतिमा-लक्षण अन्यत्र इस प्रकार प्राप्त होता है—

१. मत्स्यपुराण में इस प्रकार है—

ब्रह्मा कमण्डलुधरः कर्तव्यः स चतुर्मुखः।
हंसारूढः क्वचित् कार्यः क्वचिच्च कमलासनः।।

वर्णतः पद्मगर्भाभश्चतुर्बाहुः शुभेक्षणः।
कमण्डलुं वामकरे स्रुवं हस्ते तु दक्षिणे।।

वामे दण्डधरं तद्वत् स्रुवञ्चापि प्रदर्शयेत्।
मुनिभिर्देवगन्धर्वैः स्तूयमानं समन्ततः।।

कुर्वाणमिव लोकांस्त्रीन् शुक्लाम्बरधरं विभुम्।
मृगचर्मधरं चापि दिव्ययज्ञोपवीतिनम्।।

आज्यस्थालीं न्यसेत् पार्श्वे वेदांश्च चतुरः पुनः।
वामपार्श्वेऽस्य सावित्रीं दक्षिणे च सरस्वतीम्।।

अग्रे च ऋषयस्तद्वत् कार्याः पैतामहे पदे।
(२६०.४०-४५)

२. बृहत्संहिता के अनुसार—

ब्रह्मा कमण्डलुकरश्चतुर्मुखः पङ्कजासनस्थश्च। (५८.४१)

विष्णु-प्रतिमा (श्लोक ८-११)

विष्णु की प्रतिमा अन्यत्र इस प्रकार है—

१. रूपमण्डन में विष्णु का वर्णन इस प्रकार है—

विष्णुः कौमोदकीं पद्मं पाञ्चजन्यं सुदर्शनम्। (३.१३)

२. बृहत्संहिता में विष्णु की अष्टभुज, चतुर्भुज तथा द्विभुज प्रतिमा वर्णित है—

कार्योऽष्टभुजो भगवांश्चतुर्भुजो द्विभुज एव वा विष्णुः।
श्रीवत्साङ्कितवक्षाः कौस्तुभमणिभूषितोरस्कः।।

अतसीकुसुमश्यामः पीताम्बरनिवसनः प्रसन्नमुखः।
कुण्डलकिरीटधारी पीनगलोरःस्थलांसभुजः।।

खड्गगदाशरपाणिर्दक्षिणतः शान्तिदश्चतुर्थकरः।
वामकरेषु च कार्मुकखेटकचक्राणि शङ्खश्च।।

अथ च चतुर्भुजमिच्छति शान्तिद एको गदाधरश्चान्यः।
दक्षिणपार्श्वे त्वेवं वामे शङ्खश्च चक्रं च।।

द्विभुजस्य तु शान्तिकरो दक्षिणहस्तोऽपरश्च शङ्खधरः।
एवं विष्णोः प्रतिमा कर्तव्या भूतिमिच्छद्भिः।।
(५८.३१-३५)

वराह-प्रतिमा (श्लोक १२-१३)

वराह की मूर्ति का वर्णन अन्यत्र इस प्रकार है—

१. मत्स्यपुराण में महावराह का वर्णन इस प्रकार है—

महावराहं वक्ष्यामि पद्महस्तं गदाधरम्।
तीक्ष्णदंष्ट्राग्रघोणास्यं मेदिनी वामकूर्परम्।।

दंष्ट्राग्रेणोद्धृतां दान्तां धरणीमुत्पलान्विताम्।
विस्मयोत्फुल्लवदनामुपरिष्टात् प्रकल्पयेत्।।

दक्षिणं कटिसंस्थं तु करं तस्याः प्रकल्पयेत्।
कूर्मोपरि तथा पादमेकं नागेन्द्रमूर्धनि।।

संस्तूयमानं लोकेशैः समन्तात् परिकल्पयेत्।
(२६०.२८-३१)

२. रूपमण्डन के अनुसार—

नृवराहो गदाम्बुजम्। (३.२४)

त्रिविक्रम-प्रतिमा (श्लोक १४)

रूपमण्डन के अनुसार—

त्रिविक्रमस्त्रिषु गदाचक्रशङ्खान् बिभर्ति यः। (३.१५)

नारसिंह-प्रतिमा (श्लोक १५-२४)

नारसिंह की प्रतिमा का लक्षण इस प्रकार अन्य ग्रन्थों में प्राप्त होता है—

१. रूपमण्डन के अनुसार—

नरसिंहस्तु चक्राब्जगदाकम्बुविराजितः। (३.१६)

२. मत्स्यपुराण में हिरण्यकशिपु के संहारक नृसिंह की प्रतिमा इस प्रकार वर्णित है—

नारसिंहं तु कर्तव्यं भुजाष्टकसमन्वितम्।।
रौद्रं सिंहासनं तद्वद् विदारितमुखेक्षणम्।
स्तब्धपीनसटाकर्णं दारयन्तं दितेः सुतम्।।
विनिर्गतान्त्रजालं च दानवं परिकल्पयेत्।
वमन्तं रुधिरं घोरं भ्रुकुटीवदनेक्षणम्।।
युध्यमानश्च कर्तव्यः क्वचित् करणबन्धनैः।
परिश्रान्तेन दैत्येन तर्ज्यमानो मुहुर्मुहुः।।
दैत्यं प्रदर्शयेत्तत्र खड्गखेटकधारिणम्।
स्तूयमानं तथा विष्णुं दर्शयेदमराधिपः।।
(२६०.३१-३५)

अनन्तशायी-प्रतिमा (श्लोक २५-३५)

अनन्तशायी का स्वरूप रूपमण्डन में इस प्रकार वर्णित है—
सुप्तरूपं शेषतल्पे दक्षो दण्डभुजोऽस्य तु।
शिरोधरो वा वामस्तु सपुष्पोऽयं जलेशयः।।
तन्नाभिपङ्कजे धाता श्रीभूमिचरणान्तिके।
निध्यस्त्रादिस्वरूपाणि पार्श्वयोर्मधुकैटभौ।।(३.२९-३०)

शिव-प्रतिमा (श्लोक ३५-४२)

रूपमण्डन के चतुर्थ अध्याय में शिव की सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष, ईश, मृत्युञ्जय, किरणाक्ष, श्रीकण्ठ, अहिर्बुध्न्य, विरूपाक्ष, सदाशिव, त्र्यम्बक संज्ञक द्वादश शिव-मूर्तियों का वर्णन प्राप्त होता है।

सोमास्कन्देश्वर-प्रतिमा (श्लोक ५९-६४)

शिल्परत्न (उत्तर) में सोमास्कन्देश्वर का वर्णन इस प्रकार प्राप्त होता है—
अथ वक्ष्ये विशेषेण सोमास्कन्देश्वरं वरम्।।
सुखासनं यथा प्रोक्तं तथा देवो विधीयते।
देवस्य वामपार्श्वे तु पार्वती च सहासने।।
शाययेद् दक्षिणं पादं वामपादं प्रलम्बयेत्।
वरदं वामहस्ते तु दक्षिणे चोत्पलं करे।।
दूर्वाश्याममनिभा देवी सर्वाभरणभूषिता।
रक्ताम्बरधरा हारकिरीटमकुटान्विता।।

वामोरुवाह्ये पीठे तु वामहस्ततलं न्यसेत्।
प्रह्वदुत्पलसंयुक्तमन्यमेवं करोतु वा।।

देवीदेवेशयोर्मध्ये स्थापयेत् स्कन्दमूर्तिनम्।
केशान्ते वापिकोपेतकरण्डमकुटान्वितम्।।

उभयोर्हस्तयो: पुष्पं वामे वरदमेव वा।
कटकं वाथ तद्धस्ते सिंहकर्णमथापि वा।।

अथवा पुस्तकं दक्षहस्ते वामे पुरोक्तवत्।
कटिसूत्रयुतं नग्नं बाहुभूषणभूषितम्।।

आसीनं वा स्थितं वाथ नृत्तं वा स्कन्दमाचरेत्।
नृत्तं चेत् फलवद्वामहस्तमन्यत्र सूचिकम्।।

अथवा वामहस्तं तु फलं त्यक्त्वा प्रसारयेत्।
वक्ष्यमाणविधानेन स्कन्दं नृत्तं समाचरेत्।।(२२.७-१६)

शिव की वृषारुढ मूर्ति, नृत्तमूर्तियाँ तथा चन्द्रशेखरमूर्ति शिल्परत्न (उत्तर., २२) में श्लोक २७-३२, ३३-६६ तथा १७-२६ में वर्णित हैं।

अर्धनारीश्वर-प्रतिमा (श्लोक ८१-८९)

मत्स्यपुराण में अर्धनारीश्वर इस प्रकार वर्णित हैं—

अधुना सम्प्रवक्ष्यामि अर्धनारीश्वरं परम्।
अर्धेन देवदेवस्य नारीरूपं सुशोभनम्।।

ईशार्धे तु जटाभागो बालेन्दुकलया युत:।
उमार्धे चापि दातव्यौ सीमन्ततिलकावुभौ।।

वासुकिं दक्षिणे कर्णे वामे कुण्डलमादिशेत्।
बालिका चोपरिष्टात्तु कपालं दक्षिणे करे।
त्रिशूलं वापि कर्तव्यं देवदेवस्य शूलिन:।।

वामतो दर्पणं दद्यादुत्पलं तु विशेषत:।
वामबाहुश्च कर्तव्य: केयूरवलयान्वित:।।

उपवीतं च कर्तव्यं मणिमुक्तामयं तथा।।

स्तनभारं तथार्धे तु वामे पीतं प्रकल्पयेत्।
परार्धमुज्ज्वलं कुर्याच्छ्रोण्यर्धं तु तथैव च।।

लिङ्गार्धमूर्ध्वगं कुर्याद् व्यालाजिनकृताम्बरम्।
वामे लम्बपरीधानं कटिसूत्रत्रयान्वितम्।।

नानारत्नसमोपेतं दक्षिणे भुजगान्वितम्।
देवस्य दक्षिणं पादं पद्मोपरि सुसंस्थितम्।।

किञ्चिदूर्ध्वं तथा वामं भूषितं नूपुरेण तु।
रत्नैर्विभूषितान् कुर्यादङ्गुलीष्वङ्गुलीयकान्।।

सालक्तकं तथा पादं पार्वत्या दर्शयेत् सदा।
अर्धनारीश्वरस्येदं रूपमस्मिन्नुदाहृतम्।।

(२६०.१-१०)

हरिहर-प्रतिमा (श्लोक ९०-९१)

रूपमण्डन में हरिहर मूर्ति इस प्रकार वर्णित है—

कार्यो हरिहरस्यापि दक्षिणार्धे शिवः सदा।
ऋषीकेशश्च वामार्धे श्वेतनीलाकृती क्रमात्।।

वरं त्रिशूलचक्राब्जधारिणो बाहुकाः क्रमात्।
दक्षिणे वृषभः पार्श्वे वामे विहगराडिति।।(४.३०-३१)

चण्डेश्वरानुग्रह-प्रतिमा (श्लोक ९२-९३)

चण्डेशानुग्रह मूर्ति शिल्परत्न (उत्तर) में इस प्रकार वर्णित है—

चण्डेशानुग्रहं देवमुमास्कन्दवदाचरेत्।।

वामे किञ्चिन्नतं त्वास्यं दक्षिणे त्वभयं विना।
तद्धस्ते वरदं कार्यं वामे तु कटकं विना।।

चण्डेशमूर्ध्नि विन्यस्य तद्धस्तं करुणान्वितम्।
हृदयेऽञ्जलिसंयुक्तश्चण्डेशो भक्तिसंयुतः।।

आसनाधः सुखासीनो भक्तिमान् स्वर्णसन्निभः।

(२२.१४३-१४६)

दक्षिणामूर्त्ति-प्रतिमा (श्लोक ९८-१०१)

दक्षिणामूर्ति का वर्णन शिल्परत्न में इस प्रकार है—

मुद्रां भद्रार्थदात्रीं सपरशुहरिणां बाहुभिर्बाहुमेकं
जान्वासक्तं दधानो भुजगवरसमाबद्धकक्ष्यो वटाधः।
आसीनश्चन्द्रखण्डप्रतिघटितजटः क्षीरगौरस्त्रिनेत्रो
दद्यादाद्यैः शुकाद्यैर्मुनिभिरभिवृतो भावशुद्धिं भवो वः।। (२२.१८८)

भिक्षाटन-प्रतिमा (श्लोक १०२-१०३)

मिक्षाटन मूर्ति शिल्परत्न (उत्तर) में इस प्रकार उल्लिखित है—

अथ भिक्षाटनं वक्ष्ये पादौ पादुकसंयुतौ।।

सुस्थितं वामपादं तु गन्तुं दक्षिणमुद्धृतम्।
सुविकीर्णजटाभारं जटामण्डलमेव वा।।

विवृतबन्धजटं वाथ उपानद्रहितं तु वा।
ललाटपट्टसंयुक्तं करोत्वर्धेन्दुशेखरम्।।

सर्वाभरणसंयुक्तं कटिसूत्रविवर्जितम्।
शुद्धश्वेतनिभं प्रोक्तं नानानागविभूषितम्।।

दक्षिणं पूर्वहस्तं तु मृगस्यास्यान्तिकं भवेत्।
वामे तु पूर्वहस्तं तु सितवस्त्रोत्तरीयकम्।
नीलकण्ठं त्रिपुण्ड्राढ्यं पद्मपीठोपरि स्थितम्।।

कङ्कालमूर्तिवच्छेषं सर्वमत्र विशेषतः।
(२२.१३७-१४३)

शिव की कङ्काल-प्रतिमा (श्लोक १०४-१०६)

शिव की कङ्कालमूर्ति का वर्णन शिल्परत्न (उत्तर, २२.११६-१२८) में विस्तार से प्राप्त होता है।

मुखलिङ्ग (श्लोक १०७-११८)

मुखलिङ्ग का वर्णन शिल्परत्न (उत्तर) में इस प्रकार है—

यथोक्ताव्यक्तलिङ्गेषु शिवांशे दशभाजिते।
अश्विनेत्राग्निभागैः स्यात् स्कन्धः कण्ठस्तथाननम्।।

उष्णीषोंऽशस्तु मकुटं द्व्यंशमूर्ध्वं तु भागतः।
भागेन मुखविष्कम्भो विस्तृतश्चोर्ध्वलिङ्गवत्।।

ललाटकण्ठभ्रूनेत्रघ्राणगण्डमुखादिकम्।
मानोन्मानप्रमाणेन सर्वं सकलवत् स्मृतम्।।

अथैकत्रं चतुर्वक्त्रं ग्रामादिष्वेव विन्यसेत्।
द्विवक्त्रं पर्वतेऽरण्ये परराष्ट्रान्तिकेऽपि च।।

स्थापयेत्तदरिध्वंसं विदधाति स्वलक्षणम्।
चतुस्त्र्येकाननं भूत्यै पञ्चास्यं चाभिचारकम्।।

द्विमुखं चारिनाशाय स्थाप्यं शैलवनादिषु।
सर्वेषां मुखलिङ्गानां निर्गमः स्यात् पृथक् पृथक्।।

प्रविष्टा कन्धरा कार्या विष्णुभागोपरि स्थिता।
हस्तादिपञ्चहस्तान्तं मुखलिङ्गं प्रकल्पयेत्।।

अत: परं न कुर्वीत मुखलिङ्गं शुभेच्छया। (३.३७-४४)

गणेश-प्रतिमा (श्लोक १२२-१२६)

गणाधिप (गणेश) की प्रतिमा का विस्तार से वर्णन मत्स्यपुराण (२६०.५२-६३) में प्राप्त होता है। बृहत्संहिता के अनुसार—

प्रमथाधिपो गजमुख: प्रलम्बजठर: कुठारधारी स्यात्।
एकविषाणो बिभ्रन्मूलककन्दं सुनीलदलकन्दम्।। (५८.५८)

सूर्य-प्रतिमा (श्लोक १२७-१३५)

सूर्य की प्रतिमा का वर्णन कई ग्रन्थों में प्राप्त होता है—

१. मत्स्यपुराण में वर्णन इस प्रकार है—

प्रभाकरस्य प्रतिमामिदानीं शृणुत द्विजा:।
रथस्थं कारयेद् देवं पद्महस्तं सुलोचनम्।।

सप्ताश्वं चैकचक्रं च रथं तस्य प्रकल्पयेत्।
मुकुटेन विचित्रेण पद्मगर्भसमप्रभम्।।

नानाभरणभूषाभ्यां भुजाभ्यां धृतपुष्करम्।
स्कन्धस्थे पुष्करे ते तु लीलयैव धृते सदा।।

चोलकच्छन्नवपुषं क्वचिच्चित्रेषु दर्शयेत्।
वस्त्रयुग्मसमोपेतं चरणौ तेजसावृत्तौ।।

प्रतीहारौ च कर्तव्यौ पार्श्वयोर्दण्डिपिङ्गलौ।
कर्तव्यौ खड्गहस्तौ तौ पार्श्वयो: पुरुषावुभौ।।

लेखनीकृतहस्तञ्च पार्श्वे धातारमव्ययम्।
नानादेवगणैर्युक्तमेवं कुर्याद् दिवाकरम्।।

अरुण: सारथिश्चास्य पद्मिनीपत्रसन्निभ:।
अश्वौ सुवलयग्रीवावन्त:स्थौ तस्य पार्श्वयो:।।

भुजङ्गरज्जुभिर्बद्धा: सप्ताश्वा रश्मिसंयुता:।
पद्मस्थं वाहनस्थं वा पद्महस्तं प्रकल्पयेत्।।(२६१.१-८)

२. रूपमण्डन के अनुसार—

सर्वलक्षणसंयुक्तं सर्वाभरणभूषितम्।
द्विभुजञ्चैकवक्त्रञ्च श्वेतपङ्कजधृत्करम्।।

वर्तुलं तेजसो बिम्बं मध्यस्थं रक्तवाससम्।
आदित्यस्य त्विदं रूपं कुर्यात् पापप्रणाशनम्।।(२.१८-१९)

३. बृहत्संहिता के अनुसार—

नासाललटाजङ्घोरुगण्डवक्षांसि चोन्नतानि रवेः।
कुर्यादुदीच्यवेषं गूढं पादादुरो यावत्।।
बिभ्राणः खकररुहे बाहुभ्यां पङ्कजे मुकुटधारी।
कुण्डलभूषितवदनः प्रलम्बहारो वियद्गवृतः।।
कमलोदरद्युतिमुखः कञ्चुकगुप्तः स्मितप्रसन्नमुखः।
रत्नोज्ज्वलप्रभामण्डलश्च कर्तुः शुभकरोऽर्कः।।
(५८.४६-४८)

अग्नि-प्रतिमा (श्लोक १३६-१३८)

रूपमण्डन के अनुसार अग्नि की मूर्ति इस प्रकार है—

वरं वज्राङ्कुशौ चैव कुण्डीं धत्ते करैस्तु यः।
गजारूढः सहस्राक्ष इन्द्रः पूर्वदिशाधिपः।। (२.३१)

बृहत्संहिता के अनुसार—

शुक्लश्चतुर्विषाणो द्विपो महेन्द्रस्य वज्रपाणित्वम्।
तिर्यग्ललाटसंस्थं तृतीयमपि लोचनं चिह्नम्।। (५८.४२)

रूपमण्डन में अग्नि-प्रतिमा इस प्रकार वर्णित है—

वरदः शक्तिहस्तश्च समृणालकमण्डलुः।
ज्वालापुञ्जनिभो देवो मेषारूढो हुताशनः।। (२.३२)

यम-प्रतिमा (श्लोक १४४-१४८)

यम का वर्णन रूपमण्डन में इस प्रकार है—

लेखिनीपुस्तकं धत्ते कुक्कुटं दण्डमेव च।
महामहिषमारूढो यमः कृष्णाङ्ग ईरितः।। (२.३३)

शिल्परत्न (उत्तर २५ अ.) में यम का वर्णन विस्तार से किया गया है।

निर्ऋति-प्रतिमा (श्लोक १४९-१५०)

निर्ऋति का वर्णन रूपमण्डन में इस प्रकार है—

खड्गञ्च खेटकं हस्तैः कार्तिकां वैरिमस्तकम्।
दंष्ट्राकरालवदनः श्वानारूढश्च राक्षसः।। (२.३४)

शिल्परत्न (उत्तर.) के अनुसार—

निर्ऋतिस्तु महावीरो द्विभुजो रक्षसां पतिः।।
खड्गं दक्षिणहस्ते तु वामहस्ते तु खेटकम्।

प्रीतिहस्तधरो रौद्रः करालवदनान्वितः।
सर्वाभरणसंयुक्तो नानापुष्पैरलंकृतः।।
(२५.२८-२९)

वरुण-प्रतिमा (श्लोक १५१-१५२)

रूपमण्डन के अनुसार वरुण का रूप इस प्रकार है—

वरपाशोत्पलं कुण्डी हस्तैविभ्रत् क्रमाच्च यः।
नक्रारूढः स कर्तव्यो वरुणः पश्चिमाश्रितः।। (२.३५)

शिल्परत्न (उत्तर.) के अनुसारं—

वरुणः शुक्लवर्णस्तु द्विभुजः पाशहस्तकः।।
सर्वाभरणसंयुक्तः करण्डमकुटान्वितः।
पीतवस्त्रधरः शान्तो महाबलसमन्वितः।।
यज्ञसूत्रसमायुक्तो मकरस्थासनासनः।
(२५.३०-३२)

मरुत्प्रतिमा (श्लोक १५३)

रूपमण्डन के अनसार वायु इस प्रकार है—

वरं ध्वजपताकाञ्च कमडलुं वरैर्दधत्।
मृगारूढो हरिद्वर्णः पवनो वायुदिक्पतिः।। (२.३६)

शिल्परत्न (उत्तर.) के अनुसार—

कुञ्चितभ्रूयुतो वायुः शबलाम्बरभूषितः।।
नानाभरणसंयुक्तः केशाढ्यः सुविकीर्णकः।
सिंहासनोपरिष्टात्तु शीघ्रयात्रोत्सुकः स्थितः।।
(२५.३२-३३)

कुबेर-प्रतिमा (श्लोक १५४-१५६)

कुबेर की मूर्ति रूपमण्डन में इस प्रकार है—

गदानिधिबीजपूरकमण्डलुधरः करैः।
गजारूढः प्रकर्तव्यः सौम्यो यो नरवाहनः।। (२.३७)

चन्द्र-प्रतिमा (श्लोक १५७-१६०)

शिल्परत्न (उत्तर.) में चन्द्र का वर्णन इस प्रकार है—

प्रालेयामलमात्मदीधितिसुधासंक्रान्तलोकत्रयं
मुक्ताजालविराजिरूप्यविलसद्वेषान्तरालंकृतम् ।

भास्वत्कैरवचारुबाहुममलक्षौमावदातं परं
वन्दे सोममरालनीलविलसत्केशं मनोनन्दनम्।।

(अथवा)

विमलकमलसंस्थः सुप्रसन्नाननेन्दुर्वरदकुमुदहस्तश्चारुहारादिभूषः।
स्फटिकरजतवर्णो वाञ्छितप्राप्तये वो भवतु भवदभीष्टद्योतिताङ्कः शशाङ्कः।।

(२५.३४-३५)

ईशान-प्रतिमा (श्लोक १६१)

मत्स्यपुराण के अनुसार ईशान इस प्रकार हैं—

तथैवेशं प्रवक्ष्यामि धवलं धवलेक्षणम्।
त्रिशूरलपाणिनं देवं त्र्यक्षं वृषगतं प्रभुम्।। (२६१.२३)

रूपमण्डन के अनुसार—

वरं तथा त्रिशूलञ्च नागेन्द्रं बीजपूरकम्।
विभ्राणो वृषमारूढो ईशानो धवलद्युतिः।। (२.३८)

कामदेव-प्रतिमा (श्लोक १६२-१६६)

काम का स्वरूप शिल्परत्न में इस प्रकार वर्णित है—

अरुणमरुणवासोमाल्पदामाङ्गरागं
स्वकरकलितपाशं साङ्कुशास्त्रेक्षुचापम्।
मणिमयमकुटाद्यैर्दीप्तमाकल्पजालै-
ररुणनलिनसंस्थं चिन्तयेदङ्गयोनिम्।।

अपि च—

रक्ताम्भोरुहसंस्थितं करतले कोदण्डमिक्षूद्भवं
पुष्पास्त्रं वरदाभयो च दधतं रक्ताङ्गरागादिकम्।
वामाङ्कस्थितयोपगूढमनिशं रत्या च दत्तेक्षणं
तद्वक्त्राम्बुरुहे मनोहरतनुं वन्दे सदा मन्मथम्।।

(२५.८२-८३)

अश्विनीकुमार-प्रतिमा (श्लोक १६७-१७०)

अश्विनीकुमारों का वर्णन शिल्परत्न (उत्तर.) में इस प्रकार है—

एकसिंहासनासीनावश्विनावश्वरूपिणौ।
डाडिमीपुष्पसङ्काशावुभौ तौ सोपवीतकौ।।
फुल्लरक्तोत्पलाक्षौ च पीतस्त्रग्वस्त्रधारिणौ।
करद्वयसमायुक्तौ श्रीभूषणविभूषितौ।।

अभयं दक्षिणे हस्ते वरदं वामहस्तके।
लम्बितौ दक्षिणं पादं वाममुत्कुटिकासनौ।।
(२५.९१-९३)

एकादश रुद्र-प्रतिमा (श्लोक १७५-१७७)

एकादश रुद्रों का वर्णन शिल्परत्न (उत्तर.) में इस प्रकार है—

चतुर्भुजास्त्रिनेत्राश्च जटामुकुटमण्डिता:।
शुक्लवस्त्रधरा: सर्वे शुक्लवर्णा: प्रकीर्तिता:।।
अभयं परशु: सव्ये कृष्णश्च वरदोऽन्यत:।
(२५.१०१-१०२)

क्षेत्रपाल-प्रतिमा (श्लोक १७८-१८५)

शिल्परत्न (उत्तर., २५) में क्षेत्रपाल की प्रतिमा का वर्णन विस्तार से प्राप्त होता है।

सप्तर्षि-प्रतिमा (श्लोक १९२-१९३)

सप्तर्षियों का वर्णन शिल्परत्न (उत्तर.) में इस प्रकार है—

ऋषय: पीतवर्णास्तु नानावर्णाम्बरान्विता:।
वृद्धाश्च द्विभुजा: शान्ता जटामुकुटमण्डिता:।
बिन्दुका हृदयान्ताश्च यज्ञसूत्रसमन्विता:।।
भस्मनैव त्रिपुण्ड्राढ्या: स्थानका वासनास्तु वा।
दण्डं दक्षिणहस्ते तु च्छत्रं वामकरे धृता:।।
छत्रदण्डो विना वाथ सव्ये वै ज्ञानमुद्रिकाम्।
वामजानूपरिन्यस्तवामहस्तसमन्विता: ।।
(२५.९७-१००)

गरुड-प्रतिमा (श्लोक १९५-१९७)

शिल्परत्न (उत्तर.) के अनुसार गरुड का वर्णन इस प्रकार है—

आजानूत्तप्तहेमप्रभमथ.................हिमप्रख्यमानाभि साक्षा-
दाकण्ठात् कुङ्कुमाभं भ्रमरकुलसमश्यामलं मूर्ध्नि शान्तम्।
व्याप्तब्रह्माण्डगर्भं द्विभुजमभयदं पिङ्गनेत्रोग्रतारं
तार्क्ष्यं नीलाग्रनासाद्युतिविविधमहापक्षलक्ष्यं नमामि।। (२५.८९)

इसके अतिरिक्त गरुड का वर्णन रूपमण्डन (३.४६-४८), विष्णुधर्मोत्तर. (३.८५.४६) तथा मानसार (अ. ६१) में भी प्राप्त होता है।

शास्ता-प्रतिमा (श्लोक १९८-२१०)

शास्ता का वर्णन शिल्परत्न (उत्तर.) में इस प्रकार है—

स्निग्धारालविसारिकुन्तलभरं सिंहासनाध्यासितं
स्फूर्जत्पत्रसुक्लृप्तकुण्डलमथेष्विष्वासभृद्दोर्द्वयम् ।
नीलक्षौमवसं नवीनजलदश्यामं प्रभासत्यक-
स्फायत्पार्श्वयुगं सुरक्तसकलाकल्पं स्मरेदार्यकम्।।

(अथवा)

पार्श्वस्थापत्यदारं वटविटपितलन्यस्तसिंहासनस्थं
श्यामं कालाम्बराभं श्रितकरयुगलं ...... चिन्तामणिञ्च।
...... निस्त्रिंशबाणासनविशिखयुतं रक्तमाल्यानुलेपं
वन्दे शास्तारमीड्यं घनकुटिलबृहत्कुन्तलोदग्रमौलिम्।।

(२५.६८-६९)

सप्तमातृका (श्लोक २११-२३३)

रूपमण्डन (अ. ५.६३-७२) में सप्त मातृकाओं में ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी एवं चामुण्डा का वर्णन विस्तार से किया गया है। शिल्परत्न (उत्तर., २४.७६.८५) में भी सप्त-मातृकाओं का मूर्तन वर्णित है। मत्स्यपुराण (२६१.२४-३२) में भी सप्तमातृकायें वर्णित हैं।

लक्ष्मी-प्रतिमा (श्लोक २४७-२५५)

लक्ष्मी का वर्णन मत्स्यपुराण में इस प्रकार है—

श्रियं देवीं प्रवक्ष्यामि नवे वयसि संस्थिताम्।
सुयौवनां पीनगण्डां रक्तौष्ठीं कुञ्चितभ्रुवम्।।

पीनोन्नतस्तनतटां मणिकुण्डलधारिणीम्।
सुमण्डलं मुखं तस्याः शिरः सीमन्तभूषणम्।।

पद्मस्वस्तिकशङ्खैर्वा भूषितां कुन्तलालकैः।
कञ्चुकाबद्धगात्री च हारभूषौ पयोधरौ।।

नागहस्तोपमौ बाहू केयूरकटकोज्ज्वलौ।
पद्मं हस्ते प्रदातव्यं श्रीफलं दक्षिणे भुजे।।

मेखलाभरणं तद्वत् तप्तकाञ्चनसमप्रभाम्।
नानाभरणसम्पन्नां शोभनाम्बरधारिणीम्।।

पार्श्वे तस्याः स्त्रियः कार्याश्चामरव्यग्रपाणयः।
पद्मासनोपविष्टा तु पद्मसिंहासनस्थिता।।

करिभ्यां स्नाप्यमानासौ भृङ्गाराभ्यामनेकशः।
प्रक्षालयन्तौ करिणी भृङ्गराभ्यां तथापरौ।।
स्तूयमाना च लोकेशैस्तथा गन्धर्वगुह्यकैः।
(२६१.४०-४७)

रूपमण्डन में लक्ष्मी की मूर्ति इस प्रकार वर्णित है—

अष्टपत्राम्बुजस्योर्ध्वे लक्ष्मीः सिंहासने शुभे।
विनायकवदासीना सर्वाभरणभूषिता।।
ऊर्ध्वहस्तौ प्रकर्तव्यौ देव्याः पङ्कजधारिणौ।
वामेऽमृतघटं धत्ते दक्षिणे मातुलिङ्गकम्।।(५.५७-५८)

यक्षिणी-प्रतिमा (श्लोक २५६-२५७)

मत्स्यपुराण में यक्षिणी इस प्रकार वर्णित है—

तथैव यक्षिणी कार्या सिद्धासुरनिषेविता।।
पार्श्वयोः कलशौ तस्यास्तोरणे देवदानवाः।
नागाश्चैव तु कर्तव्याः खड्गखेटकधारिणः।।
अधस्तात् प्रकृतिस्तेषां नाभेरूर्ध्वं तु पौरुषी।
फणाश्च मूर्ध्नि कर्तव्या द्विजिह्वा बहवः समाः।।
(२६१.४७-४९)

कात्यायनी-प्रतिमा (श्लोक २५८-२६२)

कात्यायनी का वर्णन मत्स्यपुराण (२६०.५५-६३) तथा रूपमण्डन (५.४५-५०) में प्राप्त होता है।

दुर्गा-प्रतिमा (श्लोक २६३-२६४)

शिल्परत्न (उत्तर.) में दुर्गा का स्वरूप इस प्रकार है—

शङ्खारिचापशरभिन्नकरां त्रिनेत्रां
तिग्मेतरांशुकलया विलसत्किरीटाम्।
सिंहस्थितां ससुरसिद्धनतां च दुर्गां
दूर्वानिभां दुरितवर्गहरां नमामि।।

(अथवा)

दुर्गां ध्यायतु दुर्गतिप्रशमनीं दूर्वादलश्यामलां
चन्द्रार्धोज्ज्वलशेखरां त्रिनयनामापीतवासोवसम्।
चक्रांशङ्खमिषुं धनुश्च दधतीं कोदण्डबाणांशयो-
र्मुद्रे वाभयकामदे सकटिबन्धाभीष्टदां वानयोः।। (२४.१-२)

सरस्वती एवं ब्राह्मी-प्रतिमा (श्लोक २६५-२६७)

रूपमण्डन में सरस्वती एवं ब्राह्मी का वर्णन इस प्रकार है—

वराक्षाब्जं पुस्तकञ्च सरस्वती शुभावहा।।
हंसारूढा प्रकर्तव्या साक्षसूत्रकमण्डलुः।
स्रुवं च पुस्तकं धत्ते ऊर्ध्वहस्तद्वये शुभा।।(५.६२-६३)

भूमि-प्रतिमा (श्लोक २७४-२७५)

भूमि का वर्णन शिल्परत्न (उत्तर.) में इस प्रकार है—

मुख्याम्भोजे निविष्टारुणचरणतया श्यामलाङ्गी मनोज्ञा
चञ्चच्छाल्यग्रचुम्बच्छुकलसितकरप्रान्तनीलोत्पला च।
रक्ताकल्पाभिरामा मणिमयमकुटा चित्रवस्त्रा प्रसन्ना
दिश्याद् विश्वम्भरा वः सततमभिमतं वल्लभा कैटभारेः।। (२४.६८)

मातृगण-प्रतिमा (श्लोक २७९-२८०)

मातृगणों का स्वरूप बृहत्संहिता में इस प्रकार है—

मातृगणः कर्त्तव्यः स्वनामदेवानुरूपकृतचिह्नः। (५८.५६)

बुद्ध-प्रतिमा (श्लोक २८१-२८३)

बृहत्संहिता में बुद्ध की प्रतिमा इस प्रकार है—

पद्माङ्कितकरचरणः प्रसन्नमूर्तिः सुनीचकेशश्च।
पद्मासनोपविष्टः पितेव जगतो भवति बुद्धः।। (५८.४४)

जिन-प्रतिमा (श्लोक २८४-२८७)

जिन की प्रतिमा बृहत्संहिता में इस प्रकार है—

आजानुलम्बबाहुः श्रीवत्साङ्कः प्रशान्तमूर्तिश्च।
दिग्वासास्तरुणः रूपवांश्च कार्योऽर्हतां देवः।। (५८.४५)

प्रतिमा-प्रमाण (श्लोक २९२-३०९)

प्रतिमाओं का प्रमाण बृहत्संहिता (५८ अ.) शिल्परत्न (उत्तर. ४-१५), रूपमण्डन (अ.१), मत्स्यपुराण (अ. २५८-२५९) तथा अन्य ग्रन्थों में प्राप्त होता है।

इति मयमतं समाप्तम्

परिशिष्टम्

(कूपारम्भः)

नैर्ऋत्यां व्याधिपीडा स्याद् वारुण्यां पशुवर्धनम् ।
वायव्ये शत्रुनाशः स्यात् सौम्ये सर्वसुखप्रदम् ॥१॥
ईशाने पुष्टिलाभः स्याद् ग्रामादौ कूप उच्यते ॥२॥

कूपारम्भ—ग्राम आदि में यदि कूप नैर्ऋत्य कोण में हो तो व्याधि एवं पीड़ा, वारुण दिशा में पशु की वृद्धि, वायव्य कोण में शत्रु-नाश, उत्तर दिशा में सभी सुखों को प्रदान करने वाला तथा ईशान कोण में शत्रु का नाश करने वाला होता है। ऐसा कहा गया है।।१-२।।

चन्द्रगुप्तश्चाह—

रुद्र वारुणदिक्षुश्च क्षेत्रारामेषु शस्यते कूपः ॥३॥

चन्द्रगुप्त ने कहा है कि खेत एवं उद्यानों में ईशान तथा पश्चिम दिशा में कूप प्रशस्त होता है।।३।।

वराहमिहिरश्चाह—

आग्नेये यदि कोणे ग्रामस्य पुरस्य वा भवेत् कूपः ।
नित्यं स करोति भयं नाशं च समानुषं प्रायः ॥४॥
निर्ऋतिकोणे कूपो धनक्षयं स्त्रीक्षयं च वायव्ये ।
दिक्त्रयमेतत्त्यक्त्वा शेषासु शुभावहः कूपः ॥५॥

यदि ग्राम के या पुर के आग्नेय कोण में कूप हो तो वह सदा भय प्रदान करता है तथा मनुष्य का नाश करता है। नैर्ऋत्य कोण में कूप होने पर धन की हानि तथा वायव्य कोण में होने पर स्त्री की हानि होती है। इन तीनों दिशाओं को छोड़कर शेष दिशाओं में कूप शुभ होता है।।४-५।।

तिथिविधिमाह नृसिंहः—

चित्रादर्शास्तथा रिक्ता वर्ज्याः शेषाः शुभावहाः ।
शकुनादिनिविष्टं च विशेषेण विवर्जयेत् ॥६॥

शुक्रज्ञजीवचन्द्राणां वाऽथ वर्गोदयाः शुभाः ॥७॥

तिथि की विधि के विषय में नृसिंह ने इस प्रकार कहा है—चित्रा नक्षत्र, अमावस्या तिथि तथा रिक्ता तिथियाँ (चार, नौ, चौदह) छोड़कर शेष तिथियाँ शुभ होती हैं। शकुन (अपशकुन) होने पर विशेष रूप से छोड़ देना चाहिये। अथवा शुक्र, बुध, बृहस्पति एवं चन्द्र वर्गों का उदय शुभ होता है।।६-७।।

नक्षत्रविधिमाह—

मूलाग्नेयमघाश्लेषा विशाखा भरणी तथा।
अधोमुखास्त्रिपूर्वाख्याः कूपादिखनने शुभाः ॥८॥

रोहिण्यार्द्रा श्रविष्ठा च पुष्यवारुणवैष्णवाः।
ऊर्ध्वाननाः प्रशस्ताः स्युरुत्तरत्रयमेव च ॥९॥

प्रशस्तानि तुलादीनि वृद्धिकार्यादिषु क्रमात्।
वाजिभाच्चित्रभान्मूलात् पञ्चर्क्षन्तु विवृद्धिदम् ॥१०॥

सेतुकुल्यादिकार्येषु प्रशस्तमिति केचन।

नक्षत्र-विधि के विषय में कहा गया है कि कूप-खनन में अधोमुख ये नक्षत्र शुभ होते हैं—मूल, कृत्तिका, मघा, आश्लेषा, विशाखा, भरणी तथा तीनों पूर्वा (पूर्वाफाल्गुनी, पूर्वाषाढ़ा एवं पूर्वाभाद्रपद)। ऊर्ध्वमुख ये नक्षत्र प्रशस्त होते हैं—रोहिणी, आर्द्रा, श्रविष्ठा, पुष्य, शतभिषा, श्रवण तथा तीनों उत्तरा (उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढ़ा एवं उत्तराभाद्रपद)। तुला आदि राशियाँ क्रमशः वृद्धि-कार्यों आदि में प्रशस्त होती हैं। अश्विनी से प्रारम्भ कर पाँच नक्षत्र, चित्रा से प्रारम्भ कर पाँच नक्षत्र तथा मूल से प्रारम्भ कर पाँच नक्षत्र वृद्धि प्रदान करते हैं। कुछ विद्वानों के मतानुसार ये सभी सेतु, कुल्या (नहर) आदि कार्यों में प्रशस्त होते हैं।।८-१०।।

आप्यानिलाग्निवरुणचतुष्कं चावरोहणम् ॥११॥

वापीकूपतटाकादिखनने शुभदं भवेत् ॥१२॥

चार नक्षत्र—पूर्वाषाढ़ा, स्वाती, कृत्तिका एवं शतभिषा का अवरोहण काल (उतरता काल) वापी, कूप तथा तटाक (तालाब) आदि के खनन (खुदाई) में शुभ होते हैं।।११-१२।।

चन्द्रगुप्तः—

हस्तोत्तरा धनिष्ठा पित्र्यं वरुणेन्द्रमैत्ररोहिण्यः।
हरिमूलसार्पचित्राः तिष्यं खनने प्रशस्ताः स्युः ॥१३॥

चित्रगुप्त के मतानुसार हस्त, (तीनों) उत्तरा, धनिष्ठा, मघा, शतभिषा, ज्येष्ठा, रोहिणी, श्रवण, मूल, आश्लेषा, चित्रा तथा तिष्य नक्षत्र खुदाई के लिये प्रशस्त होते हैं।।१३।।

अथ कूपारम्भविधिरुच्यते—

पुष्टिं भूतिं पुत्रहानिं पुरन्ध्रीनाशं मृत्युं सम्पदं शस्त्रबाधाम्।
किञ्चित्सौख्यं दीक्षशर्वादि कुर्यात्कूपो मध्ये गेहमर्त्यक्षयञ्च ॥१४॥

कूपखनन के प्रारम्भ की विधि कही जा रही है—ईशान कोण से प्रारम्भ कूपखनन से पुष्टि, भूति (धन), पुत्रहानि, स्त्री-नाश, मृत्यु, सम्पदा, शस्त्र-बाधा तथा कुछ सुख प्राप्त होता है। गृह के मध्य में कूप मनुष्यों के लिये क्षयकारक होता है।।१४।।

तथाह देवरातः—

मध्यमे द्रव्यनाशं स्यादैन्द्रे सुखकरं भवेत्।
आग्नेय्यां पुत्रमरणं याम्ये सर्वविनाशनम् ॥१५॥

देवरात ने कहा है—(गृह के) मध्य में कूप धन-नाशकारक तथा पूर्व में सुखकारक होता है। आग्नेय कोण में होने पर पुत्र की मृत्यु तथा दक्षिण में होने पर सर्वस्व का विनाश होता है।।१५।।

व्याख्यात्मक टिप्पणी

कूपस्थान (श्लोक १-५)

दिशाओं के अनुसार कूप का फल अन्यत्र इस प्रकार प्राप्त होता है—

कूपे वास्तोर्मध्यदेशेऽर्थनाशस्त्वैशान्यादौ पुष्टिरैश्वर्यवृद्धिः।
सूनोर्नाशः स्त्रीविनाशो मृतिश्च सम्पत्पीडा शत्रुतः स्याच्च सौख्यम्।।
(बृहद्वास्तुमाला)

वास्तुप्रबोध के अनुसार—

ऐश्वर्यं पुत्रहानिश्च स्त्रीनाशो निधनं भवेत्।
सम्पच्छत्रुभयं सौख्यं पुष्टिः प्रागादितः क्रमात्।।
कूपे कृते मध्यमे तु धनहानिश्च वास्तुनः।
तस्मात् सम्यग्विचार्यैव कूपं कुर्याच्च बुद्धिमान्।।

कूपारम्भ-समय (श्लोक ६-१३)

कूपारम्भ की तिथि एवं नक्षत्र अन्य ग्रन्थों में इस प्रकार प्राप्त होते हैं—

हस्तात्तिस्रो वासवं वारुणञ्च मित्रं पित्रं त्रीणि चैवोत्तराणि।
प्राजापत्यं चापि नक्षत्रमाहुः.................................श्रेष्ठमाद्यैर्मुनीन्द्रैः।।

(वास्तुप्रबोध-श्लोक ५)

कूपारम्भे मासाः—

तपस्ये तपे मार्गशीर्षेऽपि ज्येष्ठे।
तथा कार्तिके माधवे पुण्यमासे।।

कूपारम्भे तिथयः—

तृतीयाष्टमी सप्तमी कामतिथ्यां दशम्यां हि तोयाशयारम्भश्रेष्ठम्।।

कूपारम्भे नक्षत्राणि—

पुष्ये हस्तेऽम्बपे तोयेऽनुराधे वासवे ध्रुवे।
पौष्णे मघायां च मृगे कूपारम्भः शुभः स्मृतः।।

कूपारम्भे वाराः—

चन्द्रे सोमसुते वारे तथा वाचस्पतेर्दिने।
कूपादेः खननं शस्तं क्रूरे शुक्रे न शोभनम्।।

कूपारम्भे लग्नानि—

सर्वेषु चैव लग्नेषु वदन्ति शुभदं बुधाः।
न वदन्ति शुभं सिंहे चालौ चैव धनर्धरे।।

(वास्तुमाणिक्यरत्नाकर-११-१५)

इति परिशिष्टं समाप्तम्

समाप्तोऽयं ग्रन्थः

卐

पारिभाषिक शब्दानुक्रमणी

अकल (३४.७२)—निष्कल, जिस देव-प्रतीक में अङ्गादि स्पष्ट न हों।

अक्षोत्तर (३१.२९, ३४.३८-३९, ४८.५५)—रथ की धुरी को सहारा देने वाली तिरछी लगी शहतीर।

अग्र (१७.९, १६-१७, ३३.१८)—प्रस्तर या काष्ठ का शीर्ष भाग।

'उपरिभागः..................शिरः शिखरं इत्यमरः' शब्दकल्पद्रुम, काण्ड-१।

अग्रपट्ट (३४.३६)—स्नेहवारि, स्नेहभार, पीठिका के ऊपरी भाग में लगा किनारा या बाढ़।

अग्रबन्धन (२९.१८७)—अस्तबल में लगे खूँटे का एक भाग।

अग्रहार (४.१९, २८.३६, ३०.१२१)—ग्राम का एक प्रकार। यहाँ प्रधान रूप से ब्राह्मण निवास करते हैं। कामिकागम (२०.३) में कहा भी है—

विप्रैर्विद्वद्भिराभोग्यं मङ्गलं चेति कीर्तितम्।
अग्रहारस्तदेवयुग् विप्रेन्द्राः कामिकागमे।।

तुलना—पी. के. आचार्य, एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर।

अङ्ग (१३.७,२१,२२ आदि)—संरचनाविशेष।

अङ्गक—मार्ग (९.५०), एक की संख्या (१३.९)।

अङ्गण—भीतरी प्राङ्गण (२५.४०, ६५, ६८, ७३ आदि), प्राङ्गण (२९.१२, २५, ३०-३१, १०३, ११० आदि), अश्व-गज आदि के प्रशिक्षण हेतु मैदान (२९. १२५)। **'प्राङ्गणम्'** शब्दकल्पद्रुम, काण्ड-१।

अङ्गणक (१०.७१)—नगर का एक भाग।

अङ्गुल (२३.११०-१२६)—अङ्गुल से लिया जाने वाला प्रमाण। **'अष्टयव-परिमाणम्'** शब्दकल्पद्रुम, काण्ड-१।

पी. के. आचार्य ने (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर में) इसका अर्थ इस प्रकार किया है—A finger; a finger breadth, a measure of about three-fourths of an inch, one of some equal parts, into which an architectural or sculptural object is divided for proportional measurement.

अङ्गुल-प्रमाण के विषय में अन्यत्र इस प्रकार प्राप्त होता है—

अष्टाभिः सप्तभिः षड्भिरङ्गुलानि यवोदरैः। (समराङ्गणसूत्रधार-९.४)
ज्येष्ठं चाष्टयवैः प्रोक्तं मध्यमं सप्तभिर्यवैः।
स्यात्कनिष्ठं षड्यवैस्तु चतुर्विंशतिभिः करैः।। (अपराजितपृच्छा-४१.९)
ज्येष्ठोऽष्टाभिरथोदरैस्तु मुनिभिर्मध्यस्तु षड्भिर्लघुः।
(राजवल्लभमण्डन-१.३४)

शिम्बिः साष्टतिलैर्यवोदरमिति प्राहुस्तदष्टोन्मितं
मात्राख्याङ्गुलमङ्गुलैरिनमितैः........................ (मनुष्यालयचन्द्रिका-३.१)

अङ्घ्रि—स्तम्भ, पाद (१२.१२, ८९, ११३-११४ आदि)। स्तम्भ के बराबर सतह (२०.५, ११, १२.८, २२.८, ५६, ५८)। सोपान-स्तम्भ (२१.८९)। खिड़की तथा विभाजक भित्ति का ऊर्ध्वाधर (१६.५६, ६४)। पी. के. आचार्य (एन इन्साक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—A foot, generally a small (dwarf) pillar constructed on a large one, or in the upper parts of a storey, and a pilaster, a turret.

इसे अङ्घ्रि तथा पाद के अतिरिक्त जङ्घा, चरण, स्थाली एवं स्तम्भ भी कहा जाता है—

जङ्घा च चरणं चैव स्थाली स्तम्भमङ्घ्रिकम् (वहीं पृष्ठ-११)

अट्टाल (१०.४५)—दुर्गयुक्त मीनार। '**अट्टवत् प्रासादगृहवत् अलति भवति।**.................**प्राकारादुपरितनमुन्नतस्थानम्**' (शब्दकल्पद्रुम, काण्ड-१)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार अट्टाल का अर्थ High lofty है।

अधिष्ठान (१.५, १२.३ आदि)—आधार, धरातल, पादुक, कुट्टिम, मसूर, वास्त्वाधार। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—Etymological (*adhi-sthā*, to stand) it denotes an object on which something stands. Hence it is the basement or the lowest member of a building. In the same, it implies the stand or base of the column, being the member between shaft and the pedestal, if there be any. Its identification with the base and the basement need not to be questioned. It is clear beyond doubt by a comparison of the component parts and the offices it serves with the corresponding details of the Grecian and Roman architecture.

विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में अधिष्ठान का प्रयोजन इस प्रकार कहा गया है—

औन्नत्यार्थं च रक्षार्थं शोभार्थं च बलार्थकम्।
एकहस्तं द्विहस्तं वा त्रिहस्तं वा विशेषतः।। (२७.३)

वहाँ आठ प्रकार के अधिष्ठान का वर्णन प्राप्त होता है—

मञ्चभद्रं बोधिभद्रं वाजिभद्रं च कौमुदम्।
बन्धस्वरूपमन्यच्च स्थापयेत्स्थपतिः क्रमात्।। (२७.७)

अधोगृह (३५.५०)—गर्भगृह।

अनर्पित (१४.२०, २१.६४-६५ आदि)—अलिन्द से युक्त भवन।

अनाच्छाद (२८.३४)—जिस भवन की छत न पड़ी हो।

अनु, अनुनासी (२१.१४)—छोटी सजावटी खिड़की।

अनुकर्म (३५.२,५९)—जीर्णोद्धार, पुनर्नवीनीकरण।

अनुकोटि (१८.३०)—मध्य में स्थित लुपा।

अनुमार्ग (१६.४०, ४३, ४५ आदि)—छोटी कड़ी।

अनुवंश (२५.२७)—लुपा, छोटी कड़ी। यह जयन्ती संज्ञक प्रकल्पन के ऊपर स्थापित होता है। तन्त्रसमुच्चय (२.४६) की व्याख्या के अनुसार—

न्यसेत् भारतुला रम्या जयन्तीश्चानुवंशतः।

अनूप (१४.१,४)—भूमि की आर्द्रता।

अन्तरप्रपा (२०.१०, १२-१३, १८, २२ आदि)—भवन के मध्य में स्थित वास्तु-मण्डप।

अन्तरप्रस्तर (२०.१०, १२-१३, १८ आदि)—कोष्ठ के नीचे एवं प्रस्तर-गल के ऊपर स्थित भाग, मध्यम मञ्च।

अन्तरापण (९.१००, १०.७७ आदि)—बाजार।

अन्तराल (१९.५-७, २१.२०, ३२ आदि)—गर्भगृह और मण्डप के मध्य ढँका हुआ मार्ग (१९.५-७ २१.२०, ३२, २५.६०)। गलियारा, भीतरी मार्ग (२५.८३, १००, १०५)।

अन्तरित (१३.१३-१४, १४.१३-१४ आदि)—खाँचा, नालीदार संरचना। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार इसका अर्थ इस प्रकार है—A fillet, a moulding of the pedestal, the base and also of the entablature. In base it is connected with another crowning moulding called *ālinga* and pedestal with *prativājana.* In its office and situation it would resemble a fillet. Its synonyms are—*vājana, kṣepaṇa vetra, paṭṭa, uttara, paṭṭikā, kampa, dṛkka* and *maṇḍa* etc.

अन्तर्मण्डल (२३.८, १०, १८ आदि)—भवन या देवालय का प्रथम प्राकार।

पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—The circular court in the interior of a compound.

अन्तर्हार (२३.५४, ५८ आदि)—देवालय का द्वितीय प्राकार।

अन्धार, अन्धारी (२१.४१, २२.९, १४, ३५, ४९ आदि)—पार्श्ववीथि, गलियारा।

अन्धारिका (२१.४१ आदि)—गलियारा की बाहरी भित्ति। पी. के. आचार्य ने 'एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर' में आन्धारिका शब्द का अर्थ—A closed verandaha, a balcony, a blind screen किया है।

कामिकागम (५०) में आन्धारिका, आन्धार, गृहपिण्डी तथा अलिन्द पर्यायवाची शब्द हैं।

अन्नगृह (२७.१३५)—अन्नालय, अन्नभण्डार।

अपक्वेष्टिका (२७.३३)—कच्ची ईंट।

अपच्छाया (६.११)—शङ्कु की मध्याह्न में पड़ने वाली छाया। A light shadow—पी. के आचार्य, एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर।

अब्ज (३६.२२८ आदि)—कमलपुष्प के आकृति की संरचना।

A moulding taking its name from its contour resembling that of a wave, being hollow in its upper part and swelling below. Of this moulding there are two sorts, the cyma recta, just described and cyma reversa wherein the upper part swells, whilst the lower is hollow—पी. के. आचार्य, एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर।

अब्जकपोत (३२.१३)—पद्म की संरचना से युक्त कंगूरा।

अरत्नि (५.८)—२४ अंगुल का माप, १ हाथ। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—

This word *(aratni)*, which primarily means 'elbow' occurs frequently from the Ṛgveda onwards...........as denoting a measure of length (ell or cubit), the distance from the elbow to the tip of the hand. The exact length nowhere appears from the early texts.

तुलनीय—मैकडोनल एवं कीथ—वैदिक इण्डेक्स-१, ३४।

अर्गला (१०.४१, ३०.३२, ९.३९ आदि)—द्वार को बन्द करने का दण्ड या कड़ी। कामिकागम (५५, ४९, ५२) के अनुसार—

अर्गलां दक्षिणे भागे वामभागे तु तल्पकम्।
कवाटयुग्मं कर्तव्यं कोकिलार्गलसंयुतम्।।

द्रष्टव्य—पी. के. आचार्य, एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर।

तन्त्रसमुच्चय (२.३२) की विमर्शिनी व्याख्या के अनुसार यह है—**'कवाटस्यान्त-र्भागस्थः कवाटस्य विवृत्तिनिरोधको यन्त्रविशेषः'**।

समराङ्गणसूत्रधार में इसे **'कलिका द्वारबन्धार्था या स्यात् तामर्गलां विदुः'** कहा गया है। अर्गला का विशद् वर्णन वास्तुविद्या (१४ अ.) में प्राप्त होता है।

अर्धगोमूत्र (सोपान) (२१.८८)—शिल्परत्न (पूर्व. २२ अ.) के अनुसार इसका लक्षण इस प्रकार है—

मूलादग्रं तु संक्षिप्तं क्रमाद्यच्छङ्कुमण्डलम्।
तद्द्विखण्डं च सोपानमर्धगोमूत्रसंज्ञकम्।।१०८।।

अलिन्द्र (२१.५३, ६५, २५.९२, १००-१०७)—वीथि, गलियारा, मुखमण्डप (पोर्टिको) बरामदा। सम्भवत: अन्य वास्तु-ग्रन्थों में वर्णित अलिन्द ही मयमत का अलिन्द्र है।

अश्वपाद (२१.८९-९०)—प्रारम्भिक सीढ़ी।

अष्टबन्ध (३४.६६)—आठ पदार्थों से निर्मित जोड़ने वाला गारा।

आकर्णलुपा (१८.३०)—मध्य में स्थित लुपा, अनुकोटि।

आणि (१७.४४)—खूँटी।

आद्यङ्ग (१४.४०, २५.९४ आदि)—अधिष्ठान।

आधार—सहारा देने वाला खण्ड (१७.८)। उपपीठ (२५.१२) स्तम्भ का निचला भाग (२६.१९७) पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्कि-टेक्चर) के अनुसार आधार शब्द का अर्थ जगती या कुर्सी (The basement, the plinth) है। हेमचन्द्र की अभिधानचिन्तामणि (१०११ पृष्ठ) में 'वलभी छदिराधारा:' कहा गया है।

आधेय (१७.८, १८.२१)—सहायक भाग।

आभास—मन्दिर का प्रकार (२२.८८), मण्डप का प्रकार (२५.१.७०), गृह का प्रकार (२६.४३), लिङ्ग के प्रस्तर काटने की एक विधि (३३.३६), सभागार का एक भेद (२५.२२८)। एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर (पी. के. आचार्य) में आभास शब्द की व्याख्या इस प्रकार प्राप्त होती है—A class of buildings, pavilions, doors, etc. One of the nine materials of which idols are made, sand glass, lacquer, a marble, bas relief, painting.

आमलक (१५.१११, १८.१६)—मन्दिर में प्रयुक्त आमलक की आकृति, उसके शिखरभाग पर निर्मित आकृति। पी. के. आचार्य के अनुसार यह प्रस्तरनिर्मित गोल आकृति है, जो शिखर के कलश को सहारा देने के लिये निर्मित की जाती है—A massive circular stone supporting a vase known as *kalaśa.* It figures as the crowning member of *śikhara* (tower), as the crown of the stimulated roofs, and as the cushion-shape portion of the capital of massive columns (of Aśoka and elephant). In *śikhara* it has a structural purpose to serve, while in other places it is a mere ornament.

आयादि (९.१८-२४, २६.२०६-२११ आदि)—इसके अन्तर्गत षड्वर्ग आय, व्यय, ऋक्षा, तिथि, योनि, वार आदि का ग्रहण किया जाता है।

आयुधमण्डप (२३.८५, २७.१०५)—धार्मिक कृत्यों के सम्पादन का स्थान, आयुध रखने का स्थान।

आराम (२९.६४, ६७, १०६)—साधु का आश्रम। इसके अतिरिक्त यह विश्राम तथा आमोद-प्रमोद हेतु निर्मित उद्यान के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—A pleasure garden, a garden house, an orchard. A Buddhist convent *(vihāra),* rest house for quiet people built not too for from the town and not too near, convenient for going and for coming, easily accessible for all who wish to visit him, by day not too crowded, by night not exposed to too much noise and alarm. The whole compound is enclosed with ramparts of three kinds, namely, brick walls, stone walls and wooden fences, which are again surrounded with bamboo fences, thorn fences and ditches.

आलान (२९.१७७)—गजशाला का स्तम्भ। **'गजबन्धनस्तम्भः' इत्यमरः। 'गजबन्धनरज्जुः' इति नीलकण्ठः। ....बन्धनम्—इति रायमुकुटः। रज्जुः इति मेदिनी**—शब्दकल्पद्रुम-१।

आलिङ्ग (१३.१३-१४, १४.१३-१४ आदि)—घुमाव। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—A moulding like the fillet, but with greater projection. It is a flat moulding placed alternately together with the *āntarita* and is inseparably connected with the latter.

The ninth moulding from the top of the entablature

(Kāmikāgama LIV, 2).

A crowning moulding of the pedestal and the base.

A similar moulding of a throne.

आवन्तिक—छत का एक प्रकार (१८.१०, १३)। चार तलों के मन्दिर का एक प्रकार (२२.४८)।

आवरण (२३.७०, २४.१४ आदि)—मन्दिर, राजभवन एवं भवनों की चार-दीवारी। '**फलकं—इति हेमचन्द्रः। ......आच्छादनम्**' (शब्दकल्पद्रुम-१)।

आवृत्तमण्डप (२३.२६, २५.७८)—भवन के चारो ओर घेरने वाला मण्डप, गलियारा। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) ने इस शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है—An open pavilion surrounding a building.

कामिकागम (३५.९७-१००) में आवृत्तमण्डप का वर्णन प्राप्त होता है। सुप्रभेदागम (३१.१३७) में आवृत्तमण्डप का उल्लेख इस प्रकार प्राप्त होता है—

प्राकारभित्तिमाश्रित्य कुर्यादावृत्तमण्डपम्।

आसन—बैठने का उपकरण (२९.१९३), आयताकार चौकी, पादाधार (३२.११, ३४.१२, ७४.३) शतपदवास्तु (७.३, १०, ९.५५) लुपा निर्माण के लिये खींची गयी रेखायें (१८.२३, २५) शब्दकल्पद्रुम-१ के अनुसार—'**उपवेशनाधारः। पीठादि**'।

पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार आसन शब्द का अर्थ भवन का एक प्रकार, बैठने का साधन, राजसिंहासन, शयन, खाँचा, वास्तु-क्षेत्र, देवालय तथा बैठने की मुद्रा है—A class of buildings, a seat, a throne, a bed stead, a moulding, a site plan, a temple, a type of dwellings, a sitting posture.

आसनफलक (३२.१६)—पीढ़ा।

आस्थानमण्डप (२५.५, ७४, २७.१२३)—सभागार, स्वागतकक्ष। '**सभा। इत्यमरः। यथा किराते १.१६ अनेकराजन्यरथाश्वसंकुलम्। तदीयमास्थाननिकेतनाजिरम्**'। (शब्दकल्पद्रुम-१)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार भी उपर्युक्त मत की पुष्टि की गई है—An assembly room, an audience hall, a sitting room, a drawing room, a recreation ground with a pavilion in it.

ईक्षणशाला (२९.५०)—स्वागत कक्ष।

ईशकान्त, ईश्वरकान्त—९६१ पद वास्तु (७.७, २०, २३.५), दो तल के मन्दिर का एक प्रकार (२०.८.३), एक प्रकार का मण्डप (२५.१०, १५९)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार ईशकान्त

११ तल के भवन का एक प्रकार तथा ईश्वरकान्त एक प्रकार की वास्तु-योजना। पी. के. आचार्य ने उपर्युक्त मत की पुष्टि इस प्रकार की है—*Īśa-kānta:* A class of the elevenstoreyed buildings.

Īśvara-kānta: A site plan, a class of buildings.

ईषिका, इषिका (३१.९, १२, ३२.२, ३)—काष्ठनिर्मित फ्रेम।

उग्रपीठ (७.२, ९, २३.४२)—३६ पद वास्तुमण्डल। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) ने भी यह माना है—A site plan in which the whole area is divided into 36 equal squares.

उत्तर—प्रस्तरपाद (१५.९-११, ६१, १६.१, २, ४, १२ आदि)। द्वार या खिड़की के ऊपर लगी पट्टी। भरेठा (= लिन्टल २४.७९, ३०.१२)। भित्ति के ऊपर लगी पट्टी (२३.२३-२४)। भवन के शीर्ष भाग में विशेष निर्माण उत्तरकम्प (१३.१०, १३, १६)। अक्षोत्तर (३१.३६, ५१)। आसन का पिछला भाग (३२. १७-१८)। पी.के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) ने इस पद की व्याख्या इस प्रकार की है—A rectangular moulding, a fillet. It is used sometimes to signify the whole architrave or the beam, i.e. the lowest division of the entablature, which extends from column to column, also applied to the moulded frame which bounds the sides and head of a door or window opening. It also denotes a particular member of the pedestal and entablature and resembles the corona or the square projection of the upper part of the cornice, having a broad and vertical face generally plain. (Rāma Rāza, Ess. Arch. Hind).

मानसार (१६.२८, २९) में इसका वर्णन प्रस्तर, पीठिका एवं स्तम्भ के ऊर्ध्व भाग की संरचना के रूप में किया गया है। वहाँ इसके पर्याय इस प्रकार वर्णित हैं—

उत्तरं वाजनमाधारमाधेयं शयनं तथा।।
उद्धृतं च मूर्धकं चैव महातौलि स्ववंशकम्।
प्रच्छादनस्य चाधारमेतत्पर्यायमीरितम्।।

उत्तर का वर्णन अन्य वास्तुग्रन्थों (तन्त्रसमुच्चय-२.४४, मनुष्यालयचन्द्रिका-५ अ., ईशानशिवगुरुदेवपद्धति, क्रियापाद) आदि में भी प्राप्त होता है।

उत्तरमण्डन (२०.३८)—प्रस्तरपाद।

उत्पल (१२.६, ६६, १४.३)—कमलपुष्प की आकृति का निर्माण।

उत्सन्धि (१५.३६, २१.७६, ८५)—मण्डी के निर्माण में ऊपरी जोड़।

उपधान (३१.३७)—सहारा देने के लिये प्रयुक्त शहतीर।

उपपीठ (१३.१, ७-२१, १४.१० आदि)—भवन, वेदी, आसन एवं पाद आदि का आधार। पी. के. आचार्य ने (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) इस शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—The pedestal, the upper pedestal, the outer surface, a site-plan. The pedestal is the lowest division in an order of columns, called also stylobates and stereobates. It consists of three principal parts—the die, the cornice and the base.

एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर में ही रामराज का मत भी निम्नवत् उद्धृत है—The pedestal is not only placed under the base of a column or pilaster, but frequently employed, both singly and together with the latter, as a pavement for temples and porticoes, over cornices of edifices consisting of several storeys in height, and also as a platform for thrones, and as a seats for statues.

उपसञ्चित (२०.३२-३३)—भवन का एक भेद।

उपान (१४.१७, २३, ३५ आदि)—भवन की कुरसी। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—A rectangular moulding, a fillet, it corresponds, in the import of the term and the purpose to which it is applied, to the plinth or the lower square member of the base of a column or the projecting base of any moulding. (Rāma Rāza., Ess. Arch. Hind.).

वास्तुविद्या (९.१) में 'उपानह' पद का प्रयोग उपान अर्थ में किया गया है। इसे जन्म, पादुक, वप्र आदि भी कहते हैं।

उष्णीष—लुपा पर निर्मित रेखा (१८.२३, २५-२६, ३२, ५२)।

शिवलिङ्ग का शीर्षभाग (३३.१४३)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) ने इसे भवन का शीर्ष भाग तथा बुद्ध की प्रतिमा के शीर्ष भाग की ग्रन्थि कहा है—The top of a building, a diadem, a crownet, the top knot on the Buddha's head.

मानसार में इसका भवन के शीर्षभाग (१८ अ.), बुद्ध की मूर्ति के शीर्ष भाग की ग्रन्थि (५६ अ.), भक्त की मूर्ति का अलंकरण या पगड़ी (५७ अ.) के रूप में वर्णन प्राप्त होता है। डॉ. बर्गीस के अनुसार—The word *uṣṇīṣa* usually means a turban, but it is used by the Buddhists as a technical term for the top knot on Buddha's head, by which all figures of

him are distinguished 'he is never represented in Indian sculpture with any sort of covering on his head' (An Encyclopaedia of Hindu Architecture).

ऊर्ध्वकूट (२५.४०, ६२ आदि)—भवन के ऊर्ध्व भाग में चौकोर लालटेन के समान आकृति।

ऊर्ध्वकोष्ठ (२५.८८, ९७ आदि)—भीतरी कक्ष या सभागार के ऊपर निर्मित आयताकार लालटेन के समान आकृति।

कचग्रह (२५.२३२)—सभागार एवं भवन का अलंकरणविशेष।

कण्ठ (१३.१०,१३,१५-१६ आदि)—स्तम्भ, वेदी, पीठ आदि का एक भाग। इसे कन्धर, गल एवं ग्रीवा भी कहा गया है। **'ग्रीवापुरोभागः। तत्पर्यायः। गलः। इत्यमरः २.६.८८'**—शब्दकल्पद्रुम-२।

कपोत—छज्जा (१३.११, १३, १४.११, ३१, ३६ आदि)। प्रस्तर (२०.३३, २४.४१-४२, ४८, ५२, ५८)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) ने इसे इस प्रकार व्याख्यायित किया है—A pigeon, a section of a circular moulding made in the form of a pigeon's head, from which it takes it name. It is a crowning of base, pedestals and entablatures...........When employed in the entablature, it serves the purpose of a spout in the shape of a pigeon's beak to throw off water falling on the cornice. In this office it resembles, in some measure, the corona having a broad vertical face and with its soffit or underportion recessed so as to form a drip which prevents water running down the buildings. Its synonyms are—*vaktra-hasta* (face supported by hand, wherefrom it takes its shape) *lūpā* (pent-roof) *gopānaka* (beam) and *candra* (the moon).

रामराज ने कपोत की व्याख्या इस प्रकार की है—A *kapotam* is a section of moulding made in the form of a pigeon's head. It is a crowning member of cornices, pedestals and entablatures. When employed in the latter, it often connects utility with beauty, in as much as the beak of the bird is so placed as to serve the purpose of a spout (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)।

कपोतबन्ध (१४.३६)—अधिष्ठान का एक प्रकार।

कपोल (१८.७४)—भवन के छत का एक अंग। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लो-

पीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार कपोल—The cheek of an image, an upper part of a building है। मत्स्यपुराण में कपोल का वर्णन इस प्रकार प्राप्त होता है—

प्रासादान्निर्गतौ कार्यौ कपोलौ गर्भमानतः।। (२६८.११)
चतुर्धा शिखरं भज्य अर्धभागद्वयस्य तु।
शुकनासं प्रकुर्वीत तृतीये वेदिका मता।।
कण्ठमामलसारं तु चतुर्थे परिकल्पयेत्।
कपोलयोस्तु संहारो द्विगुणोऽत्र विधीयते।। (२६८.१८-१९)

कभित्ति (२६.२८, १५५, १६२, २७.६४, ९५)—यह भित्ति स्वामीवास एवं रंग के मध्य विभाजन करती है। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) ने खभित्ति पाठ मानते हुये इसे ऊपरी भित्ति कहा है—

K(h)a-bhitti—An upper storey-wall, an upper wall *kha* implying sky and *bhitti* wall.

कमल (३६.१२७, १४.२५, ३७ आदि)—कमलपुष्प के आकार की संरचना। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—A lotus, a class of six storeyed buildings.

कम्प—पट्टी (१३.७, १०, १६, १७ आदि)। खिड़की आदि के ऊपर शहतीर (१६.५६, १८.७८ आदि)। छोटी लुपा (१६.५,४)। स्तम्भ (१५.२)। पी. के. आचार्य ने अपने ग्रन्थ (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) में रामराज का मत भी उल्लिखित किया है—A fillet, a small flat band which occurs chiefly between moulding to connect or seperate them. 'Of all the rectangular mouldings it has the least height. Its projection, though generally equal to its altitude, frequently varies according to the position of the principal members, which it is employed, to connect or to separate. It answers in every respect to the fillet.

पीठिका के रूप में (१३ अ.), उपपीठ (अ. १४) एवं अधिष्ठान के रूप में कम्प शब्द का प्रयोग मानसार में प्राप्त होता है।

कम्पद्वार (२६.१३२)—स्तम्भ पर निर्मित द्वार। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) ने इसका अर्थ पार्श्वद्वार अथवा व्यक्तिगत प्रवेश द्वार किया है—A side door, a private entrance.

कराल (१६.४२, १८.९२, ९५ आदि)—विशेष प्रकार का गारा-मसाला। **'सर्जरसयुक्ततैलम्। इति मेदिनी'**—शब्दकल्पद्रुम, काण्ड-२, शिल्परत्न (पूर्व, १४

अ.) के अनुसार कराल गारा इस प्रकार तैयार किया जाता है—

अभयाक्षबीजमात्राः शर्करा सार्धचूर्णिताः।

ताः स्युः करालका .... ।। (५९.६०)

कर्कट (१६.३५)—प्रति का एक प्रकार। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) ने इसका अर्थ—A crab, a moulding, a kind of joinery resembling the crab's leg किया है।

कर्ण (१७.१९, २१)—जोड़ के पास बाहर निकला एक निर्मिति प्रकार। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) ने कर्ण शब्द का अर्थ—The ear of an image, a moulding, any side object, a corner-tower किया है।

कर्णकूट—भवन आदि के कोनों पर निर्मित चौकोर संरचना (१९.३१, ३३), कोनों पर निर्मित बाहरी चौकोर संरचना (२६.१२३, १२५, १४३)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) ने इसका अर्थ—The tower at the corner of the roof, the side-niches, corner pavilions, the attic किया है।

कर्णधार (२५.२१८, २९.१८४)—सभागार आदि में काष्ठ की संरचना।

कर्णपाद (१५.८९, ९३)—कोने का स्तम्भ।

कर्णपालिका (१६.१९)—छज्जे के कोने पर निर्मित अलंकरण-परक संरचना।

कर्णरश्मि, कर्णलुपा (२५.२०३, १८.५७-५८ आदि)—कोने में निर्मित लुपा।

कर्णिका—वेदी के शीर्ष भाग की संरचना (२३.७९-८०) प्रस्तर की आभरण-आकृति (१६.२५, १८.७३)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) ने कर्णिका का अर्थ इस प्रकार किया है—Generally implies a crowning projection and resembles the cornice, i.e., the crowning or upper portion of the entablature, a creeper-like ornament.

कर्ममण्डप (१५.१०३, ३३.५२, ८२)—जहाँ भवनसम्बन्धी काष्ठ आदि के कार्य होते हैं।

कलश—कलश के आकृति की संरचना (१५.३०)। अधिष्ठान का एक प्रकार (१४.३७)। कलश शब्द का अर्थ पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) ने इस प्रकार किया है—A pitcher, a cupola, a finial, a dome, a pinnacle, a tower, a type of round buildings.

कलश का उल्लेख कई अभिलेखों में प्राप्त होता है।

कलिङ्ग (१८.१३)—लुपा का एक प्रकार।

कल्क (१६.४२, १८.९२ आदि)—एक प्रकार का गारा। '**यस्य कस्यचित् वस्तुनो चूर्णम्**'—शब्दकल्पद्रुम-२। शिल्परत्न (पूर्व. १४) के अनुसार कराल एवं मुद्गी संज्ञक गारा में बालू एवं चने का चूर्ण मिलाने से कल्क, गारा या सुधा तैयार होता है—

करालमुद्गयोः पूर्वोक्तमानेन सिकतान्वितम्।
चणकस्य च चूर्णस्य यत् पिष्टं कल्कमिष्यते।। (६२)

पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार कल्क को प्लास्टर या सीमेन्ट के समकक्ष रखा गया है—A paste used as a plaster or cement, also called *yoga* (mixture).

कल्याण (२०.१९, ३०.११६)—दो तल के मन्दिर का भेद, ४ तल के गोपुर का एक प्रकार।

कल्याणमण्डप (२५.३९)—विवाहमण्डप। पी. के. आचार्य ने भी इसे Wedding pavilion कहा है। विश्वकर्मवास्तुशास्त्र (४६, ४७ अ.) में कल्याणशाला का विशद वर्णन प्राप्त होता है।

कान्तविजय—द्वारशोभा। गोपुर का एक भेद (२४.३१, ९१.२), दो तल के गोपुर का एक प्रकार (३०.७३)।

कामासन (३६.२३९)—मुद्राविशेष।

काय (२६.८०)—लुपा।

कायपाद (१६.१६)—लुपा का पाद, टेक।

कायभार (२७.११०, १२०)—वैश्यों के आवास का एक प्रकार।

कील—काष्ठनिर्मित कील, खूँटी (१७.४१, ४४-४५ आदि), स्तूपीकालिका (१८.१२५-१२६), इन्द्रकील (३१.२४), योजक स्तम्भ (२९.१८६)। '**कील्यते रुध्यतेऽसौ अनेनात्र वा शङ्कुः**'—शब्दकल्पद्रुम-२। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) ने इसे A stake, pin, nail, wedge, post कहा है। वास्तुविद्या में कील का प्रमाण इस प्रकार वर्णित है—

कीलं च पादविष्कम्भवस्वेकांशं च योजयेत्।
सप्तांशमथवर्त्वंशं बहलं तु तदर्धतः।। (८.४३)

कुक्षि (१६.२७)—ताक या आला का सँकरा भाग। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—The belly, a cavity, the middle part, the interior, the hub of the wheel.

कुञ्जराक्ष (१६.५६, ५८)—विशेष प्रकार की खिड़की। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—A window resem-

bling the elephant's eye in design.

कुटिक (९.३१)—ग्राम का एक प्रकार। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) ने एक व्यक्ति के अधिकार के ग्राम को कुटिक कहा है—A village under one headman.

एको ग्रामणिको यत्र सभृत्यपरिचारकः।
कुटिकं तद्विजानीयादेकभोगः स एव तु।। (कामिकागम-२०.४)

कुटिकमुखदण्डक (१०.५७)—नगर का एक भेद।

कुटुम्बावनि (९.३५)—एक परिवार की ग्रामादि में आवास-भूमि।

कुट्टिम—अधिष्ठान (१४.४०, २२.५६, ६०, २४.१०७)। छोटा मार्ग (९.३८, १०.५५-६८), '**सुधाघटितभूतलम्**'—शब्दकल्पद्रुम-२। '**कुट्टिमोऽस्त्री निबद्धा भूः**'—अमरकोश (३.५.३४) पर व्याख्या। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लो-पीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) ने इसका अर्थ करते हुये लिखा है—A floor, a base, a wall, a pavement, an entablature, a cottage, a small house, the ground prepared for the site of a building, a paved ground. It is also used as a synonym of *prastara* or entablature.

मानसार ग्रन्थ में इसके उदाहरण प्राप्त होते हैं। वास्तुविद्या (अ. ९) में अधिष्ठान का वर्णन विस्तार से प्राप्त होता है।

कुठारिका (१८.४२, ८०)—मण्डप की छत।

कुड्मल (१९.१७, ३१.५८)—स्तूपिका के ऊपर निर्मित कली की आकृति।

कुड्य (१४.१० आदि)—भित्ति। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) ने भित्ति के अतिरिक्त इसका अर्थ प्लास्टर या लेप भी किया है—A wall, plastering। वास्तुविद्या (अ. १५) में कुड्य के निर्माण एवं माप आदि के विषय में विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है।

कुड्यस्तम्भ (१५.७, २५.१९१)—भित्ति-स्तम्भ। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लो-पीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—The column of the wall, thus the pilaster or a square pillar projecting from the wall.

कुबेरकान्त (३०.३०)—दो तल वाले मन्दिर का एक प्रकार।

कुम्भ (१५.१३ आदि)—शीर्ष भाग पर निर्मित कुम्भ की आकृति। पी. के. आचार्य ने (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) इसका अर्थ इस प्रकार किया है—A pitcher, the capitlal, a moulding, the cupola, a plinth.

कुम्भलता (२०.८, २१.८१ आदि)—कुम्भ से निकलती लता। यह भवन का अलंकरण है। शिल्परत्न (पूर्व. २८ अ.) में कुम्भलता के निर्माण के विषय में विस्तार से वर्णन किया गया है।

कुल्याभद्वार (२६.२९, ७५, १०४ आदि)—मेहराबदार द्वार।

कुल्या विमान (२९.२२७)—तलघर।

कूट (१८.७८, १९.३१, ३३, ४९ आदि)—भवन, सभागार के छतों, प्रस्तर या कोनों पर निर्मित चौकोर आकृति। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) ने कूट का अर्थ—The peak or summit, head, top of a building किया है। कूट का वर्णन अन्य वास्तु-ग्रन्थों में भी प्राप्त होता है—

१. **धाम्नोऽष्टांशमितोऽथवा प्रतिमुखैः स्तूप्यन्तिमैः संयुतः**
प्रासादाकृतिकश्च कूट उदितो मध्यस्फुरन्नासिकः।
शाला तत्समसूत्रगा मुखपटीशक्तिध्वजाद्युज्ज्वला
स्तूपीत्रय्युपशोभिता परिलसन्नासा च सङ्कीर्तिता।।

(तन्त्रसमुच्चय-२.४०)

२. **धुर्धूरप्रसवोपमोऽष्टनृपकोणो वा तथा वर्तुलः**
सम्फुल्लाब्जयुतोऽथवाथ गुलिकारूपः स्वमध्यादधः।
विस्तारद्विगुणायतस्तदुरगाद्यंशोनदीर्घोऽथवा
कूटोऽब्ध्यादियवोत्थपत्रविलसन्मध्यप्रदेशो भवेत्।।

(मनुष्यालयचन्द्रिका-६.१०)

३. **यावत्यो विकृतिलुपास्तावन्त्यस्त्राणि कूटस्य।।**
वृत्तं वापि समस्तं तक्षणकुशलैस्तु कारयेन्मतिमान्।
व्यासार्धाधिकदीर्घं पादोनाक्षं तथैव नेत्रं वा।।
धूर्धुरप्रसवाभं कूटं कुर्यादधोमूलम्। (वास्तुविद्या-१२.२६-२७)

कूटगृह, कूटागार (२९.१४२, १९०, १९२)—मञ्च या व्याख्यानपीठ। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—A small room at the top of a building. Window-chambers (W. Gregeer, Mahāvaṁśa,).

केशविशालक (२४.३३, १११)—द्वारप्रासाद, गोपुर का एक भेद।

कैरव (१४.२९, ३१, १९.२३)—पद्म के आकार की संरचना।

कोमल (३०.११६)—चार तल के गोपुर का एक भेद।

कोल्लक (१८.१४)—लुपा का एक भेद।

कोष्ठ—प्रस्तर पर निर्मित आयताकार संरचना (१८.७८, १९.३३, २०.३, ६, ९, १२, १५ आदि) गृहों के बाहरी भाग में निर्मित आयताकार संरचना (२६.११४, १४२, २०१ आदि), भीतरी आँगन अथवा बड़े कक्ष के ऊपर निर्मित आयताकार लालटेन के आकृति की छत (२५.२०३), भवन का प्रधान कक्ष (२६.१७८-१७९), डिब्बे के आकार की छत (३०.७०, ९०)। शब्दकल्पद्रुम (खण्ड-२) में इसका

अर्थ '**प्राकारः**' किया गया है। भागवत पुराण (४.२८.५६) में '**पञ्चारामं नवद्वार-मेकपालं त्रिकोष्ठकम्**' वर्णन प्राप्त होता है; जिसका अर्थ तीन प्राकार है—**अत्र टीकाचूर्णी त्रिकोष्ठकं त्रिप्राकारमित्याह** (शब्दकल्पद्रुम-२)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—A store room, a granary, a chamber, a wall, the mezzanine room.

शिल्परत्न (पूर्व. २५ अ.) में कोष्ठ की चर्चा प्राप्त होती है।

कौशिक—लुपा का प्रकार (१८.१३), मण्डप का प्रकार (२५.७, ८४)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) ने इसे मण्डप का एक भेद A type of pavilion माना है।

कौशल (१८.१०)—छत का एक प्रकार।

क्रकरकोष्ठ (२४.१२८)—छत का विशेष प्रकार।

क्रकरभद्र (२५.१७१)—मण्डप का एक प्रकार।

क्रकरवंश (२६.४१, ७७)—एक के ऊपर एक कर (क्रास करते हुये) रक्खे गये शहतीर।

क्षुद्रपट्टिका (३१.१०)—पट्टिका।

क्षेपण—द्वार अथवा भित्ति पर निर्मित बाहर की ओर निकली संरचना (१३.७, १०, २३, २४, ३०.२६ आदि)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) ने इसके विषय में विस्तार से लिखा है—Projection. A drip-moulding, the door frame, a moulding above the plinth in pedestal, generally placed between a dado and cyma, a fillet and cyma, or a petal and fillet. Etymologically it would indicate a moulding like a spout to throw off water, and in this office it would resemble the corona *(kapota)*, i.e. the square projection having broad vertical face and the soffit or under portion recessed so as to form a drip which prevents water from running down the building. In bases it would resemble a cornice which is used as the term for any crowning projection. In this sense, it is also found in the western architecture.

क्षेपणस्तम्भ (१५.२७)—स्तम्भ का एक प्रकार।

क्षमा (११.१९, १५.३ आदि)—तल।

खण्डोत्तर (१६.३)—उत्तरपट्टिका का एक भेद। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार यह प्रस्तर का एक प्रकार है—A kind of entablature *(prastara)*.

पादविस्तारविस्तारं समोदयसमन्वितम्।
खण्डोत्तरमिति ज्ञेयं पादेनोत्सेधसंयुतम्।। (कामिका.-५६.५)

इस फलक की चौड़ाई स्तम्भ की चौड़ाई के बराबर होती है एवं ऊँचाई चौड़ाई के बराबर होती है—

खण्डोत्तरं चरणविस्तृतितुल्यविस्तारोत्सेधमुत्तममतश्चरणोनतीव्रम्।
(तन्त्रसमुच्चय-२.४४)

खर्वट (४.१९, ९.१०, १३, १२२ आदि)—एक विशेष योजना। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) ने इसे ग्राम एवं दुर्ग माना है—A village, a fort, a fortified city.

खलूरिका (२३.७०, २६.२१२-२१३ आदि)—गृह के चारो ओर निर्मित संरचना। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) ने इस पर अन्य विद्वानों का मत प्रस्तुत किया है—W. B. Platz (Pet. Dict.) a parade, a place for military excercise (M. Williams, Dict.) a parlour, a reception hall or a drawing-room round a house, an enclosure-building round a house, village, city or fort.

खातपाद (२४.३०)—गड्ढे में गड़ा स्तम्भ।

खुर (१४.३१, ३७, ३४.२५)—दीवाल की कुर्सी।

गगर (१८.७२-७३, १४५)—छत पर काष्ठनिर्मित विशेष रचना।

गति (३५.१०)—मन्दिर का प्राङ्गण।

गर्भ—शिलान्यास (१.५, ६.२१, ९.१०१-११६ आदि), गर्भगृह (२३.३५, १०९ आदि), मण्डप का एक भेद (२५.७, १०३)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—The womb, the foundation, the adytum, the chamber in a temple where the deity is placed, halls of various shapes and sizes used for various purpose. Compare *Nalikā garbha* (rectangular halls), *Śibikā-garbha* (square halls), and *Harmya garbha* (top rooms, etc.).

गर्भकूट (२५.१००, २६.२०२)—मध्य में निर्मित कूट।

गर्भगृह (१८.१९५, २०.२६, २८ आदि)—भीतरी कक्ष (जहाँ मूर्ति रक्खी जाती है)। गोपुर का मध्य भाग (२४.६०, ७४, ३०.१०५)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—The central hall, the adytum, the sanctuary in the middle of which is placed the statue of the deity, this is sometimes called *mūla-sthāna*.

गर्भनाली (२५.१७३)—गर्भगृह।

गर्भभित्ति (१८.३, ३६.१४)—गर्भगृह एवं गलियारे को पृथक् करने वाली दीवाल।

गल—कण्ठ (१३.२५, २७, २९ आदि), अटारी (१८.१, ३ आदि)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—The neck, a moulding called dado, the frieze of entablature.

गल के लक्षण शिल्परत्न (पूर्व., ३१ अ.) में विस्तार से वर्णित हैं।

गात्र (२५.२२२)—स्तम्भ। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) ने भी यही अर्थ किया है—Literally the body, the columus of a pavilion.

गान्धार—दो तल के मन्दिर का एक प्रकार (२०.४), तीन तल के मन्दिर का भेद (२१.५९), छत का एक प्रकार (१८.१०)।

गिल्लिका (२.७)—पालकी।

गुलिका—गोल खिड़की (१६.६२)।

गुल्फ (३०.१६, २९)—देहली।

गुल्लास (१६.४२, १८.९२, ९५, १०५)—विशेष प्रकार का गारा। शिल्परत्न (पूर्व. १४) के अनुसार गुल्मास गारा का निर्माण इस प्रकार होता है—

सार्धत्रिपादत्रिगुणकिञ्जल्कसिकतान्वितम्।
चूर्णं तु शर्कराशुक्त्योर्यद् गुल्मासं तदुच्यते।। (१४.६१)

गुह्यसोपान (२६.१२७)—छिपी हुई सीढ़ियाँ।

गृहपिण्डी (२१.४१, २२.१६, ३५ आदि)—गर्भभित्ति। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार यह The basement of a building है।

गृहप्रासादमण्डप (२५.१७४)—मण्डप का एक भेद।

गृहमण्डप (२५.१७३)—मण्डप का एक प्रकार।

गृहश्रेणी (९.६२, ६६, ९१, १०.७८), **गृहावलि** (२९.८७)—नगर में आवासों की श्रेणी।

गोपान—कपोत (१३.१६), छज्जा (१६.११, १२, १४-१५, १८, १८. १०४)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—A moulding, the entablature, the beam. A moulding of the pedestal generally placed between a cyma and cavetto or a cyma and fillet.......... A moulding of the base.......... A synonym of the entablature............. A beem like member of the single-storeyed buildings........... A similar member of the buildings of

two to twelve, storeys................. A moulding of the entablature.

गोपानप्रस्तर (३०.८९)—छज्जा।

गोपानमञ्च (३०.६९), गोपानरुद्धमञ्च (२६.१४२)—गोपानप्रस्तर।

गोपुर—मन्दिर, नगर अथवा राजभवन का प्रधान प्रवेशद्वार (१.८ १८.१५८, २३.८८, १०६ आदि)। द्वारगोपुर = पाँचवाँ मार्ग, दुर्गद्वार (१०.२०, २३, ४०)। शब्दकल्पद्रुम (२) के अनुसार '**गोपायति नगर रक्षतीति ---- नगरद्वारम् ---- पुरद्वारम् ---- दुर्गपुरद्वारम् ---- द्वारमात्रम्।**' पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—Probably originated from vedic *gomatī-pura* and epic *go-gṛhara*, the fortified extensive cowstall, and connected with the divine bull, thus a gate-house, doors in general, the colossal buildings over or near the gate giving, entrance to a city, temple, monastery, etc.

गोपुर का वर्णन अन्यत्र अत्यन्त विस्तार से प्राप्त होता है—

१. **प्रतिवप्रं तु कर्तव्यं द्वारे द्वारे तु गोपुरम्।**
क्षुद्राल्पमध्यमुख्यानां धिष्ण्यानां स्वप्रमाणतः।।
द्वारशोभा द्वारशाला द्वारप्रासादहर्म्यके।
द्वारगोपुरमित्येते क्रमान्नाम्ना प्रकीर्तिताः।। (शिल्परत्न, पूर्व-४१.१,२)

२. **देवालयानां भूनेतुर्भवनानां पुरामपि।**
ग्रामाणामपि दुर्गाणां शालानामपि सद्मनाम्।
मुखद्वारेषु कर्तव्यं गोपुरं शिल्पिभिः क्रमात्।
(विश्वकर्मवास्तुशास्त्र-२८.१-२)

गोशाला (९.८७), **गोष्ठ** (२६.२१८)—गाय के लिये निर्मित शाला।

गोस्तन (२९.१७८)—टोंटी।

ग्रीवा—गल, कन्धर (१३.७, ३४.१६), अटारी, कोठा (१६.६१, १८.३, ५, ७२, १६३ आदि)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) ने इसकी व्याख्या इस प्रकार प्रस्तुत की है—The neck, the dado, as a member of the pillar it comprises *vedikā* (altar), *grīvā* (dado proper), and *bhūṣaṇa* (ornament).

घट—शीर्ष भाग पर निर्मित घट की आकृति (१८.८५), स्तूपिका (२०.१३, २१, २१.८)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार घट शब्द का अर्थ है—A pot, jar, pitcher, same as *kumbha* of the column, ...the torus.........., type of building, a carving on the door.

बृहत्संहिता (५३.२९) में स्तम्भ के भाग के रूप में तथा भवन के प्रकार के रूप में, मत्स्यपुराण तथा भविष्यपुराण के प्रासाद प्रकरण में तथा मानसार (अ. ४०) में प्राप्त होता है।

घटिका—छत पर निर्मित काष्ठसंरचना (१८.५६, ५८, ६०), द्वार को बन्द करने के लिए काष्ठदण्ड (३०.३३), कपाट का एक भाग (३०.२५), रेखांकन का एक साधन (३३.१३५)।

घाटन (३०.३६)—द्वार का खुलना। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार इसका अर्थ A bolt है।

चक्र—रथ का चक्र, पहिया (१२.४६,५२ आदि), युद्ध का साधन (२९.७७)। रथाङ्गम्—शब्दकल्पद्रुम, खण्ड-२। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—A disc of Viṣṇu, a type of buildings.

चक्रपट्ट (३१.३४)—रथ की नेमि।

चङ्क्रमण (२६.२५, २८, ४८-५० आदि)—प्राङ्गण।

चतुर्मुख—गोपुर द्वार का एक भेद (२४.३३), एक और दो प्रधान शालाओं से युक्त भवन (२६.१२, ४३, २६.५१)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार चारो दिशाओं में मुख वाले ग्राम, भवन या सभागार होते हैं—Literally fourfaced, a class of villages, a type of building, a kind of hall.

चतुर्मुखहर्म्य (९.७७)—गृह का एक प्रकार।

चन्द्रकान्त (१५.३०)—घण्टी के आकार का शीर्ष भाग पर निर्माण।

चरण—स्तम्भ (१५.२, २०.३६, २३.३१ आदि), स्तम्भ के बराबर स्तर (२२.५६, २४.३९, ४१, ४६-४७, ५६, ३१.५२)।

चार (३०.८)—द्वार। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A platform.

चारुबन्ध (२३.६८) अधिष्ठान का एक भेद। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A type of base of the pillar.

चिक्कण (१६.४२, १८.९२, ९६, १०१, १०५)—एक प्रकार का गारा, लेप। शिल्परत्न (पूर्व., १४) के अनुसार यह काढ़ा एवं बद्धोदक दो प्रकार का होता है। क्याथ या काढ़ा इस प्रकार तैयार किया जाता है—

क्षीरद्रुमामलाक्षाणां कदम्बाभययोरपि।
त्वग्जलैस्त्रिफलातोयं माषजूषं च तत्समम्।। (१४.६५-६६)

बद्धोदक इस प्रकार बनता है—

दधिदुग्धं माषजूषैर्गुलाज्यकदलीफलैः।
नालिकेराम्रफलयोर्जलैश्चैतत् प्रकल्पितम्।।
बद्धोदकं भवेत् ....। (१४.६८-६९)

चित्रखण्ड—स्तम्भ का एक भेद (१५.२५, २७.३०), प्रति का एक प्रकार (१६.३२, ३४)।

चित्रतोरण (२१.६८, ७८)—तोरण का एक प्रकार। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—A type of arches, an ornamental arch employed in god's temples and king's palaces as wall as in their thrones, decorated with the images of demi-gods, demons, lions, leographs and geese.

चित्रपोतिका (१५.४८)—पोतिका का भेदविशेष। शिल्परत्न (पूर्व., २१ अ.) के अनुसार—

वल्लीचित्राग्रपट्टा च सा ख्याता चित्रपोतिका। (२१.१२)

चुल्ली (२७.१००-१०३)—भट्ठी, चूल्हा।

चूर्ण (१६.४१, ४९, १८.९३-१०३, ११४)—चूना, खड़िया। शब्दकल्पद्रुम (२) के अनुसार—**'सम्पेषणेन जातरजः'**।

चूलहर्म्य (२६.१३६, ३०.८७)—भवन या गोपुर के ऊपरी भाग की विशेष संरचना। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) ने चूलीहर्म्य की व्याख्या इस प्रकार की है—A tower, a room at the top of a house, an attic room, the garret.

चूली, चूलिका—शिखा (१७.३२, ४४-४५), छत का काष्ठनिर्मित एक भाग (१८.३२-३९, ४१, ४५ आदि), स्तम्भ का शीर्ष भाग (२७.४२, ३१.४४), शीर्षभाग (२७.९३-९४, १०४)। पी.के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—A tower, a head ornament, the capital, the top.

तन्त्र समुच्चय (२.४४) के अनुसार जब उत्तरपट्टिकाओं का स्थापन विपरीत क्रम से होता है तो वह चूलिकास्थापन कहलाता है—

रूपोत्तरं घनतती विपरीतो वा।

चूल्यङ्ग (२६.४५)—छत का एक अंग।

चेरिका (१०.३६)—विशेष संरचना।

छत्रशीर्ष (२३.२३, २७.७)—भित्ति की मुण्डेर।

छद (२७.३४, ५९), **छादन** (२७.१०)—छत। शब्दकल्पद्रुम (२) के अनुसार **'छादयति छादयते छदति छदते दिशं मेघः। आच्छादयति इत्यर्थः।'**

छन्द—मन्दिर का एक भेद (२२.८६, ८७), मण्डपविशेष (२५.१७०), गृह का एक प्रकार (२६.३९, ६९, ७१), सभागार का एक भेद (२५.२२८), लिङ्ग के प्रस्तर को काटने का एक प्रकार (३३.६६)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—A building, a door, a phallus.

जगती—भवन की कुर्सी (१३.५, १४.१७, २३, ३१ आदि)। इसे उपान, जन्म, पट्ट, पादुका, छत आदि भी कहा गया है। पी.के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—A moulding of the base, or of the pedestal of an idol or phallus, a class of buildings, platform over a well.

इसका विस्तार से वर्णन मत्स्यपुराण, अग्निपुराण, गरुडपुराण आदि में किया गया है।

जङ्घा (१५.२)—स्तम्भ। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—The leg of an image, the pillar in a building, a column.

जङ्घावर्ग (१४.१०)—स्तम्भ के बराबर स्तर।

जनवीथि (९.३९)—गोलाई में निर्मित मार्ग।

जन्म (११.२०, १३.४)—जगती। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—The base, the plinth, the basement.

जयकोश (२५.८५)—मण्डप का एक प्रकार।

जयङ्ग—नगर का एक प्रकार (१०.६८), राजभवन का विशेष प्रकार (२९.५८)।

जयद—भवन का एक प्रकार (११.९, १९.३, २६.१०), शिवलिङ्ग के निर्माण हेतु प्रस्तर काटने का एक प्रकार (३३.४३, ४५,४७)।

जयन्ती (१६.४०, ४३ आदि)—कड़ी। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A column, a post, a moulding, a flag, a banner.

इसे स्तम्भ की तुलाओं पर इस प्रकार रक्खा जाता है, जिससे बाद में स्थापित फलक पूर्ववर्ती फलक को आधा ढँक दे—

स्वार्धाक्रान्ता जयन्तीस्तदुपरि सुसमीकृत्य कृत्वानुमार्गम्।

(तन्त्रसमुच्चय-२.४६)

जलक (२७.५६)—टोंटी, नाली।

जलद्वार (३०.५०)—नाली, प्रणाल। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—The water-door, a gutter, a drain.

जलद्वार का वर्णन मानसार (अ. ३१) में इस प्रकार प्राप्त होता है—

कुर्यात्तु भित्तिमूले तु जलद्वारं यथेष्टदिक्। (३१.५०)

जाति—मन्दिर का एक भेद (२२.८६, ८९), मण्डप का एक भेद (२५.१७०, १७२), भवन का एक भेद (२६.३७, ६८ आदि), शिवलिङ्ग हेतु प्रस्तर काटने का एक प्रकार (३३.६५)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—A class of buildings, a door, a type of top-room, a phallus, a kind of measure.

जातिगर्भ (१२.७१, ८३)—जाति के अनुसार शिलान्यास।

जानु (१८.३७-४१, ६३)—छत पर किया गया काष्ठ-कर्म।

जालक—झरोखा (१६.५४, ६२, ६४ आदि), जालीदार द्वार (२६.१५४)। शब्दकल्पद्रुम (२) के अनुसार—'**वंशलौहादिनिर्म्मितजालाकृतिद्रव्यविशेषेण काय-यति**.........**गवाक्षः।**' पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—A latticed window, an ornament.

इसका वर्णन मानसार (अ. ३८, ३९ आदि) तथा अन्य ग्रन्थों में प्राप्त होता है। शिल्परत्न (पूर्व. अ. २४) में इसका लक्षण विस्तार से वर्णित है।

जालककुड्य (१६.६३-६४, २६.७६ आदि)—झरोखे-युक्त भित्ति।

झषखण्ड (२१.३१)—मकर की आकृति से युक्त धनुषाकार संरचना।

झषदन्त (१७.३०, ३९)—विशेष प्रकार की सन्धि।

झषालस्तम्भ (१२.१०८, १५.११, १०८)—अधिष्ठान के ऊपर निर्मित स्तम्भ-विशेष।

तरुण प्रतिमा (३५.५४), **तरुणबिम्ब** (३५.५५) **तरुण लिङ्ग** (३५.५२-५३)—अस्थायी प्रतिमा।

तल—मञ्जिल, कक्ष की भूमि (१९.२४, २९, १७९ आदि), अधिष्ठान (१४.२३, ४० आदि)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—The storey, the palm, the sole, a moulding of the column.

तलिप—स्तम्भ (१५.२, १६, ४२ आदि), स्तम्भ का स्तर (२१.८, ५६-५७ आदि)।

तल्प—कपाट (२६.४५, २७.८ आदि), शय्यासन (३३.१०४, ३६.२५)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—A couch, bed, sofa, an upper storey, a room on the top of house, a turret, a tower made of heavy and strong *udumbara* wood (Taitt. Brā. 1.2.6.5) with four feet and four frame pieces *(uśyala)*

fashioned (moulded and carved) by *tvaśtara* (carpenter) and embroidered and inlaid.

तल्पबन्ध (२८.८)—शयनासन का किनारा।

तिर्यग्द्वार (९.३८)—उपद्वार।

तीव्र—मोटाई (१५.११९, १६.९ आदि), निर्गम (१४.४२-४३ आदि)।

तीव्रपट्टिका (२६.७९)—ओरी (किनारे) की पट्टी।

तुङ्गकूट (२९.१७२)—मञ्च।

तुला—तराजू (२९.२०९-२१५), शहतीर (छत की बीम—१६.६, १२-१४ आदि)। रथ की धुरी से लगी तिरछी लकड़ियों की पट्टियाँ (क्रास बीम, ३१.३२)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—A balance, a moulding of the column, a month, a beam.

बृहत्संहिता (५३.३०) में तुला का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

स्तम्भसमं बाहुल्यं भारतुलानामुपर्युपर्यासाम्।
भवति तुलोपतुलानामूनं पादेन पादेन।।

तुलानीय (२७.११०, १२०)—शूद्रों के लिये निर्मित भवनों का एक प्रकार।

तोरण—चापाकार संरचना (१८.७८-७९, १७४, १९.४९ आदि), तुला का एक अंग (२९.२०६-२०७) धनुषाकृति से युक्त स्तम्भ (३२.८)। अमरकोष (२.३.१६) के अनुसार—'**बहिर्द्वारम्**'। शब्दकल्पद्रुम (२) में इसकी व्याख्या इस प्रकार प्राप्त होती है—'**मूलद्वाराद् बाह्यद्वारम्। इति कोक्कटादयः। द्वाराग्रे निखातस्तम्भयोरुपरि निबद्धं नानावस्त्ररत्नादिमयं धनुराकारं यल्लक्ष्यं तत् तोरणमिति बहवः। उपरि स्त्रगादियुक्त-स्तम्भादिद्वयनिर्म्मितपुरादिबहिर्द्वारम्—इति साञ्जः। बन्धनमालेतिख्यातं इति केचित्। इत्यमरटीकायां भरतः**'। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—An arch, a canopy, a gate way of a temple or *stūpa,* a peg, a mechanical arrangement of blocks of any hard material disposed in the line of some curve and supporting one another by their mutual pressure. It is employed both as an architectural member, as well as an ornament to buildings, thornes, pedestals for an image, boundary walls and over gateways, cars and chariots.

इसका वर्णन अन्य वास्तुग्रन्थों में विस्तार से प्राप्त होता है।

त्रिखण्ड—सन्धि का एक प्रकार (१७.२९-३२), सीढ़ियों के निर्माण का एक प्रकार (२१.८७, ३०.१०३)।

त्रिपट्टक्षेपण (१६.२६)—प्रस्तर आदि पर निर्मित विशेष घुमावदार संरचना।

त्रिवर्गमण्डप (१२.१३, २५.२५, ३०.६३)—तीन सतहों पर उठा हुआ मण्डप। त्रिवर्ग शब्द का अर्थ पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्कि-टेक्चर) ने इस प्रकार किया है—A set of three architectural members or mouldings.

त्र्यंश (३१.३)—तीन स्तरों पर उन्नत संरचना।

दक्षिणागार (२७.१३०)—धान्यगृह।

दण्ड—चार हाथ लम्बा माप (५.८-९), मापदण्ड (१५.२८), कपाट का एक भाग (३०.२४, २७), गदा (१२.४७, ३६.२६, ६९, ९० आदि), हस्तमुद्रा (३६.२३ दण्डहस्त)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—A measure, a type of building, a flag-staff, a pillar, a parapet.

दण्डक—ग्राम का एक भेद (९.३४, ४२), एक प्रकार की व्यवस्था (१०.५४), मण्डप-निर्माण की एक योजना (२५.१७१), एकशाल भवन का एक प्रकार (२६.१२, २२, २४-२५ आदि)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—A pillar, a village, a pavilion, a hall, a moulding.

दण्डवक्त्र (२६.५४)—द्विशाल भवन का एक भेद।

दण्डिका—छत या प्रस्तर का एक भाग (१६.९, १२, १४, १६ आदि)। एक प्रकार का जोड़ (१७.३, १५)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—The fifth moulding from the top of the entablature.

दण्डिकावर—झुकी हुई छत (२६.७९, १११, १३५ आदि)।

दन्त (१७.४४, ४६, ४९, ५०)—जोड़ की शिखा।

दल (१४.२७, २९, ३७, ४२ आदि)—ढाँचे पर पत्तियों की कतार। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—A petal, a leaf, a moulding of leafpattern.

दिशाभद्र (२७.१०९-११०)—ब्राह्मणों एवं राजाओं के आवास का एक प्रकार।

दीर्घलुपा (२५.२०५)—सभागृह के छत की लम्बी लुपा।

दृक्—दो (१४.२१, ३७), अधिष्ठान का ढाँचा (१४.२१)।

देवभाविन् (१७.३, १४)—सन्धि का एक प्रकार।

देवाङ्गुल (३६.२८५)—मूर्ति-निर्माण में प्रयुक्त माप।

द्वारप्रासाद—देवालय के तीसरे प्राकार का द्वार (२४.११, १५, ८२ आदि)।

राजभवन के भीतरी प्राकार का द्वार (२९.११३)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—The gate house of the third court.

द्वारशाला—दूसरे प्राकार का द्वार (२४.११, १४, ३४ आदि), भवन का प्रवेशद्वार (२६.१५४, १७१)। पी. के आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—The gate house of the secord court.

द्वारशोभा (२४.३-११, १४, ३४ आदि)—देवालय के प्रथम प्राकार का द्वार। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—The gate house of the first court.

द्वारहर्म्य—देवालय के चतुर्थ प्राकार का द्वार (२४.११, १६, ८३ आदि), राजभवन का भीतरी द्वार (२९.३०, ९९, ११२, ३०.७८)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—The gate house of the fourth court.

द्वारायतन (९.५७, २४.२१)—नगर या देवालय का द्वार।

द्व्यस्त्रवृत्त (११.२, १९.३, ३२, ३७ आदि)—अर्धवृत्त भवनादि। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—A two-angled circle, an oval building.

धन—मण्डप का एक प्रकार (२५.८, ११६), भवन का एक भेद (२६.१०), आयादि का एक भाग आय (२६.२०९, ३३.६१, ६२ आदि), नौ संख्या (नौ निधि, ३२.२४)।

धनालय (२७.१३५ **धनगृह** (२७.१३०) **धनसद्म** (१२.८७)—वह कक्ष, जहाँ सम्पत्ति रक्खी जाती है।

धनधान्यगृह (२३.८४)—देवालय का कोश गृह।

धनसञ्चयावास (२६.२१५)—गृह का कोशकक्ष।

धनुः—एक दण्ड का माप (९.९, ९१ आदि), धनुषाकार रचना (१२.४७, ३६.६५, १८१, २३० आदि)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A measure of four cubits.

धनुर्ग्रह (५.६-७)—२७ अंगुल का हस्त-माप। पी. के. आचार्य (एन इन्साक्लो-पीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A measure, a cubit *(hasta)* of 27 *aṅgulas.*

धनुर्मुष्टि (५.६-७)—२६ अंगुल का हस्त-माप। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लो-पीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A measure, a cubit *(hasta)* of 26 *aṅgulas.*

धरातल (२१.८, ३१.६१)—अधिष्ठान।

धातु—रंगने का पदार्थ (९.१०३, ११६, १२.९६, १०२ आदि), पाँच की संख्या (१४.२१), सात की संख्या (१९.१३,१४ आदि)।

धारा—छत का किनारा (१८.१५, १७), शिवलिङ्ग का पहल (३३.८२-८३)।

धिष्ण्य—भवन (१९.१२), देवालय में निर्मित परिवारालय (९.७३)। शब्दकल्पद्रुम (२)—'**गृहम्**'।

धृक्—स्तम्भ का एक भाग (३४.२३, २९), कलश का एक भाग (१८.८६)।

धृक् कण्ठ (१५.३७)—शीर्षफलक का एक भाग (१५.३७)।

नन्द—मण्डप का एक भेद (२५.८४, ९८)।

नन्द्यावर्त—चतुश्शाल भवन का एक प्रकार (९.९३, २६.६७ आदि)। ग्राम का एक भेद (९.३४, ४९, ५०); नगर, दुर्ग आदि के प्राकार का एक भेद (१०.४३, २९.९); प्रस्तर का एक प्रकार (१६.४); खिड़की का एक प्रकार (१६.५६, ७०, ६० आदि)। सन्धि का एक प्रकार (१७.१९, २२)। शब्दकल्पद्रुम (२)—'**ईश्वर-सद्मविशेषः। इत्यमरः २.२.१० तस्य लक्षणं यथा—दक्षिणानुग-तालिन्दत्रयं यत् पश्चिमामुखम्। पूजनीयोत्तरच्छ्रायं नन्द्यावर्तं वदन्ति तत्। इति भरतधृतसाङ्गः**'। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—A type of building where rooms are surrounded with terraces, a village, a window, a pavilion, a phallus, a groundplan, an entablature, a joinery.

चतुश्शाल भवन के रूप में बृहत्संहिता में इस प्रकार वर्णन प्राप्त होता है—

नन्द्यावर्तमलिन्दैः शालाकुड्यात् प्रदक्षिणान्तगतैः।
द्वारं पश्चिममस्मिन् विहाय शेषाणि कार्याणि।। (५३.३२)

नन्द्यावर्त सन्धि के विषय में मानसार (१७ अ.) में इस प्रकार लिखा गया है—

पूर्वे च शयितं दारु दक्षिणे निर्गमं भवेत्।
दक्षिणे शयितं दारु पश्चिमे निर्गमं भवेत्।।
पश्चिमे शयितं दारु निर्गमं चोत्तरे तथा।
उत्तरे शयितं दारु प्राग्दिशि निर्गमं भवेत्।।
आधाराधेययोगेन पूर्ववत् परिकल्पयेत्।
नन्द्यावर्तमिति प्रोक्त.....................।। (१७.२८-३०)

नलिनक (९.७६)—भवन का एक भेद। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—A class of buildings distinguished

by open quadrangles and surrounded by buildings, and funished with platforms and stairs.

नागपाश (३६.४०, ९६, १८१, २६०)—सर्प के फन्दे के आकार की संरचना।

नागर—भवन का एक प्रकार (१९.३५, ३७ आदि), शिवलिङ्ग का एक भेद (३३.४२-४३, ५५, १०९ आदि)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—One of the three styles of architecture, it is quardrangular in shape, the other two *(Vesara* and *Drāviḍa)* being respectively round and octagonal.

नागवक्त्र (१६.३३)—प्रति का एक प्रकार।

नागवृत्त (१०.४३)—नगर के प्राकार का एक भेद।

नाभि—ब्रह्म-वीथि, वास्तुयोजना के मध्य भाग को घेरने वाला मार्ग (९.३७, ५४), चक्र का मध्य भाग (३१.२९, ३९-४०)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) ने नाभिवीथि का अर्थ इस प्रकार किया है—A road proceeding from the central part of a village or town.

नाराचपथ (९.३८)—छोटी सड़क। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—A road running towards the east.

नाल, नालिका—टोंटी (१५.४७, १६.७ आदि), शिवलिङ्ग से सम्बद्ध प्रणाल (३३.१३०)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—A canal or guttur, channel, lotus stalk............., a tubular vessel of the body..........middle, central.......... In connexion with the phallus.

नालीगृह—गर्भगृह, मध्य कक्ष (१९.१५, २१.६६ आदि), गोपुर का मध्य भाग (२४.५९, ६३, ७१, ८६ आदि)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) ने नालगेह (= नालीगृह) का अर्थ इस प्रकार किया है—A canal house, channel, middle chamber, central hall.

नालगेह का वर्णन मानसार (३३ अ.) में भी प्राप्त होता है।

नास, नासी, नासिका—सजावटी खिड़कियाँ (१४.३८, १६.२५-२७, १९.१८, २० आदि)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—A nose shaped architectural object, a vestibule, an open court or porch before a house, a hall next to the entrance to a house, a bracket.

शिल्परत्न (पूर्व. ३५ अ.) में इसका विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है।

नास्यङ्ग (२६.२०२, ३०.७४, १०१, १०५, १०६)—बाहर निकली संरचना।

नास्यङ्घ्रि (२१.२५)—भित्तिस्तम्भ।

निक्षेप (१५.९)—ढाँचे के मध्य का अवकाश।

निखातस्तम्भ (१५.१०), **निखाताङ्घ्रि** (१२.१०९)—अधिष्ठान में जिस स्तम्भ का मूल भाग प्रविष्ट हो।

निगम (४.१९, ५.९, ९.१२२ आदि)—नगर का एक प्रकार।

निद्रा (१६.२२)—प्रस्तर का एक भाग।

निधि (९.२०)—९ की संख्या।

निम्न (१४.३१, ३७, ३१.१० आदि)—नाली, खाँचा।

निर्गम (२१.५५, २२.६, २१, २९ आदि)—बाहर निकला निर्माणभाग। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—The projection. इसका उल्लेख मानसार (अ. १४, १३ आदि), मत्स्यपुराण (२६२ अ., २६९ अ.), अग्निपुराण (४२ अ.), गरुडपुराण (४७ अ.) आदि में प्राप्त होता है।

निर्यूहवलभी (२६.२०१)—झुकी हुई छत, छज्जा।

निष्कल (७.२३, ३३.१, ३, १० आदि)—अस्पष्ट स्वरूप वाली मूर्ति, प्रतीक। शब्दकल्पद्रुम (२)—'**कलाशून्यम्**.................**ब्रह्म**'। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A site plan.

नीड (१९.४९, २०.१०, ३७ आदि)—सजावटी खिड़कियाँ, नासी। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A nest, a lair, a covered place.

नीप्र (२६.१९४), **नीव्र** (१६.९, २५, १८.४१, २७.१२६)—बाहर निकला भाग, छत या छज्जे का किनारा। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—The lower portion, the end, the border as of a cloth.

नेत्र—अग्रभाग या छत (२६.४०-४१, ५३, १०५ आदि), मन्त्र (३३.१०६)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—The eye, a side portico or porthole, gable window, a wing, face.

नेत्रभित्ति (१२.८४, १८.१८४ आदि)—अग्र भित्ति। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A side wall.

नेत्रशाला (२४.४, २६.१२१, १४०)—अग्र भाग में निर्मित आयताकार भाग। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A side hall.

पक्षद्वार (२९.७७)—पार्श्व द्वार, छोटा द्वार।

पङ्कदुर्ग (१०.३८)—कच्ची मिट्टी से सुरक्षित दुर्ग।

पङ्क्ति (२६.२१९, २९.१४७-१४८)—गृहों की पंक्ति।

पङ्क्तिशाला (२६.१९२)—दशशाल गृह।

पञ्चवसन्त (२५.१९८, २०६)—सभागार का एक प्रकार।

पञ्जर—मध्य कूट, नासी (२०.३, १९, २१.१४, ४४, ५३ आदि), दरबा (२.८, २९.१८८), छत्ता (२६.१२५)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A cage, an aviary, a nest, an architectural object, windows.

शिल्परत्न (पूर्व., २६ अ.) में इसका वर्णन विस्तार से किया गया है। इसकी आकृति इस प्रकार होनी चाहिये—

पञ्जरं नासिकाकारं कूटकोष्ठाभमेव वा।
हस्तपृष्ठविमानस्य शिखराकृति वा पुनः।। (२६.३)

पट्ट—निकला हुआ रद्दा (१४.१८, ३३, ३५, ३७ आदि), कुर्सी या जगती (३४.१८), दृढ़ बनाने वाली पट्टी (३०.१९, ३१.२४, २५ आदि), दीवान आदि की पट्टी (३२.७), चक्रपट्ट (३१.४०)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A band, a fillet, a moulding of the base, etc. an ornament for the body, a crown, a diadem, a turban, an upper garment, a cloth, a plate, a slab, a seat, a junction, a town, an edict, a lintel, a staircase.

पट्टाम्बुज (१६.६)—पट्ट पर निर्मित पद्मपुष्प।

पट्टिका—निकली हुई पट्टी (१४.४६, १५.४३, ४६, १६.१२, १६, २६, ५३ आदि), प्रति (१६.२६, १९.२४), अग्र भाग की पट्टिका (२६.१७९), प्रस्तर (३१.५८), छत का किनारा (३.१००), युगपट्ट (३६.२३)।

पट्टिकाक्षेपणाम्बुज (१६.११)—पट्ट पर निर्मित कमलपुष्प।

पत्तन (४.९, ५.९ आदि)—समुद्रतट से सम्बद्ध नगर। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A village, a town, a commercial city on the bank of a river or sea, a new settlement.

पत्र (१८.७२, ७३, १४५)—छत से सम्बद्ध काष्ठकर्म। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A leaf, a leaf-like ornament, a moulding.

पत्रबन्ध (१६.३)—प्रस्तर-पाद का एक भेद। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A type of entablature.

पद—वास्तुमण्डल का कोष्ठ (अ. ७), भवन (१९.११, २०.३७, ३८), स्तम्भ, द्वारस्तम्भ (२८.१७, २९.१००), काकपद (३३.१६०)। पी. के. आचार्य

(एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A part, the foot, a plot of the site plan.

पद्म—कमलपुष्प (१२.४९, ६६, ६९), वृक्षविशेष (१५.११२, २९.१७२), पद्म की आकृति से युक्त संरचना (१३.६, १५-१७, १४.८, २३, २५, ३१-३५ आदि), कलश के नीचे की पट्टी (१८.१८, १९.१५, १६), वेदी के ऊपर कमल की आकृति (२३.७९), पद्मक राजप्रासाद (९.७७), ग्राम का एक भेद (९.३४, ५२), मण्डप का प्रकार (२५.१७१), हवनकुण्ड का एक भेद (२५.४२, ५१)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A lotus, an eye, a moulding, a cyma recta, a cyma reversa or reversed cyma also called ogee or talon (see Gwilt Encycl. figs. 869). A site plan, a pavilion, a type of village, a class of buildings.

वहीं प्रस्तुत रामराज की व्याख्या भी द्रष्टव्य है—The moulding, called *padma* (*abja, ambuja,* or *saroruha* etc.), literary lotus, is supposed to resemble a petal of that flower. It is a sort of compound figure, partly convex and partly concave, and its section is comosed of two opposite curves, meeting at the bisecting point of a line drawn between the points of recess and projection, and very much resembling the 'cyma recta' and 'cyma reversa' of the Western architects. This moulding is distinguished into greater and less, and forms the principal ornaments of Indian architecture. It is generally employed, in detached pairs, in bases and cornices, one facing the other in oppsite directions, and is formed upright or the reverse according to its situation, either as a crowning member of the former or the supporting ornament of the latter. The concave part of it, when placed with its bottom reversed, is often so designed as to project forward or rise up, after having touched as it were, the fillet below, with a small perpendicular curvature, resembling in shape the petal of the lotus, with its pointed head somewhat inclined towards the top. In some specimens, this moulding is placed at the base of columns, and looks very much like am apophyge or ogee of the Ionic and corinthian orders being formed either with a curved line having more or less covexity at the top, or with an upright

tangent to the concave part below, It is sometimes made exactly in the form of an ovolo of the western architects. (Rām Rāja, Ess. Arch-Hind, p. 32-34)

पद्मक—मण्डप का एक भेद (२५.६, ६४), राजभवन का एक भेद (२९.१०७)।

पद्मकुम्भलता (२१.८२)—भित्ति का अलंकरणविशेष।

पद्मकेसर (१४.२६)—अधिष्ठान का एक भेद। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A type of base, a kind of throne.

पद्मपट्टिका (१६.५३)—पद्मपुष्प की आकृति से युक्त पट्टी।

पद्मबन्ध (१४.३४, ३२.१४)—अधिष्ठान का एक भेद। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A class of bases comprising four types which differ from one anthor in height and in the addition or omission of some mouldings.

पद्मसङ्गपट्टिका (१६.६५)—सजावटी पट्टी।

पद्मासन—स्तम्भ का पद्माकार अधिष्ठान (१४.१८-१९), पद्माकार पीठिका (३६.७, १२३, १८४, १८९, २१५ आदि)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A lotus seat, a lotus-like posture in which an image is carved, a throne, a type of base, a kind of pedestal.

पराग (९.३४, ५१)—ग्राम का एक प्रकार।

परमशायिन (७.२, १०, ५८ आदि)—८१ पद वास्तु।

परलेखा (१८.४८-५०, ५४-५५)—छत के निर्माण में प्रयुक्त रेखा।

परिखा (९.६०, १०.१६, २२, ४५ आदि)—खाई। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A ditch, a moat, a trench round a fort or town.

परिघा (१०.४१, २९.१४६, ३०.२७)—द्वार पर रक्षा हेतु लगा दण्ड। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—Cross bar to fasten the door, a beam, metal bolts.

परिधि (१०.४)—नगर के चारो ओर निर्मित प्राकार।

परिवार (१.८, ९.६६, २३.१, ३५ आदि)—प्रधान देव के सहायक देवता।

पर्यङ्क (२.८, १२.८७ आदि)—शय्या। शब्दकल्पद्रुम (३)—**खट्वा। पालङ्ग इति भाषा। इत्यमरः। २.६.१३८। तत्पर्यायः। मञ्चः मञ्चकः पल्यङ्कः इति हेमचन्द्रः।** ३.३४७। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A couch. A bedstead.

पर्यङ्कबन्ध—शय्या (३६.९४), मुद्रा (३६.१५५, २८१)।

पर्यङ्कशिबिका (३२.८)—पालकी, डोली।

पर्वत (२०.१६)—दो तल के मन्दिर का एक भेद।

पांसुचय (१०.२१, ४५, २९.७१)—भित्ति एवं खाई के मध्य निर्मित कच्ची मिट्टी का प्राकार।

पाञ्चाल—गृहाच्छादन का एक भेद (१८.१०), लुपा का एक प्रकार (१८.५४; २७.९२), दो तल के देवालय का एक प्रकार (२०.२०)।

पात्र (९.१०७, १२.२१, ४४ आदि)—मञ्जूषा, पेटी।

पाद—स्तम्भ (१२.११, १३.१५ आदि), स्तम्भ का सतह (२१.९, २२.७ आदि) द्वारयोग (२४.७९, ९१-९२, १०२ आदि), आसन का पाया (३१.४-६, ११)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—The foot, the lowest part, a quarter, the fourth part, the architrave, a pillar, a column.

पादबन्ध—अधिष्ठान का एक भेद (१४.२०, ४५; २४.२८ आदि)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A class of bases.

पादवर्ग (१६.५७, ६०)—स्तम्भ की सतह।

पादशाल (२९.३७)—चतुश्शाल।

पादुका—जगती (१२.४२; १३.१०, १३ आदि), अधिष्ठान (२३.३३), चप्पल, जूता (३६.१०३, १०६)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—The plinth, the pedestal, the base, a moulding.

पालि (१९.१७)—कलश की सपाट पट्टी।

पालिका—कोने में निर्मित सजावटी तत्त्व (१६.१८), कर्णाभूषण (३६.१०५) पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A boundary, a margin, an edge, an ornament, a bridge-like moulding of the column.

पाल्याभ (१५.३६)—लटकता हुआ।

पाश—तीन (२१.६), फन्दा (१२.३३, ५४-५६ आदि)।

पिण्ड (२६.२; २७.११, ६५ आदि)—प्रधान भवन से जुड़ा भाग। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—The testicle, its sculptural details.

पिण्डिका (३३.१०, ३२, १५२, १५६)—पीठिका। पी. के. आचार्य (एन

इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—The pedestal of an image, a seat, the *yoni* part or the pedestal of the phallus.

पीठ—पीठिका, मञ्च (१.१०; १९.२९ आदि), आयताकार आसन (३२.११; ३४.१२, ७४), यज्ञवेदी (९.३५, २३.७२-७७), ब्रह्मपीठ (२९.१३, ९६, १०८), ९ पद वास्तु (७.१, ८, २४, ९.१०६ आदि), नौ संख्या (३५.४९), शब्दकल्पद्रुम (३)—**उपवेशनाधारः इत्यमरः। २.६.१३८ पिड़ी चौकी इत्यादि भाषा। तत्पर्यायः। आसनम् उपासनम् पीठी विष्टरः। इति शब्दरत्नावली।** पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—*Pīṭha* is possibly corrupted from *pī-sada* to sit upon, hence means a stool, seat, chair, throne, pedestal, altar. A wooden seat.......low rectangular, plain or carved and sometimes with painted designs. The pedestal of an idol, the *yoni* part of the phallus. A pavement, chairs of various kinds.

पुच्छवलक्ष (२५.२०४)—सभागार के छत का एक भाग।

पुष्कर (१८.२१, ६९, १६३)—कक्ष की छत पर निर्मित काष्ठ की संरचना।

पूर्वास्त्र (१५.१५)—स्तम्भ का एक भेद।

पृष्ठकूट (२७.१०२)—चिमनी।

पृष्ठवंश (१८.३३)—चोटी पर निर्मित शहतीर। शब्दकल्पद्रुम (३)—**पृष्ठस्य वंशः वंश इव दण्डः।**

पैशाचपीठ (२३.७६)—हवनवेदी। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A site plan of four squares.

पोतिका (१५.२८;२०.३९ आदि)—दीवार के सहारे अथवा स्तम्भ के सहारे निर्मित शीर्ष भाग की संरचना। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A part of a column, the site of a house. ....A part of the bottom of a column.

पोतिका का स्वरूप एवं माप तन्त्रसमुच्चय (२.२५), वास्तुविद्या (अ. ८) एवं शिल्परत्न (पूर्व., २१ अ.) में विस्तार से प्राप्त होता है।

पौष्टिक—भवन का एक भेद (११.९, १९.२ आदि), शिवलिङ्ग के निर्माण हेतु प्रस्तर काटने की एक विधि (३३.४३)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A height which is 1-1/4 of the breadth, a class of buildings.

प्रग्रीव (२६.४५, २९.१८२)—प्रकोष्ठ। शब्दकल्पद्रुम (३) में इसका अर्थ काष्ठपंक्ति, वातायन, सुखशाला, अश्वशाला तथा वृक्ष का शीर्ष भाग किया गया है-–

गृहादौ प्रान्ते धारणं दारुपङ्क्तिः। वातायनम् इति सुभूतिः। सुखशाला इत्येके। अश्वशाला इति केचित्। द्रुमशीर्षकम् इति गोवर्धनः। इत्यमरटीकायां भरतः।

प्रच्छादन (२७५७)—छत। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A covering, a canopy, the roof, an entablature.

प्रणाल (३४.३२, ३३, ७४)—नाली। शब्दकल्पद्रुम (३)—**जलनिःसरण-मार्गः।** पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—The drip or channel-like part of the pedestal of the *linga* (phallus). a gutter, a canal, a patter, a bracket.

मत्स्यपुराण के अनुसार जल बाहर निकालने हेतु पीठिका में प्रणाल का निर्माण कराना चाहिये—

वारिनिर्गमनार्थं तु तत्र कार्यः प्रणालकः। (२६२.६)

देवालय में नाली का मुख गोमुख या गजमुख के समान तथा लतादि से अलंकृत होना चाहिये—

स्यात् कुट्टिमं गोमुखदीर्घमानं पादोनितं वा तदथार्धयुक्तम्।
व्यालाननं स्यादिह शुण्डुभेदो मणिश्च वल्लीपरिशोभितं च।।
(तन्त्रसमुच्चय-२.२१ के भाष्य में उद्धृत)

वहीं काश्यप-मत के अनुसार ५ प्रकार के प्रणालों का वर्णन प्राप्त होता है।

प्रति—मध्य पट्टिका (१२.४२, १४.११ आदि), प्रस्तर का एक भाग (१६.४, २७, २९ आदि), गुल्फ (२७.१२९, ३०.१२)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A moulding of croscent shape, the frieze.... It is shaped like a petal in two parts.

मानसार (अ. १६) में प्रति के पर्याय वर्णित हैं—

प्रतिं च प्रस्तरं चैव प्रतिवाजनमेव च।
अन्वन्तं चावसानं च विधानं च विधानकम्।
एतत्सर्वमिति प्रोक्तं पर्यायाख्यानि पण्डितैः।। (१६.२१-२२)

इसकी आकृति पत्ते के सदृश होती है—

प्रतिरूपं दलाकारं..............................। (१६.२३)

प्रतिमुख (१४.२१-२३, २९), **प्रतिवक्त्र** (१३.२० आदि)—प्रस्तरगल। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A moulding of the base.

प्रतिवाटभू (२७.१११)—रिक्त स्थान।

प्रत्यालीढ (३६.९२)—धनुष चलाने की मुद्रा। शब्दकल्पद्रुम (३)—**धन्विनां**

पादसंस्थानविशेषः। तत्रोद्ध्र्वस्य वामपादप्रसारे दक्षिणपादसङ्कोचः—इत्यमरटीकायां भरतः। धन्विनामवस्थानविशेषः।

प्रपा (२.६; १२.८९, १८.२१० आदि)—मण्डप आदि के समान निर्मित भवन। शब्दकल्पद्रुम (३) में इसे जलशाला तथा यज्ञशाला कहा गया है—'**पानीयशालिका इत्यमरः**........**यज्ञशाला।** ....**प्रपामध्ये यज्ञशालामध्ये इति कतकः।**' पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A shed on the road side for accommodating travellers with water, a place where water is distributed, a cistern, a tank, a building.

प्रमालिका (१६.७)—बाँधने वाली पट्टी जैसी संरचना।

प्रलम्बन (१८.४१)—लटकन।

प्रवेश—दो संरचनाओं के मध्य का अवकाश (१४.३९, ३४.३१), प्रवेश मण्डप (२६.१९४-१९५, ३०.१९, ३२, ४२, ११९)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—The front door, the gate, the entrance.

प्रस्तर—छत आदि के साथ निर्मित पट्टी (१.६, १६.१, ४१ आदि), फलकनिर्मित धरातल (२९.१७९, १८५ आदि), ग्राम का एक प्रकार (९.३४, ४६)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—The entablature. It comprises the parts of an order above a column. The assemblage is divided into three parts in the European architecture, namely the architrave which rests immediately on the column, the frieze next over the architrave being the middle member, and the cornice which is the uppermost part. These three parts are again variously subdivided.

प्रस्तर का विस्तृत वर्णन मानसार (१६ अ.) आदि में प्राप्त होता है।

प्रहीण शिखर (२६.९२, ३०.७४, ८२)—सपाट छत।

प्रांशुरश्मि (२५.२०८, २१२, २१७ आदि)—दीर्घ लुपा।

प्राग्वंश (२५.२७)—पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—An anxiliary shed to a sacrificial room.

फलक—पट्टी (१६.१७, ३९, ४१ आदि), शिलान्यास के ऊपर निर्मित प्रस्तरपट्टिका (१२.४४), मण्डि (१५.३४, २१.२८ आदि), शीर्ष का एक भाग, पालि (१८.८६)। शब्दकल्पद्रुम (३)—'**काष्ठादिफलकम्**'। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A plank, a moulding, an architectural member, the abacus, leaning board.

फलिक (१९.१५)—शीर्ष। शब्दकल्पद्रुम (३)—**'शरादेरग्रभागः।'**

फलककुड्य (१६.६३-६४)—फलकनिर्मित भित्ति।

फेल (१२.१२, १४)—भाजन, मञ्जूषा। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—The vault of the foundation pit.

बन्ध—जोड़, सन्धि (१७.८, १६, २६, २८), गारा, मसाला (१८.११४, ११५), सिटकनी (२७.१२९), फलक (१६.३५)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइ-क्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—Joining or folding together, a band, the foundation.

बन्धन—सन्धि (३१.३६), मुकुट (३६.२), खाई (२९.९१)।

बन्धोदक (१८.१०२, १०३, १०७)—लेप में प्रयुक्त होने वाला जल। शिल्परत्न (पूर्व. १४ अ.) में बद्धोदक एवं क्वाथ का वर्णन किया गया है। बद्धोदक—

> ....**बद्धोदमथ चोच्यते।।**
> **दधिदुग्धं माषजूषैर्गुलाज्यकदलीफलैः।**
> **नालिकेराम्रफलयोर्जलैश्चैतत् प्रकल्पितम्।।**
> **बद्धोदकं भवेत्**...................................। (१४.६७-६९)

बलालोकमण्डप (२५.५)—सेना के निरीक्षण हेतु निर्मित मण्डप।

बलिविष्टर—मन्दिर की मर्यादा (प्राकार) के भीतर निर्मित वेदी (२३.७४-७६)।

बिम्ब (९.११३, १२६, ३३.२, ६५)—प्रतिमा। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—An idol, an image.

बेर (३३.१, १०, ३२, ३४.५२ आदि)—देवप्रतिमा। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—An idol or image.

बोधक (२५.९०)—मण्डप की छत पर निर्मित एक विशेष अलंकरण।

ब्रह्मपीठ (२७.२५), **ब्रह्मवेदिका** (२७.२६)—गृह में होनी वाली धार्मिक क्रिया हेतु निर्मित वेदी।

ब्रह्मराज (१७.३, ११)—सन्धि का एक प्रकार।

ब्रह्मवीथि (९.३७), **ब्रह्मावृतपथ** (१०.८०)—वास्तुविन्यास के मध्य भाग में निर्मित मार्ग।

भ (३२.२४)—२७ संख्या।

भक्ति (२३.६१, ६६ आदि)—मण्डप, प्रपा, सभा आदि से सम्बद्ध स्तम्भ-संरचना।

भद्र—बाहर की ओर निकला ढाँचा (१५.१९), अग्र भाग में निर्मित बाहर

निकली संरचना (१७.२४-२५, १९.३१, ३३-३४ आदि)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A moulding, a type of portico, the general epithet of chariots, a type of building, site plan of one hundred and ninety six square plots.

भद्रक—नगर का एक भेद (१०.६२), स्तम्भ का एक प्रकार (१५.१९), मण्डप का एक भेद (२५.६, ६६)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—The general name for chariots.

भद्रकल्याण—नगर का एक प्रकार (१०.६४), २७ तल का गोपुर-प्रकार (३०.१०४)।

भद्रकूट (२२.४६)—२४ तल मन्दिर का एक प्रकार।

भद्रकोष्ठ—तीन तल के देवालय का एक भेद (२१.४८), चार तल के देवालय का एक प्रकार (२२.२४)।

भद्रकौशिक (२५.८४)—मण्डप का एक प्रकार।

भार (३१.३०, ३२-३३, ४२, ४६)—रथ के ढाँचे में लगी लम्बी शहतीर। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A support, beam.

भारोपधान (३१.३४-३५, ४८, ५५)—रथ को सहारा देने वाला लम्बा शहतीर।

भिन्दिपाल (३६.१३२)—गदा। शब्दकल्पद्रुम (३)—'**हस्तप्रमाणकाण्डः। नालिकास्त्रमिति ख्यातम्। .... हस्तक्षेप्यलगुडः।**'

भिन्न (२६.२; २७.११, १२ आदि)—वह भवन, जिसकी शालायें एक-दूसरे से पृथक् हों।

भुक्तिगेह (२७.११९)—भोजनशाला।

भू, भूमि—पृथिवी (३६.११, २९, १७४), तल, कक्ष की भूमि या फर्श (२७.५५)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—Earth, ground, soil, a place, a region, a spot, a site, a situation, a storey, the floor of a house.

भेषणी (३०.२३)—द्वार का एक अंग।

मक्षिका (३३.१६०)—रत्न आदि में दूषित चिह्न।

मङ्गल—ब्राह्मणों की बस्ती वाला एक ग्राम (९.४०), मण्डप का एक भेद (२५.९, १४०)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A kind of throne, a village, a type of pavilion.

मङ्गलवीथि (९.३५, ३८, ३९)—ग्राम या नगर का बाह्य मार्ग। पी. के.

आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A broad road surrounding a village or town, also called *Rāja-vīthi* and *Ratha-vīthi*.

मज्जनागार (२९.३९)—स्नान-गृह। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A detached building for bath or washing.

मञ्च—आसन (२.८), प्रस्तर (१६.४८, २०.५ आदि) शब्दकल्पद्रुम (३)—**उच्चमण्डपविशेषः**। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A bedstead, couch, bed, sofa, a chair, throne, a platform, a pulpit, a loft.

मञ्चबन्ध (१४.३१)—अधिष्ठान का एक प्रकार। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A class of bases comprising four types which differ from one another in height and in the addition, or omission of some mouldings.

मञ्चिका (२.८)—दीवान।

मण्डन—अलंकरण (३१.१, ११८, ३४.८, ५२ आदि), आधार का ऊर्ध्व भाग (३३.१५२; ३४.४१, ७४)।

मण्डप—भद्र, ढँका हुआ गलियारा (२३.३०; २५.१३५, १४३ आदि), सपाट छत (१०.४२; २४.८१, ८८ आदि)। शब्दकल्पद्रुम (३)—जनविश्रामगृहम्। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A detached building, a pavilion, an open hall, an arbour, a carridor, a tower, a temple, the auditorium in a theatre.

मानसार (अ. ३४) में ८ प्रकार के मण्डप, विश्वकर्मवास्तुशास्त्र (अ. ६४) में २४ प्रकार के मण्डप, नाट्यशास्त्र (२) में १२ प्रकार के तथा मत्स्यपुराण (२७० अ.) में २७ प्रकार के मण्डपों का वर्णन प्राप्त होता है।

मण्डपमलिका (२९.१९७)—स्तम्भों वाले गलियारे के समान भवन।

मण्डि (१५.१३, १५-१९, ३१,४१ आदि)—शीर्षफलक। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—The crowning part of the capital of a column, a market place, a market.

मण्डिस्तम्भ (१२.९१)—अलंकरणयुक्त स्तम्भ, मण्डियुक्त स्तम्भ।

मण्डूक (७.२, ९, ३१ आदि)—६४ पद वास्तु-मण्डल।

मध्यकर्णलुपा (१८.३०)—मध्य में स्थित लुपा।

मध्यभार (३१.३३)—मध्य में लगी लम्बी शहतीर एवं स्तम्भ।

मध्यममञ्च (२२.३०)—अन्तरप्रस्तर।

मध्यरश्मि (२५.२२३), **मध्यलुपा** (१८.३०)—मध्य में स्थित लुपा।

मध्यवंश (२६.१६४)—बँड़ेर, छत की काठी।

मनोहर—मण्डपविशेष (२५.८२, १०३, १२४, १४४ आदि), दो तल के मन्दिर का भेद (२०.२७), चार तल के मन्दिर का एक प्रकार (२२.४७)।

मन्त्रशाला (२९.१९१)—मन्त्रणा कक्ष।

मर्दल (२४.३३, १२०; ३०.७८)—द्वारहर्म्य गोपुर का एक प्रकार।

मर्यादि (२३.८३, ९३; २९.१९)—मन्दिर या राजभवन का पाँचवाँ प्राकार या मर्यादा। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) ने महामर्यादा शब्द से इसकी व्याख्या की है—The fifth enclosure *(prākāra)* at the extreem boundry of a compound, the gate house there, of is called *mahāgopura* or *dvarāgoputra.*

मल्ल (१८.२९, ४०, ४३, ५२ आदि)—छत पर हुये काष्ठकर्म का एक अंग।

मल्ललील (१७.३, १०)—सन्धि का एक प्रकार।

मल्लवसन्त (२५.१९८, २०४)—सभा का एक प्रकार।

मसूर (१२.२१; १४.३२, ३८, ४०, ४७ आदि)—अधिष्ठान। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A lintel, i.e. thin piece of timber or stone that covers an opening and supports a weight above it. It implies the cornice of the entablature. It is sometines used in the sense of *adhiṣṭhāna* or base.

महाब्ज (३४.१३, २२)—पीठिका का एक प्रकार। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) ने महाम्बुज पद का अर्थ इस प्रकार किया है—A large cyma, a moulding of the pedestal.

महावज्र (३४.१४, २७)—एक प्रकार की पीठिका।

महावृत्त (१७.२९, ३४)—सन्धि का एक भेद।

मागध (१८.१०)—छत का एक प्रकार।

मात्रखण्ड—द्वारगोपुर संज्ञक गोपुर का एक प्रकार (२४.३३, १२३), तीन तल के गोपुर का एक भेद (३०.८४)।

मालास्थान (१५.३१)—मालाओं से अलंकृत स्तम्भ का प्रस्तरगल।

मालिका (१०.२३, ७३; २३.२८, ५८, ५९ आदि)—गलियारा के समान भवन। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A class of building, a type of pavilion.

मालिकामण्डप (२५.३५, १७५)—कई तल वाले मण्डप का एक प्रकार। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A pavilion

of the *mālikā* class of buildings.

माल्य (२५.७, १०६), **माल्यभूत** (२५.७, १०७)—मण्डप का एक प्रकार।

मिर्णका (३०.२५)—द्वारकपाट का एक भाग।

मुखपट्टिका (२२.८३, २४.९६, २६.७९ आदि)—अग्र भाग की त्रिकोणीय संरचना।

मुण्ड (१८.६७-६८)—छत पर काष्ठ-कर्म का एक अंग।

मुण्डतुला—किनारे लगी शहतीर या बीम।

मुद्गिन (१६.४२, १८.९१, ९४, ९५, १०५)—एक प्रकार का गारा या लेप।

मुष्टिबन्ध (१५.४६, १६.५, १०, ११ आदि)—मुट्ठी के समान सज्जा से युक्त ढाँचा। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A moulding of the entablature and of the column, a kind of roof, the topmost part of a building, a part of the rampart and of the arch.

मूर्ध्नेष्टका (१८.११७-१२० आदि)—भवन की मूर्धा पर लगी ईंट।

मूलतल (१९.४३)—भवन का भूतल।

मेखला (१८.१७८, २४.४३ आदि)—यज्ञवेदी का सोपान, पट्टी।

मेषयुद्ध (१७.२९, ३१)—एक प्रकार की सन्धि। मानसार (अ. १७) में इस सन्धि का वर्णन किया गया है। इसमें काष्ठखण्ड को तीन भाग में बाँटा जाता है। मध्य भाग में शिखा एवं कर्ण (चूल) होते हैं, जिसकी लम्बाई एवं चौड़ाई बराबर होती है। निचले भाग में उसी के अनुसार छिद्र निर्मित होता है, जिसमें चूल स्थापित होती है। इसे मेषयुद्ध सन्धि कहते हैं—

स्तम्भदारुत्रिभागैकं तन्मध्ये तु शिखा भवेत्।
तुङ्गतारसमं कुर्यादूर्ध्वे कर्णं शिखान्वितम्।।
अधः कर्णं मध्ये छिद्रं मेषयुद्धं हि योजयेत्।। (१७.४६-४७)

मोहामर (१४.२९)—जगती।

यमीश (९.२३)—सात।

यव (५.३, ११; १२.१४ आदि)—जौ, अंगुल माप का आठवाँ भाग। शब्द-कल्पद्रुम (४)—'**परिमाणविशेषः.......षट्सर्षपपरिमाणात्मकश्च**'।

यष्टि (५.८, ९.१९, २९.८९)—दण्डमाप।

युक्त (९.५२)—एकदूसरे को काटती सड़कें।

युगकोष्ठ (२९.५९)—चतुश्शाल।

यूका (५.३)—माप का एक भाग। शब्दकल्पद्रुम (४)—**परिमाणभेदः। यथा मार्कण्डेये** (४९.३७)—

परमाणुः परं सूक्ष्मं त्रसरेणुर्म्महीरजः।

बालाग्रञ्चैव निष्काञ्च यूकां चाथ यवोदरम्।।

योग (१२.८५, ११३, ११४ आदि)—द्वार का पाख।

योनि—आयादि वर्ग का एक भाग (९.१९-२२, २६.२०६-२०७), यज्ञकुण्ड (२५.४२, ४४,४७)।

रङ्ग—छतरी, चँदोबा (२.६, १८.२०६, २४.१०५ आदि), चतुश्शाल गृह का प्रधान कक्ष (२६.२९-३१,३५,५० आदि), एक प्रकार की गाड़ी (३१.५७), रंगशाला (२९.३२)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—A pavilion, a theatre, an amphitheatre, a stage, a arena, an assembly hall, a court, a courtyard.

रश्मि—लुपा (२५.२०३, २०८, २११, २१३ आदि), तीन (३२.२४)।

राजवीथि (९.३७)—नगर के मध्य का प्रधान मार्ग। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—The public road, the broad street, a road which runs round a village or town, also called *mārga vīthi* and *rathavīthi*.

रुचक (९.९३, २६.६५, १८६, २९.३९, ८५)—चतुश्शाल भवन का एक प्रकार। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू अ।र्किटेक्चर)—A type of building, a class of columns.

बृहत्संहिता (५३.३५) में रुचक का वर्णन इस प्रकार प्राप्त होता है—

प्राक्पश्चिमावलिन्दावन्तगतौ तदवधिस्थितौ शेषौ।

रुचके द्वारं न शुभदमुत्तरतोऽन्यानि शस्तानि।।

रूपोत्तर (१६.३)—उत्तर का एक प्रकार। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A type of entablature.

लक्षणोद्धरण (३३.१०१-१०२, १२७)—शिवलिङ्ग पर खींची गई विशिष्ट रेखा।

लम्बनीड (२१.५७), **लम्बपञ्जर** (२१.३, २२.२८, ३१, २४.६५)—लटकती हुई अलंकरण-खिड़कियाँ।

ललाट—पक्ष या तीन पक्ष वाला भाग (१८.६०, ६२, ७९, २६.६२), गाड़ी के सामने का भाग (३१.३२)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू

आर्किटेक्चर)—Same as *muṇḍa-harmya* and *cūlīharmya*, a tower, a top room.

लाङ्गल—द्विशाल भवन (९.९४, २६.१८, २०, २९.५८), मण्डप का एक भेद (२५.१७२)।

लाङ्गलाकार कुड्य, लाङ्गलाकार भित्ति (२५.६३, ६८, ८१ आदि)—कोने की भित्ति। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) ने लाङ्गलभित्ति का अर्थ इस प्रकार किया है—A kind of rouna corner wall, shaped like the plough.

लाङ्गलाकार शिखा (१७.३८)—हल के आकार की जोड़ने वाली शिखा या खूँटी।

लुपा (१८.१, १३, १४, २०, २८-३८ आदि)—लट्ठा, कड़ी। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A sloping and projecting member of the entablature, etc., representing a continued pent-roof; it is made below the cupola, and its ends are placed as it were suspended from architrave and reaching the stalk of the lotus below slope or breadth..... The *lupās* (inner roof or the ceiling) pescribed for temples are technically called *ambara, vyaya, jyotiṣa, gagana, vihāyas, ananta, antarikṣa* and *puṣkala* and those for residential buildings are called *mahī, jyā, kāśyapī, kṣoṇī, ūrvī, gotrā, vasundharā* and *vasudhā.*

लोष्ट (१५.११६, २७.९६)—छत के आच्छादन का एक भाग। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—A lump of earth, a clod, an architectural object resembling partly the finial.

The Vāstu Vidyā (ed. Śāstrī) has a chapter (XVI) named *Mṛt-loṣṭa-lakṣaṇa* (description of the lump of earth). In it *loṣṭa* is directed to be built on the *stūpī* (top, dome, VV. 27,37). At the top of a building the *kalaśa* (water jar, finial) is generally built. It is variously named in this last chapter cf the work. *Loṣṭānī* (V.V 28-30, 32), *nivra loṣṭānī* (V. 34), *krūra-loṣṭānī* (V.35), *koṇa-loṣṭānī, puṭa-loṣṭānī, ūrdhva-loṣṭānī* (V. 36) and *svarṇādi-loṣṭa* (V.39).

वंश—शहतीर, बीम (१८.४५, ६४, ६८), बँड़ेर की बीम (२६.८०, ८४, २७.८८), भूमि एवं फलक के मध्य प्रयुक्त फर्श की बीम (२९.८५), वास्तुपुरुष

की अस्थियाँ, वास्तु-मण्डल की रेखायें (७.५३, ९.८६, २७.१६), भवन के मध्य की धुरी (२६.२९, ३१, ४१ आदि)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A bamboo, a shaft, a flute, a reed-pipe, a cross beam, a oint, the back bone, a term for the rafters and laths fastened to the beams of a house (as generally made of split bamboos), or laths running across a roof.

वंशद्वार (२६.३२, १९९)—गृह की धुरी से सम्बद्ध द्वार।

वंशनासी (२४.८७)—सामने की सजावटी खिड़की।

वक्त्र—प्रस्तर-गल (१४.३१), प्रवेश भाग (२५.७०), सम्मुख का त्रिकोण (२६.८४, १०६, १२८, १९५)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—The face, a moulding.

वक्रस्तम्भ (२६.१४५)—प्रमालिका, धनुषाकार पट्टी।

वज्र—एक आरोपण (१२.५९, ३६.२००) एक विशेष संरचना (३४.१९, २७, २८)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A damantine, forked, zigzag, a diamond, the thunder bolt of Indra, a type of column, a paste, plaster or cement, a type of building.

वज्राभ (१७.३०, ४१)—सन्धि का एक प्रकार।

वदन (२६.१९०)—मुख, सम्मुख भाग।

वप्र—प्राकार (९.६०, १०.१३-१४ आदि), जगती (१४.१९, २१, २७ आदि), पट्टिका (१४.२५-२६)। शब्दकल्पद्रुम (४)—**दुर्गनगरे परिखाया उद्धत-मृत्तिका-स्तूपबद्धे यदुपरि प्राकारो निवेश्यते तत्।** पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लो-पीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A rampart, a wall, a moulding of the base (plinth), cavelto, an architectural member at the upper part of a building (parapet), a summit, a bank, a mound, a ditch, the foundation of a building, the gate of town.

वप्र का प्रमाण अर्थशास्त्र (२४ अ.) में वर्णित है।

वप्रबन्ध (१४.३६)—अधिष्ठान का एक प्रकार। पी. के. आचार्य (एन इन्साक्लो-पीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A type of base.

वप्रमार्ग (२९.८८)—प्राकार से सम्बद्ध मार्ग।

वराट (१८.१४)—लुपा का एक भेद।

वर्ग—ऊँचाई के बराबर (१४.१०, २१.२०, २३.२० आदि), विशेष संरचना (१४.४६)।

वर्चस्, वर्चोगृह (२६.२१४, २९.११७)—शौचालय।

वर्णपट्टिका (१६.३८, १८.६९)—विशेष संरचना।

वर्तनक (९.३)—एक चौकोर माप।

वर्धमान—चतुश्शाल भवन का एक भेद (९.९४, २६.६६, १०२,११२ आदि)। खिड़की का एक प्रकार (१६.६२), प्रस्तरपट्ट का एक प्रकार (१६.४), शिवलिङ्ग का एक प्रकार (३३.७२, ७३, ७६, ९६)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A class of buildings, a type of storeyed mansion, a kind of phallus, a joinery, an entablature.

शब्दकल्पद्रुम (४)—**धनिनां गृहविशेषः**। यथा—

स्वस्तिको वर्द्धमानञ्च नन्द्यावर्तादयोपि च।

तुलना—बृहत्संहिता (५३.३३)—

द्वारलिन्दोऽन्तगतः प्रदक्षिणोऽन्यः शुभस्ततश्चान्यः।
तस्मिंश्च वर्धमाने द्वारं तु न दक्षिणं कार्यम्।।

वर्षास्थल (२१.५७, २४.१३४, २६.१४५)—नाली।

वलग्न (१९.१६-१७)—स्तूपिका का एक भाग।

वलय (१६.११, १५, १८.६, ३६, ४० आदि)—आच्छादन की पट्टी। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—An ornament, a type of building, a moulding.

वल्लीमण्डल (२१.८८-८९)—वल्ली (लता) के आकार में निर्मित सीढ़ी। शिल्परत्न (पूर्व, २२ अ.) के अनुसार—

वृक्षारोहिलताकारं वल्लीमण्डलसंज्ञकम्। (१०९)

वसन्तक (१६.२२)—प्रस्तर-गल, प्रस्तर पट्टिका का एक भाग।

वास्त्वाधार (१४.४०, ४७)—अधिष्ठान।

वह्नि—अग्नि (१२.९९, २३.५०), वास्तुमण्डल के देवता अग्नि (८.६, २३.९८, १०२), प्रज्ज्वलित अग्नि (२६.६८), तीन की संख्या ६.२७, ३३.११६) मण्डपों के स्तम्भ के अनुकूल वृक्ष (१८.१६४, २५.१६४, १८२)।

वाः स्थल (२६.१२२,३०.९९,११३)—नाली।

वाः स्थान (२९.१९०)—जलाशय।

वाजन—संरचनाओं की पट्टिका (१३.७, १०, ११, १५, १८ आदि), प्रस्तर-पाद की ऊपरी पट्टी (१६.५-७, १३-१६, २०-२२ आदि), उत्तर, प्रस्तरपाद (१७.५७, २७.५५), द्वार-चौखट (३०.१२), आसन का एक अंग (३१.१०; ३२.१७, २१)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—

A square or rectangular moulding resembling a fillet, i.e. a small band which is placed between mouldings and as the upper-most member of a cornice.

ऊर्ध्ववाजनमेकांशमंशं तत् पट्टिका भवेत्। (वास्तुविद्या-९.२४)

वाटधर (९.१८)—वास्तुविन्यास का अविकसित क्षेत्र।

वाटभित्ति (२७.४, ९, १३)—प्राकार।

वाटिका (१०.३)—चौकोर क्षेत्र का एक माप।

वातायन (१६.६१, २२.५०, २६.४२, ३०.९४)—खिड़की। शब्दकल्पद्रुम (४)—**(वातस्य अयनं गमनागमनमार्गः।) गवाक्षः। इत्यमरः।** पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A window, a porch, a portico.

वातायन के त्रिपताक, उभय, स्वस्तिक, प्रियवक्त्र, सुमुख, सुवक्त्र, प्रियङ्ग, पद्मनाभ, दीपचित्र, वैचित्र्य, सिंह, हंस, मतिद, गरुड एवं जालक संज्ञक भेदों का वर्णन राजवल्लभमण्डन (अ. ८) में प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त वास्तुसार एवं विश्वकर्मवास्तुशास्त्र (अ. १९) में भी वातायन के भेदों का वर्णन प्राप्त होता है।

वामन (९.३९)—छोटा मार्ग।

वारण—भीतरी प्राङ्गण (२४.१०८, १११, २५.६५, ७३, १८७), प्रवेश भाग, मण्डप (२६.४६, १०६)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A covering, an enclosure, a door, a gate.

वारितल (३०.१०५)—नाली।

वारिनिःस्रव—जल-निकास-मार्ग।

वास—देवालय (२१.१०,१३), गर्भगृह (३१.५०), आवास भवन (२६.२३, ४०, ४५, ७३, ८२ आदि), शाला (२६.८६, १०१, १०४, ११० आदि), कक्ष (२६.१६, २९, ३१, ३४ आदि), नगर आदि की बस्ती (९.८०)।

वासगुहा (२०.३८)—अलंकरणार्थ खिड़कियाँ।

वासपंक्ति (२९.६५-६६)—नगर में गृहों की पंक्ति।

वासिकबद्धमुकुट (३६.२२०, २७०)—शिरोभाग की सज्जा।

वासतल (३०.७८)—नाली।

वास्तु—आवास (अ. २), स्थान (६.२, ७.५४), भवन (२.३, ५.१, ८, १३.११ आदि)। शब्दकल्पद्रुम (४)—**गृहकरणयोग्यभूमिः।** पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—Architecture in the broadest sense implying the earth *(dharā)*, building *(harmya)*, conveyance *(yāna)* and bedstead *(paryaṅka)* (M. III, 2-3). The

building or *harmya* includes *prāsāda, maṇḍapa, sabhā, śālā. prapā* and *(a)-raṅga*. The conveyance or *yāna* includes *ādika, syandana, śibikā* and *ratha*. The bedstead or *paryaṅka* includes *pañjara, mañcalī, mañca, kākāṣṭa, phalakāsana* and *bāla-paryaṅka* (ibid, 7-12). The term denotes also villages, towns, forts, commercial cities, etc. a dwelling house, a group of houses, a site. Sculpture is the handmaid of architecture and is secondarily implied by the term *vāstu*.

वास्तुमण्डप (२७.५८, ६५)—राज-भवन या गृह के मध्य में स्थित मण्डप।

विकल्प—भवन का एक भेद (२२.८८), मण्डप का प्रकार (२५.१७०), गृह का एक प्रकार (२६.४०, ६९), सभागार का एक भेद (२५.२२८), शिवलिङ्ग-निर्माण हेतु प्रस्तर काटने की एक विधि (३६.६६)। पी. के. आचार्य—(एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A class of buildings, a kind of door, pent roofs, a type of chamber, a kind or phallus.

विक्षेप (१५.८)—निर्गम।

विजय—चार तल के देवालय का एक प्रकार (२२.४५), मण्डप का एक प्रकार (२५.६, ३७), नगर का एक भेद (१०.७०, २९.१६२, १६६), पाँच तल के गोपुर का एक भेद (३०.११४)।

विट (१८.६४)—छत पर हुये काष्ठकर्म का एक अंग।

वितर्दि (२०.५, ११, ३५, २२.३८, ५२)—प्रति, संरचनाविशेष।

वितस्ति—ताल-मान, बित्ता, १२ अंगुल का माप (५.४, १०) बाहर निकला एक भाग (२७.५६, ६७, २९.१७८)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A measure, the span, the distance between the tips of the fully stretched thumb and the little finger.

वितान (१८.१६७, २८.५)—छत्र। पी.के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A cushion, a canopy.

विद्ध (१७.४४, ५१)—शिखा, लकड़ी की खूँटी, जिससे जोड़ने का कार्य किया जाता है।

विनिष्क्रान्त (२६.१५६)—बाहर आगे की ओर निकला भाग।

विपुलभोग (७.६, १८)—६७६ पद-निर्मित वास्तु-मण्डल।

विप्रगर्भ (७.५, १७)—५७६ पद-निर्मित वास्तुमण्डल।

विप्रतिकान्त—७२९ पद-वास्तुमण्डल (७.६, १८), द्वारशाला गोपुर का एक भेद (२४.३२, १००)।

विप्रभक्तिक (७.६, १९)—८४१ पद वास्तुमण्डल।

विमला (३०.१६)—उत्तर, पट्टिका।

विमलाकृति (२१.१३, १४)—तीन तल के देवालय का एक प्रकार।

विमान—भवन (१९.११), देवालय अर्थ में (२८.१७), मण्डप (२३.८७)।

विशाल—चौड़ाई, ५२९ पद-वास्तु-मण्डल (७.५, १६)।

विशालाक्ष (७.६, १९)—७८४ पद-वास्तुमण्डल।

विशालालय (२४.३२, ९८)—द्वारशाला गोपुर का एक भेद।

विश्वकोष्ठ (९.९९, १८.२१०)—अन्नागार।

विष्ठ (२६.१८६, २७.५९ आदि)—तिरछी कड़ी, बँड़ेर।

विष्टर—गद्दा (३२.१८), मंचिका, आधार (३४.५३)।

विष्णुकान्त—स्तम्भ का एक भेद (१५.१३), दो तल के मन्दिर का एक भेद (२०.२१)।

विहार (२६.८, २९.६४)—मठ।

वीची (३२.१५, ३४.५५)—आसन के पीछे का भाग।

वीथि (३०.३९, ३६.१२)—मार्ग, सड़क।

वीरकाण्ड (१५.३७, २१.३०, ३३, ७६, ८२)—स्तम्भ का एक भाग, जिसमें मनुष्य की आकृति निर्मित होती है।

वृति (१६.१)—प्रति।

वृत्तकूट (२१.४९)—तिमंजिले देवालय का एक प्रकार।

वृत्तशाला (२९.१९०)—राजभवन की एक शाला।

वृत्तस्फुटित (२१.८६, २४.१३१)—भित्ति का एक अलंकरण।

वृत्तहर्म्य (२०.२९)—द्वितल देवालय का एक प्रकार।

वेणुपर्व (१७.३, १२)—सन्धि का एक प्रकार।

वेत्र—द्वार में प्रयुक्त कील का ऊपरी भाग (३०.२२)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—The cane, a stick, an architectural ornament, a moulding.

वेद—वास्तु देवता (७.४७), मण्डप का प्रकार (२५.७,७५)।

वेदिका—प्रति (१६.५१-५४, १८.२-४, १९.१९, ४९ आदि), नीचा अधिष्ठान (२५.३०, २७.१०, ८५), वेदी (१८.१७६-१७९, २५.४२ आदि), ब्रह्मवेदिका (१९.१३, १५, ९६, १०८)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—Originally a hall for reading the vedas in, an altar, a stand, a basis, a pedestal, a bench, a kind of covered

verandah or balcony in a courtyard, a moulding, bands or string-courses carved with rail-pattern.

वेदिभद्र—नगर का एक प्रकार (१०.५९), जगती का एक प्रकार (१३.५, ८)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—One of the three classes of pedestals, the other two being *prati-bhadra* and *mañcabhadra.* It has four types differing from one another in the addition or omission of some mouldings and in height.

वेश—प्रवेश भद्र (२०.५, ८, ३०.९१), गोपुर (२९.२३)।

वेशन—प्रवेशमण्डप (२९.२४, १४६)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—An entrance, a gate, a gateway, a band, an architectural moulding.

वेसर—देवालय का प्रकार (१९.३५-३६, ३८ आदि), शिवलिङ्ग का भेद (३३.४५, ४७.११७, १२२)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A style or architecture, once prevailing in the ancient *Veśara* or Telugu country, 'India between the Vindhyas and the Kṛṣṇā corresponding to Tamil India'.

वैदेह (१८.१०)—छत का एक भेद।

व्यामिश्र (१८.१३-१४)—लुपा का एक प्रकार।

व्रतभोग (७.४, १३)—२८९ पद वास्तु-मण्डल।

शकट—शंकु (१.३), खूँटी (६.१४, २९.८)।

शंकु—खूँटा, खूँटी (१.३, ६.१४, १७.४४, १८.६७-६८)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A stake, a peg, a post, a pole, a measuring rod, the gnomon by means of which the cardinal points are ascertained for the orientation of buildings.

शङ्खमण्डल (२१.८७-८८)—विशिष्ट प्रकार की सोपान-संरचना। शिल्परत्न (पूर्व, २२ अ. श्लोक-१०६) में तीन प्रकार के शङ्खमण्डल सोपान का वर्णन किया गया है—

वेदास्त्रं दीर्घवेदास्त्रं वृत्तं चेति त्रियोनिकम्।
चतुर्विधं प्रकारैः स्यात् त्रिखण्डं शङ्खमण्डलम्।।

शयन—लेटने अथवा बैठने हेतु आसन (२.२, ८, २७.८८ आदि)। शब्दकल्पद्रुम (५)—**शय्या इत्यमरः**। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—Lying down, a bed, a couch, the recumbent

posture, the roof of a house, a building material, a class of buildings in which the width (at the bottom) is the unit of measurement, the temples in which the idol is in the recumbent posture.

शयनस्थान—देवालय में देव-प्रतिमाओं का शयनागार (२३.८५), गजशाला का एक अंग (२९.१७१)।

शयित (१७.३०)—लेटा हुआ काष्ठ आदि। शब्दकल्पद्रुम (५)—**कृतशयनः।**

शल्य (१७.४४, ४९)—खूँटी। शब्दकल्पद्रुम (५)—**शङ्कुः इत्यमरः।**

शवावास (९.९८)—शवों के अन्तिम संस्कार का स्थान।

शान्तिक (११.९, १९.२, २६.१० आदि)—भवन का एक प्रकार।

शाला—गृह (१.८, २.६, २३.५७ आदि), भवन का प्रधान कक्ष (१५.५७, १७.२५, २६.१६-१७, २०-२१ आदि), आयताकार कोष्ठ (२०.१२, १४, २२, २५, २२.११, २५ आदि), गृह का बाहरी लम्बा कक्ष (२६.११४, १२५, १४०, १६५), गाड़ी के छत के आकार की मध्य में थोड़ी उठी छत (१०.४२, २४.८३, ९०, ९७ आदि। शब्दकल्पद्रुम (५)—**गृहम्। इत्यमरः।** —— **गृहैकदेशः। इति मेदिनी।** पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—Primarily a thatch of straw *(śālā)* for shelter of men or their catte and stores, then the homestead inclusive of such stalls and sheds......... then houses generally as in *śālāpati* or householder.......finally a section or a single room of a house as in *patnīśālā, agni-śālā.* It came quite early to be used of flourishing and wealthy residences as in *prācīśa-śālā* .... and in the *Śilpa-śāstra* notably in the Mānsāra, it is used for a storeyed mansion, a hall, a room, an apartment, a house, a stable, a stall. The three terms, *śālā, maṇḍapa* and *gṛha* are sometimes indiscrimintaly used to imply houses in general. *Gośālā* (cow's-hed) ...*pāṭha-śālā* (college or school), *vāji-śālā, gaja-śālā* and *meṣa-śālā*—generally indicate a separate house for domestic animals, while *pāka-śālā* (kitchen) etc. may imply a hall or room in side a small building also. But there is a clear distinction between *maṇḍapa* and *śālā*. Trees are stated (Matsya-purāṇa, vii, 83-120) to have supplied to the primitive man the model of his future house. *Śālā* (house) is stated......to have been derived from *śākhā* (branch), because originally branches were arranged lengthwise,

breadthwise, crosswise, up and down and thatch them to make the first house.

शाला शब्द का अर्थ अन्य वास्तु-ग्रन्थों में इस प्रकार है—

१. **शालाशब्देन गृहाभ्यन्तरमुच्यते।** (वास्तुसौख्य)

२. **गृहमेकं तु यच्छन्नं सर्वं शालेति सा स्मृता।** (समराङ्गणसूत्रधार-१८.१९)

३. **सुराणां भूसुराणां च वर्णानां वासयोग्यकम्।**
सर्वासामपि शालानां लक्षणं वक्ष्यतेऽधुना।। (मानसार-३५.१)

शिखर (११.२०, १८.२, ७, ८, १८, ६५ आदि)—भवन का सबसे ऊपरी भाग। इसे क, फलिक, मस्तक, मूर्धा, शिरस्, शीर्ष आदि भी कहते हैं। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—The top, an apex, a spire, a cupola, the lower part of the finial, a spherical roof rising like an iverted cup (Latin cupa) over a circle, square or multangular building, a small tower or turret. Above the dome *(stūpī)* are built in order *śikhara, śikha śikhānta* and *śikhānta.* and *śikhāmaṇi.*

शिखा—सन्धिकार्य में प्रयुक्त चूल (१५.२७, १६.७, २६, १७.२३, ३१-३४, ३८-४० आदि), खूँटी (३१.३८, ४१), स्तूपिका (१८.१६३, २२.१०, २४.३७-३८ आदि), त्रिशूल (२९.२२४)। शब्दकल्पद्रुम (५)—**कीलः**। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—The lower part of the finial, pinnacle or small turret-like termination.

शिबिका (२.७, १६.६६, ३१.१, २, ७, १४, २८)—डोली, पालकी। शब्दकल्पद्रुम (५)—**यानविशेषः। झाँपान् इति ख्यातः। इति भरतः। डुली इति पाल्की इति च भाषा। तत्पर्यायः याप्ययानम्। इत्यमरः। शिवीरथः इति हारावली।** पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A synonym of *yāna* or conveyance, a litter, a palanquin.

शिरस्—शिखर, छत (१५.५८, १९.३२, ३४, २०.१५ आदि) शिवलिङ्ग का शिरोभाग (३३.९२-१००, १३६)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—The head, the finial, the top, the summit, the pinnacle.

शिरोमाला (३६.२३२)—खोपड़ियों की माला, करोटिमाला।

शिवभाग (३३.७६, ३४.३८)—शिवलिङ्ग के तीन भागों का ऊपरी भाग।

शिवाधिक (३३.७२, ७८)—शिवलिङ्ग का एक प्रकार।

सीता (३०.६६)—एक तल के गोपुर का प्रकार।

शीर्ष—छत (१९.३१-३२, २४.१२८, १३३ आदि)। दीवार की मुँडेर (२३.२३, ३२)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—The top end of a building, almost same as *śikhānta.*

शुकनासी (२१.८५)—भवन का अलंकरण। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—The parrot's nose, an object having an acquiline nose, the part of the finial looking like the parrot's nose. The lower half part of a tower.

शुकविमान (२५.२००, २२१)—सभाकक्ष का एक प्रकार।

शुण्डपाद (१५.२१)—स्तम्भ का एक भेद।

शूर्प (९.९४, २६.२०, २९.५८)—त्रिशाल भवन का एक प्रकार।

शूल—ऊँचा उठा भाग (७.४२,९,८६,२७.१७), त्रिशूल (१२.३३, ६७, ३६.३९, ६३ आदि), मन्त्रविशेष (३६.२३५)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—A pike, a dart, a lance, the trident of Śiva, the finial.

शौण्डिक (१८.१४)—लुपा का एक भेद।

शौरसेन (१८.१०)—छत का एक भेद।

श्रीकर—घण्टी के आकार का शीर्ष भाग (१५.३०), एक तल के देवालय का प्रकार (१९.३०), द्वारशोभा गोपुर का एक भेद (२४.३१, ८४, १३५, ३०.६३), पीठ का एक भेद (३४.१४, २४)।

श्रीकान्त (२४.३२, १०३)—द्वारप्रासाद गोपुर का एक भेद।

श्रीकाम्य (३४.१४, २९)—पीठिका का एक भेद।

श्रीकेश—द्वारशोभा व गोपुर का एक भेद।

श्रीखण्ड—विघ्नेश्वर (३६.१७७), स्तम्भ का एक प्रकार (१५.२५)।

श्रीच्छन्द (३०.११४)—पाँच तल के गोपुर का एक भेद।

श्रीनिकेतन (३०.९३)—तीन तल के गोपुर का एक प्रकार।

श्रीपट्ट (३४.२२)—पीठिका की संरचनाविशेष।

श्रीप्रतिष्ठ (९.३४, ५३)—ग्राम का एक प्रकार।

श्रीप्रतिष्ठित (२५.२००, २२४, २२७)—सभागार का एक भेद।

श्रीबन्ध (१४.३०)—अधिष्ठान का एक प्रकार।

श्रीभद्र—मण्डप का एक भेद (२५.११, १६३), एकतल गोपुर का एक भेद (३०.६२)।

श्रीभोग—एकतल देवालय का एक प्रकार (१९.३१); तीन तल देवालय का एक प्रकार (२१.६०)।

श्रीमुख (३०.२६)—कपाट का एक अलंकरण।

श्रीरूप (२५.९, १३४)—मण्डप का एक भेद।

श्रीवज्र (१५.२६)—स्तम्भ का एक भेद।

श्रीवत्स (९.५४)—ग्राम का एक भेद।

श्रीविशाल—एक तल देवालय का एक भेद (१९.३१), चार तल देवालय का एक भेद (२२.१४), द्वार-गोपुर का एक भेद (२४.३३, १२७, ३०.११४)।

श्रेणीबन्ध (१४.३३)—अधिष्ठान का प्रकार।

श्वभ्र (९.१०४, १२.३, १४.५, २६.१९७)—शिलान्यास गर्त।

षष्ठिक (१७.३०, ३८)—सन्धि का एक प्रकार।

षण्मुख—स्कन्द देवता (९.६७, १२.५३, १९.४४, २६.११९), मण्डप का एक प्रकार (२५.१७२)।

सकर्ण (१६.५७, ६०)—झरोखे का एक भेद।

सकल—देवता की प्रतिमा, जिसके सभी अंग स्पष्ट हों (६.२३, २३.३८, १०१, १२९ आदि), एक पद वास्तुमण्डल (७.१, ८, ९.५५, २९.१०८), एक संख्या (३१.६१)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—A site plan, an idol, a group of images of four deities including *Īśvara*.

सङ्कीर्ण (१५.८०, १८.१२०)—कई तत्त्वों से मिश्रित भवनादि।

सङ्कीर्णकल (१७.३०, ४१), **सङ्ग** (१६.४१)—सन्धि का एक प्रकार।

सञ्चित (२०.३१-३२)—भवन का एक प्रकार।

सन्धान (१७.२७, ३५)—सन्धि का एक प्रकार।

सन्धि—जोड़ने का कार्य (१.६), दो भवनों की सन्धि (२६.२१, १९०, १९३, २७.१२)। वास्तु-मण्डल की दो रेखायें जहाँ एक-दूसरे को काटती हों (७.४२; ९.३६, २७.१६)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर) के अनुसार—A joint, a connexion, a combination, a junction.

सन्धिकार्यमण्डप (२५.५)—मैत्री-कार्य हेतु मण्डप।

सन्धिपत्र (३०.२६)—द्वार की सन्धियों को ढँकने वाली पट्टी।

सभा—सभा के लिए निर्मित कक्ष (२.६, ३.११, ९.७३-७४ आदि), चतुष्कोण कूट (२२.४, १३, १७-१८), ऊर्ध्वकूट (२५.९०, ९३, १२२, १२५, १५३), ऊँची उठी छत (१०.४२, २४.९३, ११३ आदि), बाहर का चौकोर कक्ष (२.७४, ७८)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A type of building, am edifice, a public hall, an assembly room, a council chamber, a society room in a private dwelling house.

.......The special feature in vedic times were their pillars and fire-atlars. There must have been suitable structural arrangements for the transaction of judicial, commercial and political business, and for the reception of 'courtly', well-born wealthy persons and kings, and for the performance of gambiling, merriment, social intercourse, debates and contests (Vedic India, Vol. II, p. 246-427).

विश्वकर्मवास्तुशास्त्र (अ. १७) में पौरदेश्य सभालक्षण का वर्णन प्राप्त होता है।

समकर (१६.३२-३३)—प्रति का एक प्रकार।

समलिङ्ग (३३.९५)—सर्वतोभद्र शिवलिङ्ग।

सरप (३०.१७)—द्वार को बन्द करने का दण्ड।

सर्प (३२.२४)—आठ की संख्या।

सर्वतोभद्र—चतुश्शाल गृह का एक भेद (९.९२, २६.६६, ७३,८५ आदि), जोड़ने का एक प्रकार (१७.८), नगर का एक भेद (१०.७५), खिड़की का एक प्रकार (१६.६२), मण्डप का एक भेद (१५.११, १६९), सभागार का एक प्रकार (२५.१९९, २१०), प्रस्तर-पट्टिका का भेद (१६.४), शिवलिङ्ग का एक भेद (३३.७२)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A type of building, pavilion, hall, entablature, window, phallus, a joinery, a four-fold image one on each side of a four-faced coulmn, a village, a town, having a surrounding road and entrances of four sides, a house furnished with uninterrupted and surrounding terraces on every side.

सम्मोहिनी (३६.१६४)—कामदेव का एक तीर।

साधारण (२५.१०, १५२)—मण्डप का एक प्रकार।

सार्वकामिक—भवन का एक प्रकार (११.९), शिवलिङ्ग के निर्माण हेतु पत्थर काटने की एक विधि (३३.४३)।

साल—प्राकार (१०.१५, २०-२१, ३९, ४२, १५.६०, २३.२-५, ११-१४ आदि), वृक्षविशेष (१५.६४, ९६ आदि)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A wall, a rampart, an apartment, a house.

सुकुमार (३०.१०९)—६ तल के गोपुर का एक प्रकार।

सुखगृह (२७.१३१), **सुखालय** (९.३१, १२.८७, २७.१९, १३५)—ब्राह्मणों हेतु भवन का प्रधान कक्ष। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A pleasure-house, a type of storeyed buildings.

सुखावह (२२.५४)—चार तल के देवालय का एक भेद।

सुखासन (३६.४९, २०३, २४०)—मुद्राविशेष।

सुधा (१७.६२, १८.६६, १०७, २७.३३ आदि)—गारा, लेप। शब्दकल्पद्रुम (५)—**लेपनम्।**

सुन्दर—मण्डप का एक प्रकार (२५.१०, १४९), छः तल के गोपुर का एक भेद (३०.१०९)।

सुभद्र—कुर्सी, जगती (१३.५, १७, १९), चार तल के देवालय का एक प्रकार (२२.१३), सात तल के गोपुर का एक भेद (३०.१०९)।

सुभूषण (२५.८, ११, १८)—मण्डप का एक प्रकार। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A well decorated house for the use of a married couple, a type of pavilion where a ceremony is performed on a wifers perceiving the first signs of conception.

सुमङ्गल—दो तल के देवालय का एक भेद (२०.२३), तीन तल के देवालय का एक प्रकार (२१.५१), दो तल के गोपुर का एक प्रकार (३०.७४)।

सुरङ्ग (३०.५२)—पार्श्व द्वार, उप द्वार।

सूकरघ्राण (१७.३०, ४०)—सन्धि का एक प्रकार।

सेनामुख (१०.३१)—दुर्गभेद।

सेनालोकहर्म्य (२९.१०१)—सेना पर दृष्टि रखने हेतु निर्मित भवन।

सेनावेशनहर्म्य (२९.३२)—भवनादि का प्रवेश भाग, जहाँ सुरक्षाकर्मी नियुक्त रहते हैं।

सोमवृत्त (२५.१९९, २१८)—सभागार का एक भेद।

सौख्य—सुखालय (२७.४६), मण्डप का एक प्रकार (२५.७, १०, ५५, ९५)।

सौभद्र—सन्धि का एक प्रकार (१७.२९), मण्डप का एक प्रकार (२५.१०, १४७)।

सौमुख्य (१५.३०)—घण्टी के आकार का शिखर।

सौम्य—स्तम्भ का एक भेद (१५.१४), पीठ का एक प्रकार (३४.१४, २७)।

सौष्ठिक (२०.२, ९, १२, १४, १८, २१.११ आदि)—कूट।

स्कन्दकान्त (१९.३२)—एक तल के मन्दिर का एक भेद

स्कन्ध—स्तम्भ में घण्टा-शीर्ष के नीचे स्थापित एक भाग (१५.३२, ३८), शीर्ष का एक भाग, वलग्न (१९.१८)।

स्कन्धपट्टिका (३०.३१)—द्वार का दण्ड।

स्कन्धावार (१०.३६)—नगर का एक भेद। शब्दकल्पद्रुम (५)—**स्कन्धेन सैन्यसमूहेन व्यूहेन नृपतिना का आव्रियते इति। ~~~~~सैन्यस्थितिः। ~~~~~राजधानी। इति हेमचन्द्रः। ~~~~~कटकः।** पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A division of an army, a camp, a royal residence, a capital city, a fortified town.

स्तम्भ—खम्भा, पाद (१.६, ११.२०, १२.४२, ४५, ८५ आदि), स्तम्भ का सतह, जंघावर्ग (१९.२२, २१.८, ९७ आदि), द्वारस्तम्भ (१२.९३, १९.२२, २१.७७), खिड़की का स्तम्भ (१६.६०), आलान (२९.१७२-१७४)। शब्दकल्पद्रुम (५)—**स्थूणा। थाम इति खूँटी इति च भाषा।** पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—Fixedness, a support, a stem, a trunk, a column, banisters..... columns are called *jaṅghā, caraṇa, (s)talī, stambha, aṅghrika, sthāṇu, thūṇa, pāda, skambha, araṇi, bhāraka* and *dhāraṇa*..... The height or length of a column is measured from above the base to below the *uttara* or above the pedestal from *janmana* to the *uttara*.........The height of a column is, in other words, measured from the plinth (of the former) up to the lowest part of the entablature, that is, from the base to the capital inclusive—columns admit almost of all shapes. A quadrangular (four-sided) pillar is called *Brahma-kānta,* an octangular is called *Viṣṇu-kānta,* a sixteen sided or circullar one is known as *Rudra-kānta,* a pentagonal one is called *Śiva-kānta* and a hexagonal column is called *Skanda-kānta.* These columns are stated to be uniform from bottom to top, but the base of these may be quadrangular.

विश्वकर्मवास्तुशास्त्र (६४ अ. ३-७) में देवकान्त, ब्रह्मकान्त, इन्द्रकान्त, विष्णुकान्त, स्कन्दकान्त, सोमकान्त, सुप्रतीकान्त, सूर्यकान्त, ब्राह्मणकान्त, कैलासकान्त, मेरुकान्त तथा नन्दिकान्त संज्ञक स्तम्भों का वर्णन प्राप्त होता है।

स्तम्भकुम्भलता (२१.८३)—भित्ति का अलंकरण।

स्तम्भतोरण (२१.३२, ८२)—तोरण का एक प्रकार।

स्तूपिका, स्तूपी (११.२०, १५.५८, १८.१, १८, ८३ आदि)—शिखर। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A dome, a cupola, a spherical roof rising like an inverted cup over a circu-

lar, square or multangular building, a pinnacle, a steeple-tower.

स्तूपिका-निर्माण का विशद वर्णन वास्तुविद्या (अ. १६) एवं शिल्परत्न (पूर्व. ३६ अ.) में प्राप्त होता है।

स्तूपिकाकील (१८.६६, १२१, १२७ आदि)—शीर्ष का मध्य भाग। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—The spire, the nail above the dome.

स्तूपीकुम्भ (१८.१९४)—शिखर पर निर्मित कुम्भ की आकृति।

स्थल (२२.७४, २३.२८, २५.६९ आदि)—तल, मंजिल।

स्थाणु (१५.२)—स्तम्भ। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A synonym of *stambha* or column.

स्थानमण्डप (२९.१९०, १९८), **स्थानहर्म्य** (२९.३४)—दर्शकों एवं श्रोताओं हेतु निर्मित मण्डप।

स्थानीय—राजाओं हेतु निर्मित नगर (४.१९, ९.१२२ आदि), १२१ पद वास्तुमण्डल (७.३, ११, २९.१०८, १२२)।

स्थूण (१०.४१, १५.२, ३०.३८)—स्तम्भ। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—The civic and sacrificial posts used as memorial pillars, symbolising royal and divine power to which offenders and sacrificial victims were tied, 'maintained by the Father's upon which *Yama* makes seats for the departed'.

स्थूल (१७.६२)—खूँटी।

स्नेहभार, स्नेहवारि (३४.१७, २२, २४)—पीठिका का किनारा, घेरा।

स्रुक् (३६.५)—चम्मच।

स्वर (१२.८८)—सात की संख्या।

स्वस्तिक—एकशाल भवन का प्रकार (२६.१२, ४०, ५३), चतुश्शाल भवन का प्रकार (९.९३, २६.६७, १७७, १८१, १८५), राजभवन का प्रकार (९.७६), ग्राम का एक भेद (९.३४, ४५, १०.६०), नगर का एक भेद (१०.६०-६१), प्रस्तरपट्टिका का भेद (१६.४), खिड़की का एक प्रकार (१६.६२), सजावटी खिड़की (२१.४७, ५८, २२.१२, ३३), दो तल के देवालय का एक भेद (२०.९), तीन तल के देवालय का एक भेद (२१.१०) नगरादि के प्राकार का भेद (२९.९), शिवलिङ्ग का एक प्रकार (३३.७२-७३, ७९)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—An auspicious mark, the *Oṅkāra* symbol, the fire cross, the sun symbol, a symbol for Buddha and Siddha, the crossing of arms, the meeting of four roads, a type of vil-

lage, a joinery, a window, a type of pavilion, a kind of phallus, a class of halls, a type of building, a sitting posture.

स्वस्तिपुच्छ (२०.२०७, २०९, २१६, २२२)—खिड़की अथवा सजावटी खिड़की।

स्वस्तिबन्ध—एक तल देवालय का एक भेद (१९.३१), दो तल के देवालय का एक प्रकार (२०.१८), पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A class of single-storeyed building.

स्वस्तिबन्धन—सन्धि का एक प्रकार (१७.२३), सजावटी खिड़की (२१.३८)।

स्वस्तिभद्र (२५.१७१)—मण्डप का एक भेद।

हस्त—२४ अंगुल का माप (५.६, ८, १०), सूत्र (२१.९३), सीढ़ी का कटघरा (३१.१०, १२, १५, २०)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—A cubit, a measure generally equal to 24 *aṅgulas* or 18 inches.

हस्तिहस्त—सीढ़ी का कटघरा, हाथ का सहारा (१९.७, २१.९६), द्वार की कील (३०.२१)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—The trunk of an elephant, employed as an architectural member generally for the stair-cases.

हार—दो कोष्ठों के मध्य का मार्ग (२०.३, ९, १९, ३७ आदि), गलियारा (२२.६७, २४.१२५, १३२), पहिया का खाँचा (३१.३०, ५१), गले का हार (३६.३, १८, ३७, ४७ आदि)। पी. के. आचार्य (एन इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर)—An architecthral ornarment employed below the neck of the column, bead, astragal or baguette.

हीर, हीरक (१५.३३-३४)—शीर्ष का एक भाग।

हृत् (१४.२९; ३४.२३)—जगती।

होमस्तम्भ (१२.४२)—स्तम्भ का प्रकार।

ह्रस्वपाद, ह्रस्वाङ्घ्रि (३१.१६, २२, ५१)—छोटा स्तम्भ।

ज्योतिष एवं वास्तुशास्त्र की महत्त्वपूर्ण पुस्तकें

भाषा टीका सहित

- **ग्रहलाघव**। ब्रह्मानन्द त्रिपाठी
- **लघुजातक**। कमलकान्त पाण्डेय
- **फलित विकास**। रामचन्द्र पाठक
- **सूर्यसिद्धान्त**। रामचन्द्र पाण्डेय
- **जातकालङ्कार**। सत्येन्द्र मिश्र
- **जातकपारिजात**। हरिशंकर पाठक
- **मुहूर्त्तपारिजात**। सीताराम झा
- **भावप्रकाश**। सत्येन्द्र मिश्र
- **भुवनदीपक**। सत्येन्द्र मिश्र
- **षट्पञ्चाशिका**। गुरुप्रसाद गौड़
- **पञ्चस्वरा**। सत्येन्द्र मिश्र
- **लघुपाराशरी-मध्यापाराशरी**। सुरकान्त झा
- **बृहत्पाराशरहोराशास्त्र**। पद्मनाभ शर्मा
- **(केशवीय) जातकपद्धति**। सुरकान्त झा
- **भावकुतूहल**। हरिशंकर पाठक
- **सर्वार्थचिन्तामणि**। गुरुप्रसाद गौड़
- **नक्षत्रचिकित्सा-ज्योतिष**। अभयकात्यायन
- **समरसार**। अभय कात्यायन
- **प्रश्नमार्ग**। (1-2 भाग)। गुरुप्रसाद गौड़
- **दशाफलदर्पण**। हरिशंकर पाठक
- **सिद्धान्तशिरोमणि**। सत्यदेव शर्मा
- **मयमत**। (1-2 भाग)। शैलजा पाण्डेय
- **वास्तुमण्डन**। श्रीकृष्ण 'जुगनू'
- **आर्यभटीय**। सत्यदेव शर्मा
- **मुहूर्त्तकल्पद्रुम**। श्रीकृष्ण 'जुगनू'
- **सुगम फलित ज्योतिष**। विष्णु शर्मा
- **लीलावती**। सीताराम झा
- **लीलावती**। लखणलाल झा
- **मकरन्दप्रकाश**। लषणलाल झा
- **सर्वतोभद्रचक्र**। ब्रह्मानन्द त्रिपाठी
- **फलचिन्तामणि**। कुलानन्द झा
- **राजवल्लभमण्डन**। शैलजा पाण्डेय
- **फलितसंग्रह**। सत्येन्द्र मिश्र
- **मुहूर्तदीपक**। गुरुप्रसाद गौड़
- **प्रश्नवैष्णव**। गुरुप्रसाद गौड़
- **केरलप्रश्नशास्त्रसंग्रह**। गुरुप्रसाद गौड़
- **प्रश्नभूषण**। गुरुप्रसाद गौड़
- **गृहवास्तुप्रदीप**। शैलजा पाण्डेय
- **पंचसिद्धान्तिका**। सत्यदेव शर्मा
- **ताजिक पद्मकोष**। अभय कात्यायन
- **पूर्वकालामृत**। रामचन्द्र पाण्डेय
- **अद्भुतसागर**। शिवकान्त झा
- **प्रश्नचण्डेश्वर**। अभय कात्यायन
- **सामुद्रिकशास्त्र**। अभय कात्यायन
- **वास्तुशास्त्रसार**। प्रखर प्रज्ञानन्द
- **रमलनवरत्न**। अभय कात्यायन
- **बृहत्संहिता**। अच्युतानन्द झा
- **बृहद्वास्तुमाला**। रामनिहोर द्विवेदी
- **बृहत्जातक (होराशास्त्र)**। सत्येन्द्र मिश्र
- **दैवज्ञवल्लभा**। गुरुप्रसाद गौड़
- **अथर्ववेदीय ज्योतिष**। अभय कात्यायन
- **खेटकौतुक**। नारायणदास
- **जातकतत्त्व**। हरिशंकर पाठक
- **ताजिकनीलकण्ठी**। सीताराम झा
- **दीर्घवृतलक्षण**। सत्यदेव शर्मा
- **फलदीपिका**। हरिशंकर पाठक
- **भार्गव नाडिका**। अभय कात्यायन
- **मानसागरी**। मधुकान्त झा
- **मुहूर्तचिन्तामणि**। विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी
- **वेदाङ्गज्योतिष**। शिवराज कौण्डिन्यायन
- **शीघ्रबोध**। ब्रह्मानन्द त्रिपाठी
- **हस्तसञ्जीवन**। सुरकान्त झा
- **स्त्रीजातक एवं नारीजातक**। कात्यायन
- **त्रिफलारमल ज्योतिष**। अभय कात्यायन
- **रयणपरिक्खा (रत्न-ज्योतिष परीक्षा)**। अभय कात्यायन

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
वाराणसी-221001
chaukhambasurbharatiprakashan@gmail.com
www.chaukhamba.co.in
f : @chaukhambabooks : @chaukhamba

ISBN : 978-93-80326-60-3
9 789380 326603